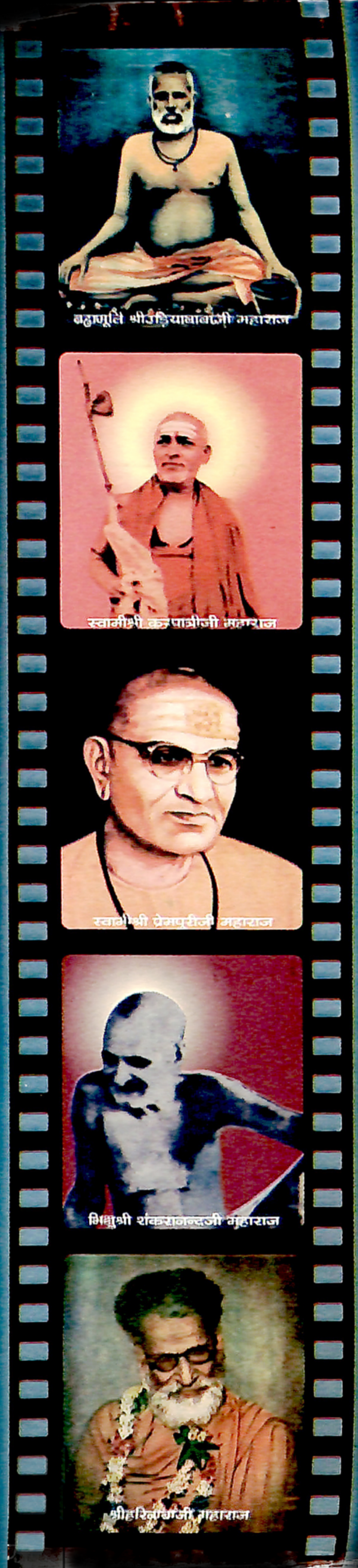

पावन प्रसंग

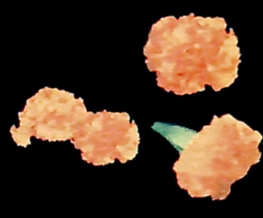

अखण्डानन्द सरस्वती

पावन प्रसंग

(परमपूज्य महाराजश्रीके जीवनके कुछ आध्यात्मिक
संस्मरण उन्हींके शब्दोंमें)

रचयिता :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 2200
संन्यास जयन्ती
फरवरी : 1998

द्वितीय संस्करण : 1100
रामनवमी : अप्रैल 2004

तृतीय संस्करण : 1100
श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
14 अगस्त 2009

चतुर्थ संस्करण : 1100
मई 2012

●

मूल्य : रु. 80/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

चतुर्थ संस्करण :

प्रकाशकीय

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके द्वारा परमपूज्य महाराजश्रीके प्रकाशित ग्रन्थोंकी संख्या 170से अधिक हो चली है। इन ग्रन्थोंमें 'पावन प्रसंग'का विशिष्ठ स्थान है। इस ग्रन्थमें पूज्य महाराजश्रीके लिखवाये हुए संस्मरणों का संग्रह, अध्यात्म जिज्ञासुओंके लिए अत्यधिक प्रेरणाप्रद एवं उपयोगी है।

'पावन प्रसंग'के इस चतुर्थ संस्करणके प्रकाशनमें बड़ोदराके सत्सङ्गी दम्पती श्रीमती रानी बजाज एवं श्री बलदेव बजाजसे, ट्रस्टको सम्पूर्ण आर्थिक योगदान प्राप्त हुआ है। एतदर्थ हम इनके विशेष आभारी हैं।

अक्षय तृतीया 2012 — प्रकाशक
वृन्दावन — -सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

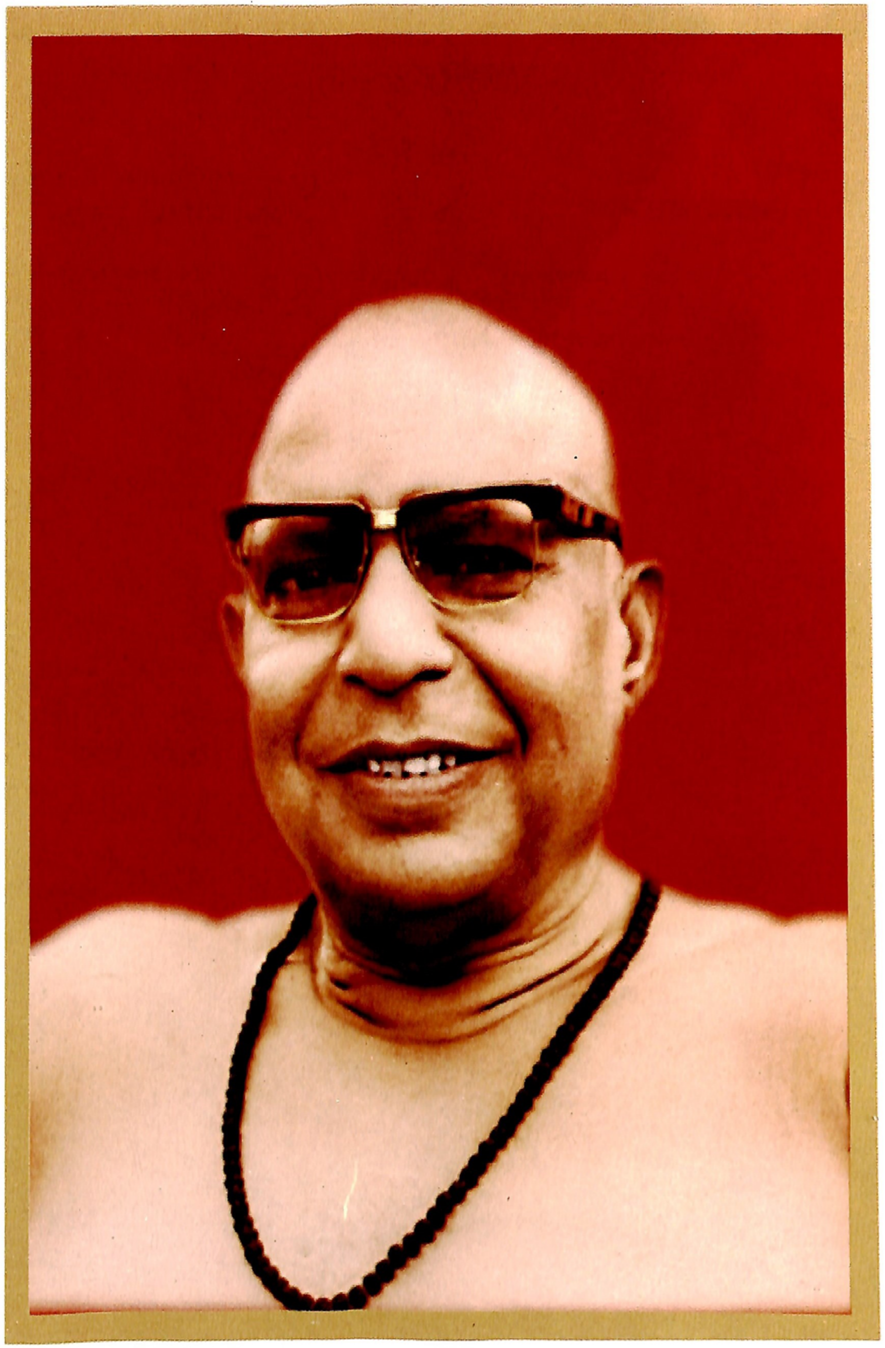

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

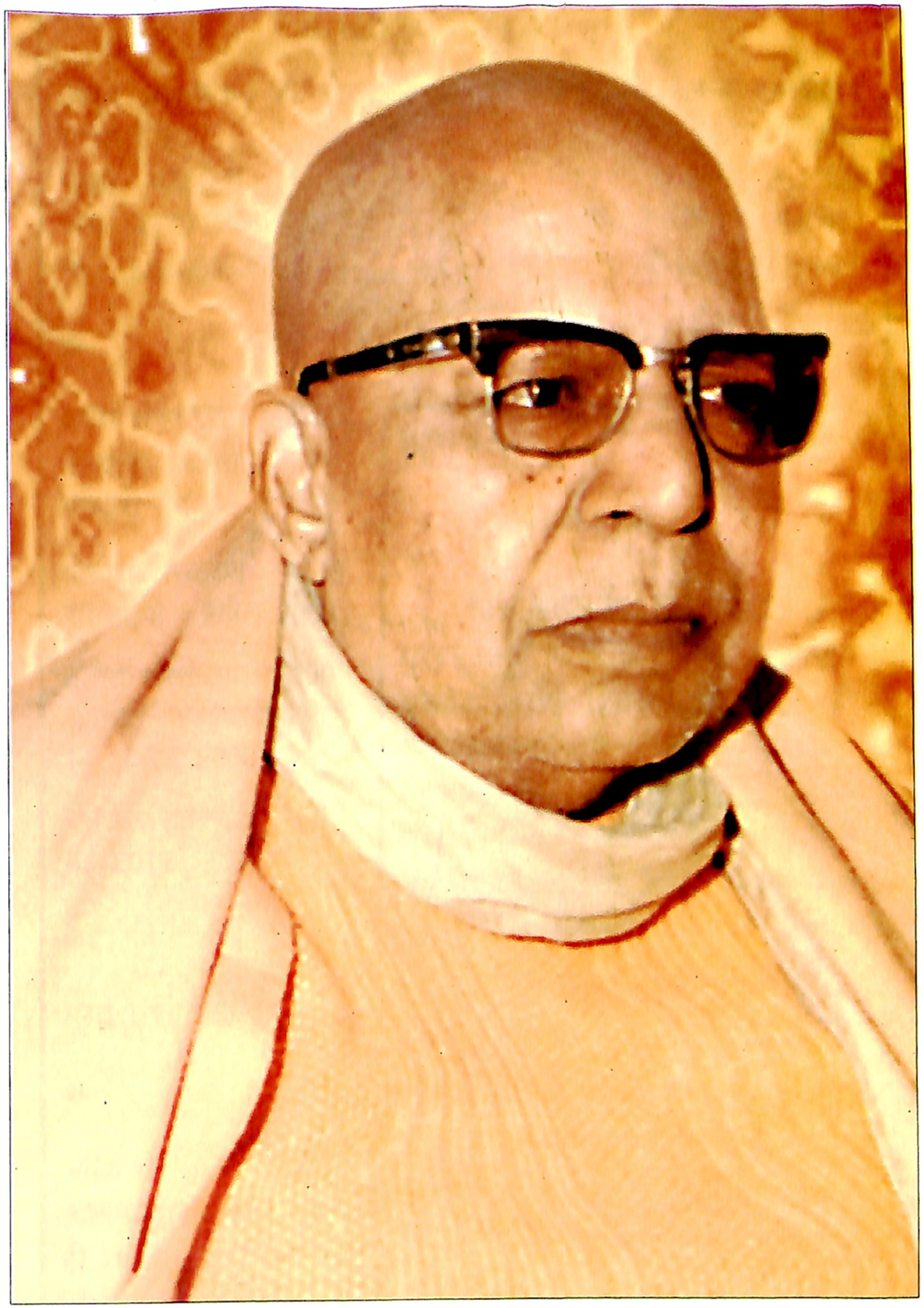

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

प्रथम संस्करण

दो शब्द

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थके रूपमें प० पू० महाराजश्रीकी एक अनुपम कृतिको भक्तों और जिज्ञासुओं तक पहुँचानेमें हमें अत्यन्त हर्षका अनुभव हो रहा है।3

इस ग्रन्थमें छपे लेख 'आनन्द बोध' मासिक पत्रिकामें क्रमसे प्रकाशित हुए थे। तदनन्तर इन लेखोंके एकत्रित प्रकाशनकी माँग निरन्तर बनी रही; क्योंकि ये लेख प० पू० महाराजश्रीने स्वयं आत्मकथ्यके रूपमें लिखवाये थे। हमें प्रसन्नता है कि अब यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

इस पावन प्रसंगमें अभी उन्हीं महापुरुषोंके सन्दर्भमें प्रकाश डाला गया है, जिन्हें आनन्द बोधके विभिन्न अंकोंसे संकलित किया जा सका है-इनके अतिरिक्त भी अनेक महापुरुषों-गृहस्थोंके संस्मरण अन्यत्रसे संकलित करने शेष हैं। पूज्य महाराजश्रीकी कृपासे एवं आपके सहयोगसे उन्हें भी निकट भविष्यमें प्रकाशित किया जायेगा।

निश्चय ही प०-पू० महाराजश्रीने अपने जीवनके इन पावन प्रसंगोंमें पदे-पदे भक्तों एवं जिज्ञासुओंके लिये प्रचुर मात्रामें बेजोड़ साधन-सूत्र दिये हैं। इनको यदि मनन करके हम जीवनमें धारण करेंगे तो हमारे चित्तके मल, विक्षेप एवं आवरण रूपी दोषोंका शीघ्रतातिशीघ्र प्रक्षालन हो सकेगा।

श्री 'विष्णु' द्वारा लिखित भूमिका भी ग्रन्थमें पठनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशन हेतु श्री 'विष्णु'का ट्रस्टको आर्थिक सहयोग स्तुत्य है।

श्री बाबाजी एवं उनके आत्मज चि. सोमदत्त एवं चि. शिवदत्त द्विवेदीने ग्रन्थके सम्पूर्ण मुद्रणका कार्य अति दक्षतापूर्वक सम्पन्न किया है इसके लिये हम इनको हृदयसे साधुवाद देते हैं।

प० पू० महाराजश्री अपने 'पावन प्रसंग'के द्वारा पाठकोंके जीवनमें पवित्रताका संचार करें ऐसी हमारी कामना है।

संन्यास जयन्ती
७ फरवरी १९९८

स्वामी ओंकारानन्द सरस्वती
(सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट)

आमुख

बात सन् १९८२ की है। प० पू० महाराजश्री श्रीआनन्द-वृन्दावन आश्रममें विराजमान थे। एक दिन बात चली महाराजश्रीके विस्तृत जीवन-चरित्रके प्रकाशमें आनेकी। मैंने कहा— किसी कुशल साहित्यकारसे लिखवाना चाहिए और उसमें भी आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर होना चाहिए। महाराजश्री गम्भीर हो गये और बोले— 'हमारे आध्यात्मिक जीवनको कोई साहित्यकार शब्द नहीं दे सकता। मैं क्या हूँ— यह मैं ही जानता हूँ लेखक चरित्र-लेखनमें अपनी वासना जोड़ देता है! अच्छा, गाँधीजी-का एक जीवन-चरित्र विनोबा भावे लिखें और एक चर्चिल लिखें तो क्या दोनोंका गाँधीजीके बारेमें आकलन एक ही होगा? स्पष्ट है कि नहीं होगा।' मैं मौन हो गया। तब महाराजश्री फिर बोले— 'अरे तुम्हीं लिखो ना! कुछ तो अध्यात्मके निकट होगा!!' मैंने कहा— 'मेरेमें न भाषाका बल है न बुद्धिकी वह सूक्ष्मता जो आपके आध्यात्मिक-जीवनके रहस्योंका उद्घाटन कर सके। आपसे ही हमारी प्रार्थना है कि आप ही कुछ लिखवा दें।' इस पर महाराजश्रीने कहा— 'अरे, हमारे आध्यात्मिक जीवनको जो अपने हृदयमें लिख लेगा उसका कल्याण हो जायेगा, पुस्तकोंसे कल्याण नहीं होगा। रही स्वयं अपनी आत्म-कथा लिखनेकी बात, सो इस काममें भूतका चिन्तन करना पड़ेगा जो इस समय शक्य नहीं दिखता।'

बात कहनेको तो वहीं समाप्त हो गयी; असलमें वह समाप्त हुई नहीं! भक्तोंके ऊपर करुणा करनेके लिए महाराजश्रीने अपने भूतमें दृष्टि डाली और उसमें-से कुछ सत्पुरुषोंके चरित्रोंको ढूँढ निकाला जिनका सम्बन्ध महाराजश्रीके आध्यात्मिक जीवनसे रहा था। उनमें-से कुछको स्वयं महाराजश्रीने आध्यात्मिक जीवनकी दिशा प्रदान की और कुछ-से उनका स्वयंका जीवन प्रभावित हुआ। उन सत्पुरुषोंमें ब्रह्मनिष्ठ महात्मा भी हैं, विरक्त साधक भी हैं, गृहस्थ महात्मा भी हैं और यहाँ तक कि स्त्री-महात्मा भी हैं। उनके साथ महाराजश्रीका जो सत्संग हुआ, जो साहचर्य हुआ, उनको तो महाराजश्रीने शब्दाभिव्यक्ति दी ही, साथ ही उनमें जो सद्गुण महाराजश्रीने देखे और परखे और जिनको वे अध्यात्मके साधकोंमें प्रतिष्ठित देखना चाहते थे उनको व्यावहारिक और रोचक उपन्यास-शैलीमें लेखनी बद्ध किया तथा उनको क्रमशः 'आनन्द-बोध' पत्रिकामें जनवरी १९८४ से छपवाना प्रारम्भ कर दिया। साधकोंने और प्रेमियोंने जब वे लेख पत्रिकामें पढ़े तो बहुत आनन्दित हुए। यह क्रम महाराजश्रीके लीला-संवरण तक (१९८७ नवम्बर मास तक) तो चला ही, उसके बाद भी कुछ माह तक चला।

प० पू० महाराजश्रीने तो अपने आध्यात्मिक जीवनकी झाँकी देकर अपना कथन पूरा कर ही दिया; परन्तु ईश्वरकी माया देखें कि महाराजश्रीके लीला-

संवरणके पश्चात् एक बार पुनः उनके वृहद् जीवन-चरित्र लिखे जानेकी बात भक्तोंके मनमें उठी और उसके लेखनका दायित्व मुझे सौंप दिया गया। जीवन-वृत्तकी सामग्री जुटानेका प्रयत्न भी हुआ; परन्तु उपयुक्त सामग्री ही उपलब्ध न हो सकी, फिर वृत्त तो नहीं लिखा जाना था, सो नहीं लिखा गया। संभवतः हम लोग पूज्यश्रीके कथनको भूल गये थे और अति-उत्साहमें यह कार्य कर रहे थे। अन्तमें यही निर्णय हुआ कि 'महाराजश्री-एक परिचय' (लेखक ब्र० प्रेमानन्द 'दादा') जो महाराजश्रीके जीवनकी कुछ भौतिक स्थितियों-परिस्थितियोंका दिग्दर्शन कराता है और जिसको स्वयं महाराजश्रीकी ही देख-रेखमें लिखा गया था, उसको नवम्बर ८७ तकके घटना-चक्रकी दृष्टिसे पूर्ण कर दिया जाय, और महाराजश्री द्वारा लिखित इन आध्यात्मिक अभिलेखोंको पुस्तकाकार रूपमें अलगसे प्रकाशित कर दिया जाय जो महाराजश्री के अगाध अध्यात्म चिन्तनकी एक झाँकी उन्हींके शब्दोंमें प्रस्तुत कर सकेंगे। इस संकल्पके पूरा होनेमें भी लगभग आठ वर्ष लग गये! अब महाराजश्रीकी कृपासे वह संकल्प पूरा हुआ है; उसकी मूर्तरूप है प्रस्तुत ग्रन्थ— 'पावन प्रसंग'।

'पावन प्रसंग' में महात्माओं एवं विद्वानोंके अध्यात्म चिन्तनका, उनके सद्गुणोंका और उनके आध्यात्मिक जीवनका संक्षिप्त परिचय है और यह भी कि प० पू० महाराजश्रीके जीवनसे वे कैसे जुड़े और उनका और महाराजश्रीका परस्पर कैसे आध्यात्मिक आदान-प्रदान हुआ। विषय-सूचीसे इन महानुभावोंका नाम पाठकोंको पता लग जायेगा। इनमें महाराजश्रीकी माताजी भी हैं जिनको संन्यस्त होने पर महाराजश्रीने 'ब्रह्ममयी माँ' नाम दिया था; श्रीझगरूसिंरहजी कानूनगो हैं जो गृहस्थ होने पर भी महाराजश्रीके अत्यन्त आदरास्पद रहे; स्वामी श्रीयोगानन्दपुरीजी महाराज हैं, जिनसे महाराजश्रीने श्रीकृष्णमंत्रकी दीक्षा ली थी; श्रीनेपाली बाबा, मधईपुरके बाबा, मोकलपुरके बावा हैं जो सिद्ध पुरुष और बचपनसे ही महाराजश्रीके भावी आध्यात्मिक जीवनका निर्माण करते रहे; उनके बाल-सखा श्रीगणेशानन्दजी अवधूत हैं तथा और भी हैं जो महाराजश्रीके गृही जीवनमें सम्पर्कमें आये। श्रीचक्रजी का यद्यपि पृथक् शीर्षकसे वर्णन नहीं हैं; परन्तु उनका वर्णन 'अवधकी गलियों' में तथा अन्यत्र यात्रा-प्रसङ्गोंमें है। कल्याण-परिवारमें सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी दृढ़ धर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा तथा भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजीके भक्त-व्यक्तित्व एवं सद्गुणोंका विस्तारसे वर्णन है। श्रीभाईजीके उदारभक्त स्वभावका स्पष्ट प्रभाव हमारे महाराजश्रीके व्यक्तित्वमें दृष्टिगोचर होता था। मुम्बईके स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज हैं जिन्होंने आग्रह और प्रेमसे महाराजश्रीको मुम्बईमें रखा; और वृन्दावनके श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हैं जिनको महाराजश्रीने 'ब्रह्ममूर्ति' नामसे विभूषित किया है और जो महाराजश्रीके सद्गुरु तो थे ही उनके सर्वस्व थे— व्यवहार और परमार्थ दोनोंमें। श्रीहरिबाबाजी महाराज हैं जो श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दूसरे विग्रह

माने जाते थे। हरिद्वार (कनखल) के भिक्षु शंकरानन्दजीके पुण्य-स्मरण हैं जिनकी कृपासे महाराजश्रीके जीवनसे जीव-भाव सर्वथा और सदाके लिए विगलित हो गया! महाराजश्रीके अग्रज गुरुभाई धर्म सम्राट् स्वामी करपात्रीजी महाराजको महाराजश्री अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उनको अपना 'बुजुर्ग' मानते थे। स्वामी कृष्णानन्दजी नामके कई महात्माओंके संस्मरण हैं। मानव सेवा संघके संस्थापक स्वामी शरणानन्दजी महाराजका भी स्मरण बड़े प्रेमसे किया गया है।

महात्माओंके अतिरिक्त शास्त्रके विद्वानोंके भी पुण्य स्मरण हैं जिनकी विद्वत्तासे महाराजश्रीको भी विद्वत्ताकी प्रेरणा प्राप्त हुई और जो स्वयं महाराजश्रीकी आध्यात्मिक एवं शास्त्रीय निधिसे अभिभूत हुए। सामान्य गृहस्थोंमें सेठ लक्ष्मीपति सिंघानियाके भी सदाचारी संस्मरण हैं।

इन सब संस्मरणोंको पढ़ते-पढ़ते पाठकगण महाराजश्रीके सम्बन्धमें एक बात दृढ़तासे नोट करेंगे कि महाराजश्रीने सभी चरित्रोंका जो वर्णन किया है वह किसी भी राग-द्वेषसे प्रभावित नहीं है तथा सर्वत्र वे अपने असङ्ग और सम ब्रह्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित प्रतीत होते हैं। उन्होंने जो कहा था कि लेखकको अपने पात्रोंमें अपने राग-द्वेष, अपनी वासना नहीं जोड़नी चाहिए उसका स्पष्ट प्रमाण इन लेखोंसे मिल जाता है। सत्पुरुषोंके जिन सद्गुणोंकी चर्चा महाराजश्रीने इन लेखोंमें की है वे गुण उनमें तो थे ही; परन्तु हमारे महाराजश्रीकी यह विशेषता थी कि जहाँ कोई गुण किसीको नजर नहीं आता हो वहाँ भी वे कोई-न-कोई सद्गुण ढूँढ़ लेते थे। यह सर्वत्र भगवद्भाव अथवा सर्वात्म-बोधका ही प्रतिफल है जो महाराजश्रीमें प्रतिष्ठित था।

अन्तमें पाठकोंसे एक विनती है। इन चरित्रोंके पात्र सब भगवान्के भक्त हैं अतएव उनके हृदय शुद्ध-पवित्र हैं। इन चरित्रोंमें कोई ध्याननिष्ठ हैं तो कोई ज्ञाननिष्ठ, कोई भक्तिनिष्ठ हैं तो कोई धर्मनिष्ठ। क्या कोई ऐसा पात्र है जो आपके आदर्शसे मिलता-जुलता हो? अवश्य होगा, आप उसको आत्मसात् करनेका प्रयत्न कीजिये। अब सोचिये कि प० पूज्य महाराजश्री क्या निष्ठ हैं? क्या थोड़ा-थोड़ा सब? नहीं, निष्ठावान् बुद्धिवान् होता है और बुद्धिवान् जीव होता है ब्रह्म नहीं। अपने अनुभवमें महाराजश्री ब्रह्मनिष्ठ ही नहीं ब्रह्म हैं, अतः सारी निष्ठाएँ और निष्ठावान् वही हैं और इनसे परे भी वही हैं। यही कारण है कि वे सबका समान प्रेमसे स्मरण करते हैं— उनके लिए कहीं कोई दूसरा नहीं है, सब अपने हैं, सब आप हैं। चाहें तो इन पावन प्रसङ्गोंसे उत्प्रेरित होकर आप भी जीवनमें धर्म-प्रिय, भावमें भक्तिप्रिय, विचारमें बोध-प्रिय, स्थितिमें समाधि-प्रिय और अहंमें निरहं ब्रह्म हो सकते हैं।

यह 'पावन-प्रसङ्ग' अपने पाठकोंको परम पावन करे, इस शुभकामनाके साथ—

वृन्दावन — *श्रीगुरुचरणकमलाश्रित*

भाद्र पूर्णिमा १६ सितम्बर १९९७ — ***विष्णु आनन्द***

पावन प्रसंग

अनुक्रमणिका	*आनन्द बोध वर्ष : अंक*	पृष्ठ
ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज	८६ : १, २, ३	१
स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज	८५ : ४, ५	२९
स्वामीश्री कृष्णानन्दजी महाराज	८५ : ३	५७
दण्डी स्वामीश्री कृष्णानन्दजी सरस्वती	८५ : ९	६९
ज्ञाननिष्ठ श्रीगणेशानन्दजी 'अवधूत'	८४ : ३	७९
परमहंस श्रीजगन्नाथपुरी 'नेपाली बाबा'	८४ : २	८८
स्वामीश्री प्रेमपुरीजी महाराज	८४ : ५	९४
भक्त अज्ञातनामा	८४ : १२	१०३
मधईपुरके बाबा	८५ : २	११०
मोकलपुरके बाबा	८५ : १२	११७
समर्थ स्वामीश्री योगानन्दपुरी	८४ : ८	१२५
स्वामीश्री शरणानन्दजी महाराज	८५ : १०	१३४
भिक्षुश्री शंकरानन्दजी महाराज	८४ : ९	१४५
श्रीहरिबाबाजी महाराज	८६ : ८, ११	१६६
अवधकी गलियोंमें	८४ : १०	१७८
सन्त आत्माराम वैद्य	८४ : ६	१८९
शान्तिनिष्ठ श्रीओंकारदत्त शास्त्री	८४ : ७	१९९
भक्तिनिष्ठ चन्द्रमा पण्डित	८४ : ४	२१०
जयदयाल गोयन्दका मेरी दृष्टिमें	८६ : ५, ७	२१७
ध्याननिष्ठ झगरूसिंह कानूनगो	८४ : १	२३५
ब्रह्ममयी माँ	८५ : १	२४८
लक्ष्मीपति सिंहानिया-कुछ संस्मरण	८५ : ११	२५९
दादा लोकूमल	८५ : ५	२६३
भाईश्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार	८६ : १२, ८७ : १,२,५	२६४
नर्मदाके तटपर	८४ : ११	२८९
रग-रगमें राम-नाम		२८९
चोर-संत		२९०
नर्मदाकी प्रियता, धूनीवाले दादा		२९१
विरोधका समाधान		२९२
तुम ही प्रेमास्पद		२९३

श्रीछोटे दादा, अद्भुत २९३
सिद्धयोगी आत्मानन्द, इस पार भी, उस पार भी २९४
श्रीनारायण स्वामी २९५
दत्तात्रेय स्वामी, भगवान् दत्तात्रेय २९६
प्रेरक सेठ रमणलाल २९६
मार्गके साधक २९७
श्रीहंसदेवजी २९८
शंकराचार्यकी स्मृति ३००
एक अद्भुत फकीर ३०१
श्रीरामकिंकरजी, श्रीस्वरूपानन्दजी ३०२
सेठ गोविन्ददास एवं अन्य ३०३
योगीसे भेंट ३०४
वे विद्वान् ८५ : ६, ७, ८ ३०५
मेरे पितामह पं० श्रीचन्द्रशेखर द्विवेदी ३०५
पं० श्रीप्रह्लाद मिश्र ३०६
पं० श्रीरामभवनोपाध्याय ३०८
पं० श्रीबलदेवजी पाठक ३१४
मालवीयजी : सनातन धर्म-सभा ३१५
श्रीविष्णु दिगम्बरकी गीता-सभा-ज्ञान-यज्ञ, अवधूतका उद्बोधन ३१५
मेरे लिए नया अनुभव, ब्राह्मण सम्मेलन, काशीकी विद्वद्गोष्ठी ३१६
सिंहासन कितना ऊँचा कितना नीचा ३१७
गुरुजीका पाण्डित्य, प्रतिवादी भयंकरका भाषण ३१७
पं० श्री रामपरीक्षण शास्त्री ३२०
स्वामीश्री मनीषानन्दजी तीर्थ ३२१
पं० श्रीरघुनाथ शर्मा ३२२
पं० श्रीकाशीनाथजी ३२३
पं० श्रीभूपनारायण मिश्र ३२४
स्वामीश्री ज्योतिर्मयानन्दजी ३२७
श्रीदयालुपुरीजी एवं श्रीशंकर चैतन्य भारती ३२७
स्वामीश्री भागवतानन्दजी ३२८
श्रीमंगल गिरिजी, श्री प्रभास भिक्षुजी ३३१
महामण्डलेश्वर श्रीस्वरूपानन्दजी ३३२

❊

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज

पावन प्रसंग

ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज

अखण्डानन्दसम्बोधपूर्तये ब्रह्ममूर्तये।
सुधास्मितसमाश्लिष्टनेत्रान्तरश्मये नमः॥

तीर्थराज प्रयागके पुण्यक्षेत्र प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में ब्रह्मचारी श्री प्रभुदत्तजी महाराजके द्वारा आयोजित 'अखण्ड हरिनाम-संकीर्तनयज्ञ' के अवसरपर मैं श्रीमद्भागवतपर प्रवचन कर रहा था। विशालमण्डप, भव्य सिंहासन, अगणित श्रोता, विशिष्ट महात्माओंकी उपस्थिति, गोपीगीतका प्रसंग। 'श्रीकृष्ण-कथामृत दिव्य स्वर्गामृतकी अपेक्षा उत्कृष्ट है।' यही मैं सुना रहा था। सहसा कथामें बिना कोई विघ्न डाले एक महापुरुष आकर सम्मुख बालुकापर विराजमान हो गये। सिद्धासन लग गया। सिर सीधा। दिव्य भव्य मूर्ति। मुखपर मुस्कान, नेत्रोंमें प्रेम, मुखारविन्द ज्योतिर्मय। प्रसन्न-गम्भीर मुद्रा, प्रभावशाली व्यक्तित्व। एकाएक लोग परस्पर कुछ कानों-कान बताने लगे। यही लोकविख्यात महात्मा श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हैं। मैंने प्रवचन करते ही करते हाथ जोड़ा, सिर झुकाया और 'तप्तजीवनम्' की व्याख्या शुरू की। 'संसारताप-दग्धके लिए यह कथामृत जीवन है। पापियोंका पापक्षालन है। दुःखियोंका दुःखनिवारण है। विरहियोंका जीवातु है। प्यारे श्यामसुन्दरसे मिलन चाहनेवालोंके लिए दिव्य रसायन है।' प्रवचनकी समाप्तिपर मैंने चरणोंमें सिर लगाकर प्रणाम किया। उन्होंने अपनी प्रसन्नतासे अभिनन्दन किया। मैं उनके पीछे-पीछे साथ ही साथ उस फूसकी बनी झोपड़ीमें गया, जिसमें वे ठहरे थे। सत्संगका रंग जमा। वेदान्त सम्बन्धी प्रश्नोत्तर होने लगे। उस समय वहाँ विद्वान्, विरक्त, अनुभवी एवं जिज्ञासुओंकी भीड़ लगी थी।

श्रीमहाराजजीसे मैंने भी एक प्रश्न किया—'पुनर्जन्म किसका होता है?' मेरे मनमें कुछ ऐसा था कि यदि महाराजजी यह उत्तर देंगे कि सप्तदश तत्त्वात्मक लिंगशरीरका जन्म होता है अथवा पुनर्जन्म न माननेसे जीवपर अकृताभ्यागम और कृतविपाश दोषकी प्राप्ति होती है, साथ ही ईश्वरपर भी वैषम्यनैर्घृण्य दोषके

आरोपका अवसर प्राप्त होता है तो मैं निश्चितरूपसे कहूँगा कि आत्मा असंग द्रष्टा है, लिंग शरीरका जन्म-जन्मान्तर हो तो होता रहे, मुझ आत्माका उससे क्या सम्बन्ध है परन्तु मेरा मनोराज्य मन में ही रह गया? वे प्रसन्न-मुद्रामें बोले-'बेटा! तुम अपनी बुद्धिका प्रयोग पुनर्जन्मकी सिद्धिमें मत करो, उसके निषेधमें करो।' यह अतर्कित उत्तर सुनकर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। सचमुच यह उत्तर अश्रुतपूर्व था, करुणापूर्ण था, परमार्थका बोधक था। यहींसे 'मैं मुक्त हूँ' यह अभिमान छोड़कर सत्संग करनेकी दृढ़ प्रेरणा प्राप्त हुई।

श्रद्धाके बिना भक्तिमें दृढ़ता नहीं आती।

वैराग्यके बिना वेदान्त-ज्ञानमें प्रगति नहीं होती!

वैराग्यकी पूर्णता तब होती है जब ईश्वरके ऐश्वर्यसे भी दैराग्य हो जाता है।

सृष्टि-स्थिति-संहारको भी विक्षेपरूप समझकर उससे उदासीन और असङ्ग होनेपर ही परमार्थके अनुभवकी योग्यता आती है।

सम्पूर्ण विचारोंका ब्रह्मानुभूतिमें ही पर्यवसान है।

ईश्वरका स्वरूप निष्ठुर है और स्वभाव दयालु।

तत्त्वज्ञ पुरुषके जीवनमें ब्रह्माकार वृत्ति निरन्तर बनी रहती है। तत्त्वज्ञ पुरुषको यह अनुभव नहीं होता कि अविद्या निवृत्त हो गयी। ऐसा तो तब होता जब अविद्या नामकी वस्तु पहले कोई सत्य होती और बादमें निवृत्त होती। तत्त्वज्ञका अनुभव तो यह है कि अविद्या कभी थी ही नहीं—**नासीदस्ति भविष्यति।**

ज्ञान ज्ञान ही है। उसमें परोक्ष-अपरोक्षका भेद नहीं होता। दैहिक दृष्टिसे यह भेद कल्पित है।

जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि मुक्तिमें भेद-कल्पना अमङ्गल है। आत्माका स्वत:सिद्ध स्वरूप ही मुक्ति है।

अपने आत्माको परिच्छिन्न मानते-मानते भ्रान्ति दृढ़ हो गयी है और उसीमें स्वाद आने लगा है। अभ्यास-वैराग्यसे परिच्छिन्नताका स्वाद मिटता है और समझसे भ्रान्ति।

निवृत्तिपरायण और अभ्यासी हुए बिना साधुजीवनमें मस्ती नहीं आती।

झूसीके सत्संगमें ऐसी - ऐसी अनेक अश्रुतपूर्व विचार - परम्परा श्रवण-गोचर हुई।

तीर्थराज प्रयागकी पावन-स्थली। गंगाका सुरम्य तट। त्रिवेणीका सान्निध्य। अर्द्धकुम्भीका पर्व। माघमेलामें उपस्थित सत्पुरुषों एवं यात्रियोंका समुदाय। सब कुछ दर्शनीय था। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सन्त-सत्पुरुषोंका सत्संग, भगवती

भागीरथीके किनारे-किनारे दूर-दूर तक विरक्त अवधूतोंकी झोपड़ियाँ पड़ी हुई थीं। परन्तु श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके सत्संगका रंग अद्भुत था। जिज्ञासु, ज्ञानी, विरक्त, विद्वान् आते रहते, बड़े-बड़े दाव-पेचके प्रश्न करते और वे हँसते-हँसते थोड़ेसे शब्दोंमें ही उत्तर दे देते थे। अत्यन्त चमत्कारपूर्ण वातावरण था। श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके सम्वत्सर-व्यापी अखण्ड नामसंकीर्तन महायज्ञका समापन महोत्सव था। ब्रह्मचारीजीने पहले ही दिन बाबासे निवेदन कर दिया कि—'महाराज! आपको अन्नपूर्णाकी सिद्धि है। अब आप ही उत्सव सम्भालिये। हमारे कार्यालयमें केवल ढाई सौ रुपये हैं।' बाबा हँस दिये और दिन-प्रतिदिन भण्डारे होने लगे। अन्नपूर्णाने अपना खजाना खोल दिया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ढाई सौ रुपये तो एक दिनके जलपानके लिए भी पर्याप्त नहीं थे।

अनुग्रह-विग्रह साक्षात् सदाशिवकी सेवा करके जगदम्बा अन्नपूर्णाने भी अपनेको कृतार्थ बनाया। इन दिनों बड़े-बड़े सन्त, जिज्ञासु, देश-विदेशके श्रद्धालु एवं कौतूहल-प्रिय व्यक्तियोंका आगमन होता रहता था। पॉल ब्रन्टनने कहा-'आप कोई सिद्धि दिखाइये!' बाबा बोले—'पानीकी एक बूँद शरीर बन गयी। चलती है, फिरती है, सोचती-विचारती है, इतनी बड़ी दिख रही है—इससे श्रेष्ठ सिद्धि या चमत्कार क्या होगा, जिसको देखकर तुम विश्वास करोगे?'

श्रीमहाराजजी 'तुम ब्रह्म हों —ऐसा प्राय: नहीं बोला करते थे। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा भी नहीं बोलते थे। उनसे जब कोई पूछता कि आप कौन हैं? तो कहते —'जो तुम देख रहे हो।' कभी कहते —'मैं चराचरका सेवक हूँ।' कभी कहते—'मेरे एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश चिनगारियोंकी तरह चमकते और बुझते रहते हैं।' उनसे कोई कह देता कि आप हमारे पिता हैं, स्वामी हैं, मित्र हैं तो 'हाँ' कर देते थे। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि उनकी दृष्टिमें कोई विशेष नहीं है। उनपर जो कोई, जिस किसी विशेषका आरोप कर ले, सब ठीक है। न विधि, न निषेध। उनकी उन्मुक्त मुस्कान ही मानो समग्र प्रपञ्च हो।

उनके शरीरको कोई चुपके-चुपके उठा ले जाता, कोई उनके पेटपर सिर रखकर सो जाता। कोई पूजा करता , कोई झूला झुलाता। कोई कृष्ण कहता, कोई राम, कोई शिव कहता। उन्होंने स्वयं किसीको न कभी प्रेरणा दी कि ऐसा कहो या मानो और न तो किसीको निषेध ही किया। लोगोंने गालियाँ भी दीं और स्तुतियाँ भी कीं। पूजा-प्रतिष्ठा भी हुई और अपमान-तिरस्कार भी हुए। फूल-माला चढ़ी और गड़ाँसा भी। परन्तु यह सब औरोंकी दृष्टिमें था; अज्ञानियोंकी दृष्टि में था उनकी दृष्टिमें कुछ नहीं, ज्यों-के-त्यों अविचल, निर्विकार। यदि कभी किसीने

अधिष्ठानकी, स्वयंप्रकाशकी अथवा ब्रह्मकी मूर्ति देखी हो तो कहा जा सकता है कि वह हमारे श्रीमहाराजजीका ठीक-ठीक दर्शनकर चुका है। सभी अध्यारोप और अपवाद उनमें हुए और गये। सभीका पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म है। अनेक महात्मा इसका उद्घोष भी करते रहते हैं; परन्तु वे ब्रह्मके व्यावहारिक स्वरूप थे। जिज्ञासुओंके लिए वे ब्रह्मविद्वरिष्ठ महात्मा थे, भक्तोंके लिए भगवान् थे, परन्तु वे स्वयं क्या थे, उसको वे भी नहीं बतला सकते थे।

यह हमारे जन्म-जन्मका पुण्य-प्रारब्ध अथवा ईश्वरका भूरि-भूरि अनुग्रह ही था कि हमें उनके सत्संग, आलाप और घनिष्ठ सम्पर्कका सुअवसर प्राप्त हुआ। हमने उनके साथ यात्राएँ कीं, भोजन किया, शयन किया, बरसों तक उनकी गोदमें क्रीडा की। उनकी वह मस्ती, वह मुस्कान, वह सिंहकी-सी चाल, वह वेदान्त-गर्जना, वह निरपेक्षता अब भी मूर्तिमान् होकर हमारे नेत्रोंके सम्मुख नृत्य कर रही है। हम इस कल्पनासे ही गद्गद हो जाते हैं कि हमें उनके निज जनोंमें एक स्थान प्राप्त हुआ। मैं रूठता था, वे मनाते थे। मैं खानेको मना कर देता था, वे खिलाते थे। हमने कभी अपने मनसे उनको एक माला नहीं पहनायी, कभी एक फूल नहीं चढ़ाया, परन्तु मैंने अनेक बार यह अनुभव किया कि मैं उनमें समा गया हूँ और वे मुझमें समा गये हैं। वे अपने स्थानपर ज्यों-के-त्यों हैं। हमारा उनमें डूबना और उतराना शाश्वत है। यह होता आया है और होता रहेगा। हमारे इस अविच्छेद सम्बन्धको माया, प्रकृति, अविद्या अथवा सर्वान्तर्यामी ईश्वर भी विच्छिन्न नहीं कर सकता। यह अटूट है, शाश्वत है, परमार्थ है।

हमारे महाराजजीका जन्मस्थल समुद्रकी दुग्ध-फेन-सदृश उत्ताल-तरंगोंसे प्रक्षालित एवं चुम्बित नीलाचल श्रीजगन्नाथपुरीका पावन धाम है।

जब पुरीके राजा थे श्रीप्रतापरुद्र तब उनके कुलगुरु थे श्रीकाशी मिश्र। वह समय था श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अवतारका। काशी मिश्रकी कई पीढ़ी बीत जानेके बाद उन्हींके वंशमें श्रीउड़िया बाबाजी महाराजका जन्म हुआ। राजगुरु होनेके कारण उस वंशका अत्यधिक समादर था। वे लोग प्राचीन परम्पराके कट्टर अनुयायी थे। घरमें कर्मकाण्डकी ही प्रधानता थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंसे बातचीत करनेमें भी संकोच था। पालकीपर बाहर निकलते, बैलगाड़ीपर नहीं चढ़ते, जूता नहीं पहनते, अन्य ब्राह्मणके यहाँ भोजन नहीं करते, दूसरोंके आसनपर नहीं बैठते। पचास-साठ गाँवोंको धार्मिक व्यवस्था देना इन्हीं लोगोंके अधिकारमें था। अभिप्राय यह कि श्रीउड़िया बाबाजी महाराजका जन्म अत्यन्त प्रतिष्ठित वंशमें हुआ था।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके समयमें काशी मिश्र और बादमें उनके वंशज वैष्णव थे परन्तु श्रीउड़िया बाबाजी महाराजका जन्म होनेसे कुछ पीढ़ी पूर्व उस वंशमें कालीकी उपासनाने प्रवेश किया। ऐसा सुना गया है कि इनके प्रपितामह काली-मन्त्रका जप करने बैठे थे। प्रमादवश कृष्णमन्त्रका उच्चारण होने लगा। क्रींके स्थानपर क्लीं। कालीने उनके मुँहपर चपत मारा और वह टेढ़ा हो गया। जन्म भर वैसा ही रहा।

उन्हींके पुत्र हुए श्रीवासुदेव मिश्र। उनके तीन पुत्र थे और तीन पुत्रियाँ। सबसे छोटे पुत्र थे श्रीवैद्यनाथ मिश्र। उन्हींके पुत्र हुए श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज। इनका जन्मके समयका नाम था श्रीआर्त्तत्राण मिश्र।

विक्रम संवत् १९३२, भाद्रकृष्ण सप्तमी, सोमवार, समय मध्याह्न। उस दिन

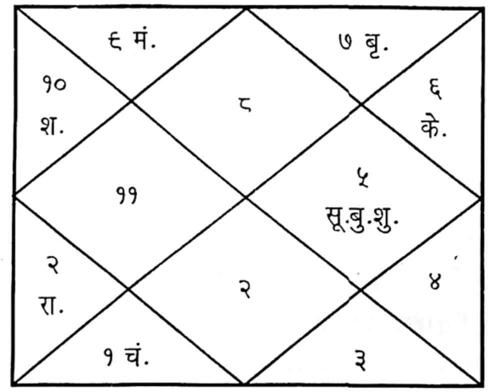

स्मार्तोंकी श्रीकृष्णजन्माष्टमी थी। सूर्योदयसे इष्ट १६-६-३०। लग्न वृश्चिक। सूर्य स्पष्ट ४-७। कृत्तिका नक्षत्रका प्रथम चरण। मेष राशि।

पालन-पोषण ताईने किया। स्वभावमें चञ्चलता नहीं, खेल-कूदमें रुचि नहीं, कोई पीटे भी तो चुपचाप सह लें। प्रतिकारकी वृत्ति नहीं थी। नेत्र बन्द रखनेमें सुखी होते।

चार वर्षकी अवस्थासे बारह वर्षकी अवस्था तक घरपर ही उड़िया भाषा, गणित और साधारण संस्कृतकी शिक्षा प्राप्त करते रहे। शरीर निर्बल था, सम्बन्धियोंकी इच्छा अधिक पढ़ानेकी नहीं थी परन्तु बालक आर्त्तत्राणके मनमें विद्याके प्रति अभिरुचि थी।

घरके लोगोंसे अनुमति लिये बिना चुपचाप वे घरसे चल पड़े और बालेश्वर होकर मयूरभंज पहुँचे। एक विद्यार्थी और साथ था। इतनी छोटी आयुमें ऐसा साहस कर बैठना उनकी स्वाभाविक स्वातन्त्र्यप्रीति और असंगताकी ही अभिव्यक्ति थी। मयूरभंजके विद्यालयमें पण्डित पद्मनाभाचार्य इनके पिताको पहचानते थे। अतः उन्होंने तुरन्त सम्मिलित कर लिया। वहाँ आर्त्तत्राणको यह चिन्ता हुई—यदि पण्डितजीने घर सूचना दे दी तो मुझे लौट जाना होगा। अतएव उनको बतलाये बिना ही बाल्याबेड़ा चले गये। वहाँ पाँच वर्ष तक अध्ययन करके काव्यतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण की।

काव्यतीर्थकी परीक्षाकी तैयारीके दिनोंमें ही आर्त्तत्राणजीके एक सहपाठी गङ्गाधर मिश्रका अचानक हैजेसे देहान्त हो गया। उनका आर्त्तत्राणजीपर अनुजवत् स्नेह था। उनकी मृत्युसे इन्हें बड़ा क्लेश हुआ और यहींसे चित्तमें वैराग्यकी भूमिका बँधी। सारा संसार नाशवान् और नीरस प्रतीत होने लगा।

इसी बीच वहाँके वैष्णव राजा कृष्णचन्द्रने गोपीनाथके मन्दिरमें उत्सवके निमित्त कलकत्तासे बाल-संगीतमण्डली बुलायी। इस मण्डलीने कई सुन्दर नाटक खेले। एक बालकने शङ्करजीका ऐसा सुन्दर स्वाँग रचा कि आर्त्तत्राणजी मुग्ध हो गये। सिद्धासनसे नि:स्पन्द बैठे शङ्करको देखकर उन्हें सबसे पहले वैसी ही समाधिनिष्ठाकी स्फूर्ति हुई। श्रीकृष्ण भगवान्की गोचारण और वन-भोजनकी लीलाका तो इनपर इतना प्रभाव पड़ा कि अपनी कोठरीमें आकर उसके चिन्तनमें ऐसे डूबे कि भाव-समाधि लग गयी। तीन दिनतक यह प्रमावेश ज्यों-का-त्यों बना रहा। बिना खाये तीन दिन उन्हें इस प्रकार भावमग्न देखकर सहपाठी सोचने लगे कि इन्हें कोई रोग हो गया है। उन्हें क्या पता कि यह रोग नहीं, भवरोगका निवारण है।

शिक्षा समाप्तकर आर्त्तत्राणजी घर लौटे। घरवालोंने इन्हें वंश-परम्परागत आचार्यत्वके कार्य-कलापमें लगा दिया। पैतृक वृत्ति करते हुए भी इनका मन भक्ति, वैराग्य और योगकी ओर खिंचता जा रहा था। तभी उड़ीसामें भयङ्कर अकालका प्रकोप हुआ। क्षुधासे सन्तप्त होकर लोग कीड़ों-मकोड़ोंकी भाँति मरने लगे। कोई दहीमें, कोई पानीमें मिट्टी घोलकर पीने लगे। कोई विष खाकर कालके गालमें समाने लगे। आर्त्तत्राण तो आर्त्तत्राण ही थे! वे दुखियोंके त्राण-कार्यमें जुट गये, परन्तु जब उन्होंने देखा कि मैं प्रयत्न करके भी कुछ ठोस सेवा नहीं कर पा रहा हूँ तो उनका चित्त अत्यन्त व्यथित हो उठा।

क्षुधा-पीड़ितोंकी क्षुधा-निवारणका क्या उपाय हो सकता है—यह सोचते-सोचते उन्हें यह प्रेरणा हुई कि द्रौपदीकी बटलोई-जैसा अन्न देनेवाला कोई अक्षय पात्र प्राप्त करूँ, जिससे सबको निरन्तर खिलाया जा सके। देवाराधनासे ऐसा पात्र प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा मानकर आर्त्तत्राणजी चैत्र कृष्ण ५सं० १९५१ को एक लोटा और ११रुपये लेकर घरसे निकल पड़े। सोचा कि जगज्जननीका अनुष्ठान करके ऐसा अक्षय पात्र प्राप्तकर जनताका दु:ख निवारण करूँगा। कामरूप कामाक्षाका मार्ग उन्होंने पकड़ लिया।

पुरीसे कलकत्ता। वहाँसे गोआलन्द और वहाँसे गोहाटी। कामाक्षा देवीका क्षेत्र देखकर आर्त्तत्राणजीका चित्त प्रसन्न हो गया। सिलहटके एक बंगाली सज्जनने

आपके अनुष्ठानके लिए आवश्यक द्रव्यका संयोजन कर दिया। आपने विधिवत् नवदुर्गाका अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया।

अनुष्ठान ठीक चलने लगा। स्वप्नमें देवीके दर्शन भी हुए। तभी एक दिन एक महात्मासे 'विवेक-चूडामणि' सुननेका अवसर मिला। उसे सुनकर चित्तमें ऐसी स्फुरणा हुई कि देवीने मेरी इच्छाके अनुकूल एक पात्र भी दे दिया, द्रौपदी-जैसी बटलोई मिल भी गयी तो उससे क्या होगा? कितने लोग मुझसे अन्न लेनेके लिए मेरे पास आ सकेंगे? मैं भी कितने दिन जीऊँगा? मैं कोई अमर रहनेवाला हूँ? इसके अलावा क्या केवल अन्न पाकर ही लोगोंके सारे दु:खोंका अवसान हो जायेगा?

आर्त्तत्राणजीको लगा कि यह सकाम अनुष्ठान ठीक नहीं, मुझे तो सारी कामनाएँ त्यागकर जगदम्बाका भजन करना चाहिए। अस्तु, अनुष्ठान छोड़कर वे काशीके लिए चल पड़े। माता अन्नपूर्णा और विश्वनाथके दर्शन करके वैद्यनाथ धाम होते हुए वे घर लौट गये।

अनुष्ठानसे आर्त्तत्राणजीके मानस में मातृभक्ति और वैराग्य दिन-दिन बढ़ने लगा। इस बीच उनकी स्नेहमयी ताईका देहान्त हो चुका था। उन्हींके प्रेमसे वे बार-बार घर लौट आते थे। वह बन्धन भी कटा, यह देख उन्हें प्रसन्नता हुई घर वाले उन्हें विवाह-बन्धनमें जकड़ देनेको उत्सुक थे, परन्तु एक ज्योतिषीसे यह जानकर कि ३२ वर्षसे अधिक इनकी आयु नहीं है, वे विवाहके विचारसे विरत हुए। यह इन्हें और भी अच्छा लगा।

जगन्नाथ पुरी आकर आर्त्तत्राणजीने गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीमधुसूदन तीर्थसे बहुत अनुनय करके नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले ली। आपका नया नाम रखा गया—ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप। पिता और ताऊको दु:ख तो हुआ पर करते क्या? जगद्गुरुने कहा कि मैं इसे दीक्षा न देता, तो भी यह अन्यत्र जाकर दीक्षा ले लेता। मेरे निकट रहनेसे आप लोगोंको भी सुविधा रहेगी। ऐसा सोचकर मैंने इसे दीक्षा दे दी।

अब ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूपको सिद्ध गुरु खोजनेकी धुन सवार हुई। काशीसे रामेश्वर तक सारा भारत उन्होंने छान डाला। इस अभियानमें नाना प्रकारके अनुभव प्राप्त हुए। किसीने ऊर्ध्वरेता बनानेके लिए शोधित संखिया घी-चीनीके साथ खानेकी सलाह दी, तो किसीने कुछ। किसीने उसके लिए जड़ी बना देनेकी तैयारी की। तब आपने सोचा कि जड़ी-बूटी खानेसे चमत्कार दिखाकर लोक-प्रतिष्ठा कमानेकी वृत्ति पनपेगी। प्रतिष्ठा और गर्व माया मोहमें भटकायेगा उससे क्या लाभ होनेवाला है?

गोआलन्द में एक जगह युवतियोंने आपको घेरा। आपने उन्हें साष्टांग प्रणाम कर कहा—अरी माताओं! मुझे बाजारका मार्ग बता दो। मातृ-भावसे उनकी दृष्टि बदली और उन्होंने आदरपूर्वक इन्हें मार्ग बता दिया। गारो पर्वत पर एक सिद्ध मिला। उससे सिद्धिका मन्त्र और उसकी जप-विधि पूछी तो बोला—जो मेरी बेटीसे विवाह करेगा, उसे दहेजमें यह विद्या दूँगा। तुम इसके लिए तैयार हो तो मन्त्र बता सकता हूँ।

कामाक्षा-मन्दिरमें जगदम्बाके दर्शन करके बड़पेटा पहुँचे। भगवान् कालियकांतके दर्शन करके कुछ दिन वहाँ ठहरकर साधनामें प्रवृत्त हुए। मणिपुरकी राजमाताको पता लगा। वह आग्रह करके आपको अपने महलमें लिवा ले गयीं। उसने अपने विरक्त राजकुमारसे भेंट करायी। राज-काज सम्हालनेकी बात कहने पर वह बोला—महाराजजी यह संसार अजगर है। मुँह फाड़े बैठा है राग-द्वेषके दाँतोंसे वह हम सबको चबा जाता है। मैं ऐसे राग-द्वेष पूर्ण व्यवहारमें पड़ना नहीं चाहता।

ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप अभी २२ वर्षके ही थे। बड़पेटाके शिवमन्दिरके वृद्ध महन्त अत्यन्त रुग्ण थे। महन्तजीके शिष्य रामेश्वर-यात्रा पर गये थे। उन्हें अस्वस्थ और अकेला देख वासुदेवस्वरूप उनकी सेवा करने लगे थे। इनकी प्रेमपूर्ण सेवासे महन्तजी सन्तुष्ट हुए और उन्होंने मन्दिरके ट्रस्टियोंको बुलाकर कहाकि ये ब्रह्मचारी मेरी गद्दीके उत्तराधिकारी होंगे। उन्हें ही मेरे बाद महन्त बनाना।

दस दिन पश्चात् महन्तजीका शरीर शान्त हो गया। उनकी आज्ञानुसार ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूपको महन्तके पदपर अभिषिक्त कर दिया गया परन्तु आप मायामें लिप्त न होकर जप, अनुष्ठान और उपासनामें पूर्ववत् लगे रहे। शतचण्डी अनुष्ठान किया। उससे आपको वाक्-सिद्धि प्राप्त हुई और पर-चित्त ज्ञान होने लगा।

पर-चित्त ज्ञानसे इनके चित्तमें बड़ा विक्षेप होने लगा। जो व्यक्ति सामने आता उसके चित्तके दोष स्पष्ट दीखते। अठारह दिनमें ही इस सिद्धिसे जी ऊब उठा। माँसे प्रार्थना की कि 'इस विक्षेपसे मुक्त कर !' माँकी कृपासे उससे छुटकारा मिला।

महन्तका शिष्य रामेश्वर यात्रासे लौटा तो वह उस गद्दीके उत्तराधिकारका दावा करने लगा। ब्रह्मचारी वासुदेवस्वरूप स्वयं उसका समर्थन करते हुए बोले-इन्हींको महन्त बनाओ। मुझे यह गद्दी नहीं चाहिए। पर ट्रस्टी इन्हें छोड़नेको तैयार नहीं थे। तब एक दिन ये बिना किसीसे कुछ कहे-सुने बड़पेटा छोड़कर चल दिये।

श्रीमहाराजजी फिर सिद्ध योगियोंकी खोजमें लगे। असम और भूटानमें उन्होंने हठयोगियोंकी बड़ी खोज की। चाहते थे कि ऐसा योगी मिले जिसे निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो। कूचबिहारमें एक हठयोगी मिले। उन्होंने आसन, त्राटक, ध्यान, धारणा आदिका अभ्यास भी कराया। समाधि भी प्राप्त हुई पर अन्तमें यही समझमें आया कि ये भी निर्विकल्प समाधिकी स्थितिपर नहीं पहुँच पाये हैं।

बालेश्वरमें एक गाँवमें एक मकानमें आग लगी देखी। उस मकानके अन्य लोग तो बाहर आगये थे, नव वधू भीतर ही रह गयी थी। उसके लिए सभी व्याकुल थे और चिल्ला रहे थे पर किसीको भी साहस नहीं हो रहा था कि आगमें भीतर घुसकर उसे निकाल लाये। आपने यह करुण स्थिति देखी तो धधकती आगकी लपटोंमें भीतर घुस गये और उस वधूको पकड़कर बाहर खींच लाये। उसकी प्राणरक्षा तो हो गयी पर आपको लगा कि स्त्रीका स्पर्श होनेसे ब्रह्मचर्य-व्रतके अनुकूल कार्य नहीं हुआ। अतः आपने तीन दिन और तीन रातका उपवास कर उसका प्रायश्चित किया।

रामेश्वर धाममें दस दिन ठहर कर आप सिद्धोंकी खोज करते रहे। पण्ढरपुर, पूना, बम्बई होते हुए हरिद्वार और ऋषिकेश भी हो आये, पर मनोनुकूल सिद्ध पुरुषोंके दर्शन नहीं हुए। लम्बा तीर्थाटन करके आप पुनः गोवर्धन मठ लौट आये।

ज्योतिषियोंने आपको अल्पायु बताया था। अतः आपने सोचा कि पता नहीं कब यह शरीर छूट जाय। अतः संन्यास ले लेना अच्छा है। आचार्य-चरणसे प्रार्थना की तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। बत्तीस वर्षकी आयुमें सं. १९६४ वि. में आपने संन्यास ग्रहण कर लिया। अब आपका योगपट्ट हुआ-दण्डी स्वामी श्रीपूर्णानन्द तीर्थ। पर आप प्रख्यात हुए श्रीउड़िया बाबाजी और श्रीमहाराजजीके नामसे। आचार्य-चरण चाहते थे कि आप ही आगे चलकर आचार्यपीठको सम्हालें, पर मठका वैभव आपको आकृष्ट नहीं कर सका। आप उसे छोड़कर चल दिये। चलते-चलते दण्ड-कमण्डलुको भी आपने सागरको समर्पित कर दिया। सोचा कि जब सभी छोड़ा तो जन्म, कर्म और संन्यासकी तुष्टि करनेवाली इस धर्मध्वजाको भी क्या रखना !

पुरीसे रानीगंज। रानीगंजसे वैद्यनाथ धाम और वहींसे काशीके लिए श्रीमहाराजजी निकल पड़े। 'पैदल बहुत दूर है, अच्छा हो रेलसे जाओ'-ऐसी सलाह एक ब्रह्मचारीने आपको दी। आप उसे मानकर स्टेशनकी ओर चल पड़े।

मार्गमें एक ब्रह्मचारीने श्रीमहाराजजीको भाँग मिली हुई ठंडई पिला दी। मादक पदार्थोंका कभी सेवन किया नहीं था। परिणाम यह हुआ कि ट्रेनमें आपको

नींद लग गयी। काशी पहुँचनेके लिए ट्रेन बदलनेका अवसर जब आया तब आप ट्रेनमें बुत बने पड़े थे। पहुँचना था काशी, पहुँच गये छपरा। टिकट कलेक्टर काशीका टिकट देखकर आगबबूला हो गया। गरम होकर बोला,-'तुम्हें यह भी पता नहीं कि यह गाड़ी छपरा जाती है कि काशी? बड़े आये साधु कहींके !'

आपको टिकटचेकर द्वारा की गयी भर्त्सना बुरी तरह खली। स्टेशनसे निकलकर गंगा-तटपर आये और वहाँ जल हाथमें लेकर संकल्प किया कि अब कभी किसी सवारीपर नहीं बैठूँगा।

अब श्रीमहाराजजीकी पदयात्रा आरम्भ हो गयी। आप छपरासे काशीके लिए चल पड़े। गंगाके किनारे-किनारे चलते हुए गाजीपुर पहुँचे।

किसीसे कुछ माँगना नहीं। अयाचित वृत्ति। यदृच्छासे जो मिल जाय उसका स्वागत। ऐसे ही एक दिन एक फल मिल गया। खानेमें बहुत कड़ुवा, कसैला। उसे खाना था कि आपको हैजा हो गया। कय और दस्तसे आप पस्त हो गये। आपको मूर्च्छा आगयी। अर्थाभावके कारण बिना संस्कारवाले मुर्दे जहाँ बह-बहकर इकट्ठे हो गये थे, वहीं आप भी पड़े थे। शामको कुछ लोग एक शवका संस्कार करने आये तो आपके मुँहसे पीड़ाकी आह सुनकर पास आगये। देखा कि आपके शरीरमें प्राण हैं। उन्होंने वस्त्रोंको धोया, आपको नहलाया और एक तटवर्ती वटवृक्ष के नीचे लेटा दिया। दही लाकर आपको खिलाया पर वह भी नहीं पचा। कय हो गयी। सारी रात अर्धमूर्च्छाकी-सी स्थिति बनी रही। प्रातः सूर्योदयके साथ-साथ आपके शरीरमें नवजीवनका संचार हुआ। पासमें एक उदासीन बाबाका स्थान था। उनका दर्शन करने गये तो उन्होंने आपको दही-खिचड़ी खिलायी।

फिर एक परमहंसके आश्रममें पहुँचे। उन्होंने आपसे कहा कि यह आपके लिए नया देश है। नयी भाषा। यहाँके खान-पान रीति-व्यवहारसे भी आप अनभिज्ञ हैं। यहाँ अयाचित वृत्तिसे आपको बड़ा कष्ट होगा। इसलिए मधुकरी वृत्तिसे रहना अच्छा होगा। आपने यह सलाह मान ली। सोचा इसमें मान-अपमान, सुवचन-दुर्वचन, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेका अभ्यास होता है। तितिक्षा और तप की वृद्धि होती है और विश्वम्भरका विधान अनुभवमें आता है।

सैदपुरसे आगे आप नारायणी नदीके दाँयी ओर चलने लगे। राजवारी स्टेशनके निकट एक दक्षिणी स्वामीका स्थान मिला। उसके महन्त रोगग्रस्त होकर शैय्यापर पड़े थे। आपने उन्हें असहाय देखकर उनकी सेवा आरम्भ कर दी। महन्तजी का स्वास्थ्य गिरता देखकर आश्रमकी प्रबन्धसमितिने श्रीमहाराजजीको ही महन्त बनाना निश्चित कर लिया और उनकी स्वीकृति लेकर इन्हें विधिवत्

महन्त पदपर अभिषिक्त कर दिया। श्रीमहाराजजीके व्यवहार, पूजापाठ, साधना आदिसे लोग बहुत प्रसन्न थे। एकादशीके अवसर पर भगवान् शंकरके शृंगार, रुद्राभिषेक और संकीर्तन आदिका आपने जो श्रीगणेश किया उससे जनतामें बड़ा उत्साह आगया था। इधर दक्षिणी स्वामीकी हालत धीरे-धीरे सुधरने लगी। उन्हें जब एकादशी-उत्सव और आश्रमकी व्यवस्थामें किये गये सुधारोंका पता लगा तो वे बिगड़ उठे। एक दिन श्रीमहाराजजीने उन्हें कहलाया कि 'कुछ सन्त पधारे हैं, मैं उनका दर्शन करने जाता हूँ।' इतना सुनते ही वे बोले-'महन्तकी अपनी मर्यादा है। आपको दूसरेके पास नहीं जाना चाहिए। जिसे आना हो आपके पास आये !'

श्रीमहाराजजीको ऐसी बन्दिश बुरी लगी। उसी रातको आप वहाँसे निकलकर काशीकी ओर चल पड़े। जिसे गोवर्धन-पीठका वैभव बाँधकर नहीं रख सका, वह इस छोटे-से आश्रमकी महन्तीमें कैसे फँसा रह सकता था?

श्रीमहाराजजीके हृदयमें इन दिनों तत्त्वजिज्ञासा तीव्र रूपसे चल रही थी। नया प्रदेश, नयी भाषा। रोटी खानेका एक तो अभ्यास नहीं, दूसरे वह उन्हें पचती भी न थी। शरीर दिन-दिन सूखकर काँटा होता जा रहा था। काशीमें विश्वनाथ, अन्नपूर्णाके दर्शन करके आप गङ्गा-तटपर दिन काटने लगे। बादमें एक महात्माके आग्रहसे काशीसे ७ मील दूर आपने गङ्गा-तटपर एक आश्रममें चातुर्मास्य बिताया। वहाँ और भी कई महात्मा थे जो वेदान्तपर चिन्तन करते थे। गीता, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदिपर विचार-विमर्श चलता था। श्रीमहाराजजीकी इसमें विशेष रुचि नहीं थी। उनके हृदयमें तो तत्त्वविचारकी जिज्ञासा उग्र-रूप धारण कर रही थी। उन्हें शान्ति नहीं मिली।

'मैं कौन हूँ?' 'इस प्रपञ्चका कर्ता कौन है?' 'जगत् क्या है?' 'वस्तु स्थिति क्या है?' रात-दिन आप ऐसे ही प्रश्नोंके चिन्तनमें लगे रहते। लोग प्रस्थानत्रयके अध्ययनकी सलाह देते, पर गाड़ी आगे न बढ़ती। विचरते-विचरते आप प्रयाग पहुँचे। उस समयकी अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि 'उस समय मेरी पागल कुत्ते जैसी स्थिति थी। किसीकी कोई गिनती नहीं थी। बस, काटते जाओ। बेचैनी ही बेचैनी! सभी आस्थाएँ समाप्त हो गयी थीं।'

कठोर साधनाका काल था। चरम विरक्ति। पैदल यात्रा। वृक्षके नीचे पड़े रहते। मिल जाता तो खा लेते, नहीं तो निराहार। आँधी-तूफान-वर्षाके झटके।

एक दिन बेचैनी बहुत बढ़ी। जीवन भार-सा लगने लगा। सोचा, किस कामका यह जीवन ? सत्यका साक्षात्कार अभीतक नहीं हो सका। ऐसे जीवनसे तो मौत भली।

एकमात्र साथी तूम्बा गङ्गामें फेंककर श्रीमहाराजजी गङ्गामें छलांग मारनेको ही थे कि अचानक अन्तर्यामी भगवान् शिवकी आवाज आयी– 'ठहरो। देखो मरनेसे क्या होगा? सम्भव है विचार-चन्द्रका उदय हो जाय। इस सन्तप्त जीवपर भी अमृतदृष्टि हो सकती है !'

श्रीमहाराजजीने इस अन्तर्ध्वनिके कारण भागीरथीकी गोदमें प्राण-विसर्जनका विचार तो त्याग दिया, पर हृदय अत्यन्त अशान्त था। निकटमें ही एक पुराना शिव-मन्दिर था। आप उसमें जाकर पड़ रहे। श्रद्धा-विश्वास और आस्थाकी तो समाप्ति ही हो गयी थी। आप शिव-लिंगपर पैर रखकर लेट गये।

पर आशुतोष तो आशुतोष ! श्रीमहाराजजी ध्यानमें देखते हैं कि दो परमहंस उनके समक्ष हैं मानो एक हों सदाशिव और दूसरे हों वसिष्ठ महाराज। गौर वर्णकी दो दिव्य मूर्तियाँ- भस्म, त्रिपुण्ड और रुद्राक्षसे विभूषित।

प्रणाम करके जिज्ञासुने अपने प्रश्न उनके चरणोंमें निवेदित कर दिये। प्रश्नोंके साथ-साथ उत्तर मिलने लगे। एक-से-एक अकाट्य उत्तर। सारी शंकाओंका एक-एककर निरसन होता चला गया। ये दो श्लोक बताये उन्होंने स्मरण रखने को-

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव॥
जडता वर्जयित्वैतां शिलाया हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा॥[1]

'सबका निषेध करनेपर जो परमपद अवशिष्ट रह जाता है, वही मै हूँ-ऐसा जानकर सुखी हो जा।'

कैसा अमृतमय समाधान।

उसे खोजते 'मीर' खोये गये।
कोई देखे इस जुस्तजूकी तरफ!

श्रीमहाराजजी कृतकृत्य हो गये। उनकी बेचैनी, छटपटाहट शान्त हो गयी। ज्ञान-विज्ञानकी रसभरी धारा प्रवाहित हो उठी। उसका विवेचन करते हुए वे कहते हैं—'वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल है उपरति। दोनोंमें अन्तर यही है

१. यह नहीं है, यह नहीं है, ऐसा (स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपंचका निषेध करनेपर) जो निषेधके अयोग्य परमपद शेष रह जाता है, वही हूँ मैं, ऐसा जानकर तूँ सुखी हो जा।
इस अज्ञानरूप जड़ताको त्यागकर शिलाके हृदयके समान जो घनीभूत अमनस्कतामें है, उसमें सदा तद्रूप होकर शुद्ध चिन्मात्र होकर स्थित रह।

कि वैराग्य होनेपर विषयोंमें ग्लानि होनेके कारण उन्हें भोगा नहीं जाता, उपरति होनेपर वस्तु सामने रहनेपर भी उसे भोगनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसके उपरान्त उपरतिका फल है-आनन्द और आनन्दका फल है शान्ति।'

अब उनकी जिज्ञासा समाप्त हुई। मिलनकी उत्कट आकांक्षा जाग्रत हुई। अनन्त रसपानकी पिपासा जग पड़ी। अनन्तमें घुल-मिल जानेकी आकांक्षा तीव्र हो उठी। प्रेमरस जीवन रस होकर अङ्ग-अङ्गमें छलकने लगा।

गंगाके किनारे-किनारे श्रीमहाराजजी कानपुरकी ओर बढ़ने लगे। एक जगह दलदलमें फँस गये। जितना निकालनेको जोर लगायें, उतना और धँसते जायँ। सोचा अब अन्तकाल उपस्थित है। अतः सहज भावसे स्वरूपस्थ हो गये। जीवन-मरणकी चिन्ता ही नहीं थी। आपकी स्थिति थी-'**नाभिनन्दति मरणं नाभिनन्दति जीवितम्।**' तभी कुछ लोग दौड़ते हुए आये। उन्होंने एक वस्त्र फेंककर कहा-'बाबा, इसे पकड़ लो!' उसे पकड़ लिया। तब लोगोंने आपको दलदलसे बाहर खींच लिया।

कानपुरसे होकर आप बिठूर गये। ज्ञानाश्रम स्वामीके दर्शन करके आप बरुआघाट पहुँचे। कुछ दिन उनके पास रहे। प्राणायाममें वे बहुत कुशल थे। उनसे प्राणायाम सीखनेके लिए कई मास उनके निकट रहे। शीतकालमें जब प्राणायामका अभ्यास आरम्भ करने लगे तो स्वप्नमें जगदम्बाका आदेश हुआ कि यह पद्धति तुम्हारे अनुकूल नहीं है। तुम्हारे लिए राजयोगका अभ्यास ही ठीक है, जो तुम कर रहे हो। उसे बदलनेकी आवश्यकता नहीं।

एक वर्ष वहाँ ठहरकर श्रीमहाराजजी गंगातटपर ऊपरकी ओर चल पड़े। आगे आप ३० वर्षसे वटवृक्षके नीचे रहनेवाले बरगदिया बाबाके पास पहुँचे। अन्य कई सन्तोंका सत्सङ्ग करते हुए आप फर्रुखाबाद और फिर गंगा पारकर ढाईघाट गये। वहाँपर स्वामी आत्मानन्दका सत्संग कर गंगाके इस पार लौटे और फिर ऊपरकी ओर अग्रसर होने लगे।

आषाढ़का महीना। रातका समय। कोसोंतक कहीं गाँवका पता नहीं। कोई आदमी भी चलता, फिरता नहीं दिख पड़ता। भूख भी लगी थी। पर कोई उपाय नहीं था। अतः श्रीमहाराजजी एक शिंशिपाके तले सिद्धासन लगाकर बैठ गये।

थोड़ी देरमें आकाशमें चन्द्रोदय हुआ। इसी समय कहींसे दो सुन्दर बालक हँसते-खिलखिलाते आपके पास आये। बोले-'बाबा, रोटी खाओगे?'

आपने कहा-'हाँ बेटा! पर तुम्हारा घर कहाँ है? किस जातिके हो तुम?'

बच्चे हँसते हुए बोले–'हम तो पासके ही गाँवमें रहते हैं बाबा! माहेश्वरी बनिया हैं हम।'

'बेटा! तुम इतनी रातमें अकेले क्यों घूम रहे हो? ऐसे ही खेलते-खेलते हम यहाँ चले आये।'

अभीतक श्रीमहाराजजी केवल ब्राह्मणोंके यहाँ भिक्षा करते थे, पर इन बालकोंने ऐसा मुग्ध कर लिया कि उन्होंने उनकी भिक्षा स्वीकार कर ली। विधि-निषेधकी शृङ्खला टूट गयी।

बच्चे थोड़ी देरमें रोटियाँ और केलेका साग ले आये। आप भोजन पाते रहे, बालक खेलते रहे। खा चुके तो पूछा–बाबा, हम जायँ?

'हाँ बेटा जाओ!'

श्रीमहाराजजी थोड़ी नींद लेकर उठे तो देखते है ब्राह्म-मुहूर्तकी वेलामें वे दोनों बालक फिर हाजिर। 'बाबा! बाबा!!' कहकर वे आपके पास आगये। पूछा–'बेटा, अभी तो सवेरा भी नहीं हुआ, तुम कैसे आगये?'

बोले–'बाबा, हम खेलनेके लिए चले आये हैं। अच्छा यह तो बताओ कि तुम कुछ पियोगे?'

महाराजजीके 'हाँ' कहते ही वे जाकर मिट्टीकी हँडियामें छाछ ले आये और महाराजजीके तूँबेमें भरकर चले गये।

सूर्योदय होनेपर श्रीमहाराजीने दूर-दूर तक देखा। कहीं कोई गाँव था ही नहीं। मार्गमें एक महात्मासे इस प्रसंगकी चर्चा की तो बोले, 'यह विश्वम्भरकी लीला है!'

महाराजजीका निश्चय था—

खुदा खानाबदोशोंकी करे
खुद कारसामानी।
नयी मंजिल, नया बिस्तर,
नया दाना, नया पानी।।

मस्तीमें झूमते हुए महाराजजी आगे बढ़ने लगे। आप गुनगुनाते जाते थे। 'हरि-आशिकका मग न्यारा है!' इस गीतकी कड़ियाँ आपके मुखारविन्दसे निकल-निकलकर वातावरणमें गूँज रही थीं–

जिन खान पान नहीं भावै है, नहिं कोमल वसन सुहावै है।
सब विषयभोग नित खारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है।।
तिन सबसे नाता तोड़ा है, विष विषयोंसे मन मोड़ा है।
इक अपना प्रिय उर धारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है।।

जग जो जो वस्तू देखे है, सब सत्य न करके फेंके हैं।
तिन जगसों किया किनारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है।।
नहिं श्रुतिके किंकर होते हैं, मन-वाक् अगोचर जो वे हैं।
तिनि विधि निषेधको जारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है।।
जैसा तनु चले चलाते हैं, जब हरि देवे तब खाते हैं।
तिनके संग फिरता प्यारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है।।
जो प्रेम पियाला पीते हैं, प्रिय सहित सभी जग जीते हैं।
कुछ करना नहीं विचारा है, हरि-आशिकका मग न्यारा है।।

गढ़ी रामपुरमें ब्रह्मचारी मोतीराम पाठशाला चलाते थे। महाराजजी उनके आग्रहसे वहाँ चातुर्मास्य करना स्वीकार कर लिया। विद्यार्थियोंको प्रेमसे पढ़ाने भी लगे। गाँववालोंके आग्रहसे आप वहाँ दो साल टिक गये। जिला एटाके सहवाजपुरमें कुछ दिन रहकर आप मोहनपुरमें कुछ दिन रमे रहे। गाँववालोंसे बहुत प्रेम हो गया। वे समझे कि महाराजजी अब यहीं ठहरेंगे, परन्तु–

रमता जोगी बहता पानी, इनको कौन सकै ठहराय?

श्रीमहाराजजीका तीर्थाटन और सत्संग, चिन्तन, मनन और साधन वर्षोंतक इसी प्रकार चलता रहा। इसी यात्राक्रममें आप रामघाट गंगातट पर पहुँच गये। अनूप शहरसे रामघाटतक गंगा-तटपर ही आपका अधिक निवास रहा। मुख्यत: रामघाट और कर्णवासमें आप रमते रहे। यहाँ कोई दस वर्षतक आपकी तीव्र साधना रही।

आनन्द-रसमें डूबे हुए श्रीमहाराजजी सं. १९७२ के आषाढ़में सबसे पहले रामघाटपर पहुँचे। राग, विराग, प्रेम, उपरति और तितिक्षाके भाव आपके मुखकमलपर लहरा रहे थे। रामघाटकी सुरम्य बनस्थली गंगा-तटका मनोहर दृश्य और वसुन्धराकी अद्भुत दीप्ति देखकर आपका मन मुग्ध हो गया। आपने श्रीमहादेवजीका दर्शन करके इमलीवाली कुटीमें आसन लगाया।

मोहनपुरतक आपने सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात समाधियों का स्पष्ट अनुभव प्राप्त कर लिया था। दिन-रात आप समाधिरसमें मग्न रहते थे। आठ पहर चौंसठ घड़ी आनन्द-ही-आनन्द।

इमलीवाली कुटीमें प्रेमरसानन्दकी अनुभूति करते हुए आप चान्द्रायण आदि अनेक व्रत भी चलाने लगे। बुद्ध भगवान्की भाँति आप प्रचण्ड तपस्यामें संलग्न हो गये। चिदानन्द-सिन्धुमें आप निमग्न रहने लगे और मस्तीमें भरकर समय-समयपर गाने लगे–

तदा नैव बालो युवा भोगलोलस्तथा नैव वृद्धः समासन्नकालः।
न वा साधुशीलोऽप्यथासाधुशीलः चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः।।
तदा नैव बद्धो न मुक्तो न रागी विरागी न संगी तथा नो वियोगी।
न योगी न भोगी न संसाररोगी चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः।।
तदा नैव जाग्रत्सुषुप्तिर्न चास्ति न वा स्वप्न येषा तुरीयापि काचित्।
न हि चोन्मनीनोगतायातनाम्नी चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः।।
तदा नासनं प्राणरोधो निरोधी न वा धारणा नो न वा ध्यानमेकम्।
तदा कारकाणां समाधिर्न कश्चित् चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः।।
तदा नाप्यभेदो न भेदो न बोधो न चाबोध एष विनोदो न खेदः।
अहो ना मुकुन्दो न चानन्दकन्दो चिदानन्दसिन्धौ यदाहं निमग्नः।।

क्या कहना है चिदानन्द-सिन्धुकी इस मस्तीका! '**यथावस्थितोऽहं तथैवास्मि सिद्धः**'की इस स्थितिका क्या वर्णन किया जाय!

इन दिनों महाराजजी दिनभर तो सिद्धासन लगाये बैठे रहते थे, रात्रिमें भी नहीं लेटते थे। जब कभी बैठे-बैठे थक जाते तो कुहनियोंके बल आगेकी ओर झुककर थोड़ा-सा विश्राम कर लेते थे। इस प्रकार वर्षोंतक आप बिना लेटे ही विश्राम करते रहे।

स्त्रियोंके सम्पर्कसे दूर रहनेका आपका नियम था। आप मानते थे कि '**वर्जयित्वा स्त्रियः सङ्गं कुर्यादभ्यासं समादरात्।**' आपने कह रखा था कि यदि कोई स्त्री दृष्टि के समक्ष आयेगी तो मैं इस स्थानको त्यागकर अन्यत्र चला जाऊँगा।

आप समाधिमें इतना लीन रहते कि क्षणभरकी भी बहिमुर्खता खलती। एक कौर भी उठाकर मुखमें रखना आपको भारी प्रतीत होता। पलक तक गिरानेमें आलस्य लगता। अन्नाहार तो छोड़ ही दिया था, व्रतोंका ही अधिकतर अनुष्ठान चलता रहता था। इस प्रकार बहुत दिनोंतक कठोर साधना चलती रही। जन-कोलाहलसे दूर रहकर आप एकान्तमें साधना करते रहते। इसके लिए कई बार आपको स्थान भी बदलना पड़ा।

ब्रह्मनिष्ठ विरक्त सन्त और परमहंसके श्रुति-लक्षण आपमें प्रकट हो उठे-

"शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः।।

"निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति।।

श्रीमहाराजजीकी साधनाकी सुगन्ध धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगी। उस सौरभसे आकृष्ट होकर लोग आपके पास पहुँचने लगे। नाना प्रकारके भक्तोंका ताँता लगने लगा। अच्छे भी आते बुरे भी, सत्पुरुष भी आते, चोर और डाकू भी। कोई धूप-दीप-नैवेद्यसे आपकी षोडशोपचार पूजा करता, कोई आपपर नागाञ्जलि चढ़ाता। एक बार एक सिंह उधर आगया। लोग डरे तो महाराजजीने कहा- 'भैया, डरनेकी बात नहीं। वह चामुण्डा देवीके दर्शन करनेके लिए आता है। दर्शन करके चला जायगा।' चला भी गया वह।

एक बार गर्मियोंमें एक डाकू-सरदार आपके दर्शनके लिए पहुँचा। उसपर दस हजार रुपयेका इनाम था। पेड़के सहारे बन्दूक टिकाकर महाराजजीको प्रणाम करने आया था। हालचाल पूछने पर खुल पड़ा-'महाराजजी! डाका डालने जा रहा हूँ।'

'एक बात मानेगा?'

'क्या महाराज?'

'देख, स्त्रियोंको मत छूना।'

'ठीक है महाराज ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि स्त्रियोंको हाथ नहीं लगाऊँगा।'

एक जमींदारके यहाँ उसने डाका डाला। लूटका माल लेकर जब गाँवसे दो मील आगया तो उसने देखा कि उसके साथी जमींदारकी लड़कीको पलङ्गसहित उठाकर ला रहे हैं। देखते ही गुर्राया-'इसे क्यों लाये हो? इसे वापस करना होगा।'

साथी बोले : 'अब वहाँ जानेसे हम सब मारे जायँगे। गाँववाले इकट्ठे होकर हमें खतम कर देंगे।'

'चलो मैं चलता हूँ'!

उसे पलङ्गसहित गाँवपर लौटाकर डाकू-दल लौट आया। डाकू सरदार जब डेरेपर लौटा तो पश्चात्तापसे उसका चित्त व्यथित होने लगा। सोचने लगा कि हमारा कैसा अधम जीवन है। लोग रोते-चिल्लाते और तड़पते हैं और हम उनकी छातीपर चढ़कर उनका धन लूटते हैं, हमारे साथी उनकी स्त्रियोंका अपमान करते हैं।

आत्मग्लानिसे उसका चित्त भर गया। उसका हृदय-परिर्वतन हो गया। उसने सदाके लिए यह असत्-मार्ग छोड़ दिया। दल भंग करके वह कल्याण-मार्गका पथिक बन गया। श्रीमहाराजजीकी प्रेरणासे ऐसे कई डाकू डाका डालना छोड़कर सत्यपथपर आरूढ़ हुए।

'रामघाटमें श्रीउड़ियाबाबा पधारे हैं। जिनमें यतिके सभी लक्षण मौजूद हैं'- ऐसा सुनकर नरवरके कई पण्डित रामघाट आकर श्रीमहाराजजीसे मिले। तबसे

वहाँके साङ्गवेद विद्यालयके अध्यापक और छात्र आपके पास बराबर आकर आपसे सत्संगका लाभ उठाने लगे।

सन् १९१५ में महाराजजी नरवरसे कर्णवास पधारे। वहाँ आप झाड़ियोंमें रहकर साधना करने लगे। वहाँ आपके लिए एक गुफा और कुटिया बना दी गयी। वहाँ कुछ समय बितानेके उपरान्त श्रीमहाराजजी पाँच मील उत्तर भेरिया गाँवके निकट भृगुक्षेत्रमें पधारे। वहाँ अच्युतमुनि जैसे त्यागी, विरक्त और विद्वानोंका सत्संग मिला। जिस दिन श्रीमहाराजजी पूर्वसे विचरते हुए भृगुक्षेत्र पहुँचे उसी दिन श्रीहरिबाबा पश्चिमसे विचरते हुए वहाँ आगये। दोनों महात्माओंका मिलन ऐसा लगता था मानो दो शरच्चन्द्र परस्पर आलिंगन कर रहे हों। यह मिलन अत्यन्त प्रेम और सौहार्द्रपूर्ण था, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया!

श्रीमहाराजजी जिस साल रामघाट पधारे उसी साल उन्होंने गंगातटपर लक्ष्मण-झूलातक विचरण किया। अनूपशहर से लक्ष्मण-झूलातकके प्रवासमें अनेक सन्तों-महात्माओं, साधकों और विद्वानोंसे आपका सत्संग हुआ। स्थान-स्थानपर हजारों व्यक्ति आपके सत्संगसे लाभान्वित होते रहे। श्रीमहाराजजी कहते थे कि काशीसे लक्ष्मण-झूलातक हमारा घर हो गया है।

सन् १९२२ के पौषमासकी बात है। पूज्य हरिबाबा विचरते हुए गाँव पहुँचे। गाँवके आसपास गंगाजीका खदर है। बाढ़ आनेपर यहाँ हर साल खूब पानी भर जाता है। एक बार तो ऐसी बाढ़ आयी कि गंगाजीकी एक बड़ी धारा महेबा नदीमें मिल गयी जिससे ४० मीलके क्षेत्रमें लगभग ७०० गाँव जलमग्न हो गये। ग्रामीण जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। यहाँकी ऐसी स्थिति देखकर हरिबाबाका कोमल चित्त व्यथित हो उठा और उन्होंने गंगाजीपर बाँध बाँधनेका संकल्प कर लिया।

एक दिन हरिबाबा अपने कुछ भक्तोंके पास पहुँचकर बोले—'मैंने गंगाजीपर बाँध बाँधनेका निश्चय कर लिया है और यह काम आज ही आरम्भ करना है। बाँधका प्रत्येक कार्य भगवान्‌का नाम लेते हुए ही करना है। बाँधको साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप जानकर तन, मन, धनसे उसकी सेवामें जुट जाना सबका परम धर्म है।'

सन्तकी प्रेरणा। बाँधका कार्य तत्काल आरम्भ हो गया। 'श्रीराम जय राम जय जय राम'—का संकीर्तन करते हुए बाँधका मूहूर्त किया गया।

हरिबाबा घण्टा बजाकर कीर्तन भी करते जाते थे और सबसे कहते जाते थे—यह बाँध साक्षात् अन्तर्यामी भगवान् ही हैं। इस सर्वज्ञसे किसीका कपट और कुकर्म छिपा नहीं रहेगा। जिस भक्तका जो ध्येय होगा वह पूरा होगा। बाँधपर मिट्टी डालनेसे सभी संकट दूर हो जायँगे।'

बाँधका कार्य विद्युत्‌गतिसे बढ़ने लगा। मानो रामजीका सेतुबन्ध हो। हरिबाबा 'श्रीराम जय राम जय जय राम' कहकर हिन्दूगाँवोंमें चन्दा एकत्र करने लगे और 'तेरी जात पाक हूँ' कहकर मुसलमानी गाँवोंमें। खुर्जा और उझियानीके सेठ स्वयं ही सारा खर्च देनेको प्रस्तुत थे, परन्तु बाबाने उसे स्वीकार नहीं किया। वे चाहते थे कि जनता-जनार्दनकी गाढ़ी कमाईका पवित्र पैसा उसमें लगे और पवित्र श्रमकी नींवपर यह पवित्र कार्य हो।

संकल्पके अनुसार रामनवमीको हरिबाबाने मिट्टीका काम पूरा कर लिया। हरिनामकी तुमुलध्वनिसे आकाश प्रकम्पित हो उठा।

भृगुक्षेत्रमें श्री श्रीमहाराजजीका पूज्य हरिबाबासे मिलन हुआ था। हरिबाँधपर दोनोंका पुनः मिलन हुआ। गंगातट जीवित जाग्रत आनन्दका रसोन्मत्त भक्ततट बन गया। कहा ही है:

खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो !

दोनोंमें परस्पर अद्भुत प्रेम था। दोनों एक दूसरेका बहुत अधिक ध्यान रखते। कीर्तनकी घण्टी बजते ही श्रीमहाराजजी कहने लगते—'चलो, चलो! हरिबाबा कीर्तनमें पहुँच गये।' स्वयं भी उठकर चल देते। हरिबाबा कहते थे कि आरम्भमें जब मैं बाँधके आसपासके गाँवोंमें संकीर्तन कराने लगा तो गंगा-तटवासी तमाम सन्त उसका विरोध करने लगे। अकेले उड़ियाबाबा महाराज ही ऐसे थे जिन्होंने सच्चे हृदयसे हरिनाम-संकीर्तनका समर्थन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं जीवन भर उसका प्रचार भी किया। वे न होते तो संकीर्तनका प्रचार कभीका बन्द हो गया होता। उड़ियाबाबाने मुझपर जितना प्रेम किया, उतना विश्वमें और किसीने नहीं किया।

बाँधपर प्रतिवर्ष शिवरात्रिके दिन श्रीमहाराजजीका पूजन होता था। हरिबाबाको प्रसन्न रखनेकी दृष्टिसे वे अवश्य ही उस अवसरपर वहाँ पहुँच जाते थे। अन्य सन्तोंसे भी महाराजजीका प्रेम सम्बन्ध था। उनके आग्रहपर वे यदाकदा विभिन्न स्थानोंपर जाते रहते थे।

वृन्दावन तो श्रीमहाराजजीके लिए गोलोकधाम था। प्रायः कहते रहते थे कि वृन्दावन चलो। वहाँ श्रीबिहारीजीसे एक कोना लेकर आश्रम बनायेंगे और वहीं रहेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी आनन्द लीला-स्थलीके प्रति उनका यह आकर्षण उन्हें वहाँ खींच ले गया। सं० १९९४ वि० में वृन्दावनमें उनके श्रीकृष्णाश्रमकी प्रतिष्ठा हुई। उसका शिलान्यास किया परम मस्त ग्वारियाबाबाने। उसके प्रतिष्ठा-महोत्सवसे आश्रममें रसकी अमृतवर्षा आरम्भ हो गयी। व्रजमाधुरी उल्लसित हो उठी। श्रीकृष्णाश्रमकी स्थापनाके उपरान्त महाराजजी अधिकतर यहीं विराजने लगे।

सबेरे तीन बजेसे लेकर रात्रिके ग्यारह बजे तक श्रीकृष्णाश्रममें सत्संगकी धारा बहने लगी। रासलीलाकी मर्यादाका निर्वाह इस आश्रममें जैसा होता है, उसकी ख्याति आज भी है। निराकार और साकार दोनों प्रकारकी उपासना-पद्धतियोंकी वहाँ पूरी व्यवस्था रखी गयी। श्रीमहाराजजी सभी कार्यक्रमोंमें स्वयं उपस्थित रहते। उनके अन्तरंग भक्त भी इस रहस्यको नहीं समझ सके कि महाराजजी क्या थे? वे शैव थे कि शाक्त थे? रामोपासक थे कि कृष्णोपासक? वेदान्ती थे या क्या?

ब्रह्मचर्चा चलनेपर लगता कि श्रीमहाराजजी मानो मूर्तिमती ब्रह्मनिष्ठा हैं। संकीर्तन होता तो आप प्रेम-समाधिमें डूब जाते। रासमें विराजते तो उसमें ही मगन हो जाते। कथा-वार्ता चलती तो प्रधान श्रोताके रूपमें उसका रसास्वादन करते—

अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।

श्रीमहाराजजीमें जिसकी जैसी निष्ठा रहती, तदनुकूल उसे उपदेश करते थे। साकारोपासकोंको साकार उपासनामें प्रवृत्त कराते। निर्गुणोपासकोंको निर्गुणका तत्त्व समझाते। दोनों मार्गोंके साधकोंको एक दूसरेसे पृथक् रखते। कहते, जिसकी जैसी निष्ठा है, वह उसी मार्गसे आगे बढ़े। जनसाधारणको योगवासिष्ठ-जैसे ग्रन्थोंका समझना कठिन होता है। उनके लिए महाराजजी रामायण, गीता, भागवत, भक्तमाल-जैसे ग्रन्थोंकी कथा कहलवाते। आश्रममें समय-समयपर रामलीला, रासलीला, चैतन्यलीला आदि चलती रहती, जिसका भक्त-समुदायपर उत्तम प्रभाव पड़ता।

श्रीमहाराजजीको खिलाने-पिलानेके कार्यमें बड़ी रुचि थी। जब कभी उत्सव और अनुष्ठान होते तो बड़े पैमानेपर जनता एकत्र होती। उस जनसमूहमें कोई भी भूखा न रह जाय, कोई किसी पदार्थसे वंचित न रह जाय—इस बातका श्रीमहाराजजीको बड़ा ध्यान रहता था। कहते, 'खानेका आनन्द जीवका आनन्द है, खिलानेका आनन्द ईश्वरका।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके श्रीकृष्णाश्रमकी बड़ी ख्याति फैली। भक्तों और साधकोंका तो वहाँ ताँता ही लगा रहता। सभी लोग महाराजजीसे लाभान्वित होते और विकासके मार्गकी ओर अग्रसर होते। जो जिस पात्र और रुचिका होता, उसे आप उसी दिशामें मार्गदर्शन देकर आगे बढ़ाते। जीवनमें शुद्धिपर महाराजजीका बड़ा जोर रहता।

वैराग्यके साथ-साथ अभ्यासपर श्रीमहाराजजी बहुत बल देते थे। अभ्यास सम्बन्धी अपने अनुभवकी चर्चा करते हुए कहते—

आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योमकेवलम्।
आधिभौतिकतां नीतं पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥

यह अभ्यासका ही खेल है कि शुद्ध चिदाकाशरूप यह देह दृढ़ताका अभ्यास होनेसे, भूलके कारण, आधिभौतिक रूपमें पिशाच-जैसा खड़ा हो गया है। अतः सतत इसके विपरीत अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। शिथिल अभ्याससे काम नहीं चलेगा। सावधान चित्तसे निरन्तर अभ्यासमें लगे रहना होगा।

अभ्यासकी तीन श्रेणियाँ हैं—

१. स्थूल शरीरसे अपनेको भिन्न समझना। इस अभ्यासकी पुष्टि होनेपर सूक्ष्म शरीरमें आत्मत्वका अभिमान हो जाता है।

२. उसके उपरान्त शब्दादि विषयोंमें असंगताका अनुभव करना। इस अभ्यास द्वारा दृष्टि सूक्ष्म शरीरसे हटकर कारण शरीरमें स्थित हो जाती है।

३. फिर सुख और दुःखसे पृथक्ताका अनुभव करना। इस अभ्याससे अन्तःकरण-चतुष्टयसे हटकर शुद्ध आत्मामें स्थित हो जाती है।

अभ्यास और वैराग्यके बिना जीवन व्यर्थ है! सत्संग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है? वह तो वैसा ही है जैसे कोई रामायण तो पढ़े किन्तु रामभक्त न हो अथवा श्रीमद्भागवतका पारायण तो करे किन्तु कृष्णभक्त न हो। निरन्तर अभ्यास करते रहने और वासनाओंका पूर्णतया नाश कर देनेपर ही अनुभवकी प्राप्ति होती है। केवल शास्त्र पढ़नेसे कुछ नहीं होता। वासनाके रहते चित्तमें शान्ति नहीं आ सकती। वासना रहित चित्त ही परम तत्त्वके चिन्तनका अधिकारी होता है। निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही वासनाओंका निर्मूलन होता है और तत्त्वकी उपलब्धि होती है। वासनाओंके उच्छेदके लिए विषयोंसे सर्वदा वैराग्य रखे और सर्वदा भगवदाकार वृत्ति रखे। संयमसे दो-चार विषयोंका राग छूट सकता है। सम्पूर्ण विषयोंका राग तो भगवत्स्वरूपसे राग हुए बिना नहीं जा सकता। अभ्यासका ही प्रभाव है कि माँ-बहिनके समीप रहनेपर भी उनमें काम-भावना नहीं होती क्योंकि माँ-बहिनका भाव दृढ़ होता है।

महाराजजी जिह्वाके स्वादको सारे अनर्थोंकी जड़ मानते थे। कहते थे कि मैं जब राजा कृष्णचन्द्रकी पाठशालामें पढ़ता था तो एक दिन वहाँके विद्यार्थियोंने रसोइयाको इसीलिए पीटा कि उसने उन्हें खिचड़ी बनाकर नहीं दी थी। तबसे मैंने यह बात गाँठ बाँध ली कि जिह्वाका स्वाद ही सारे अनर्थोंकी जड़ है—'**जिते रसं जितं सर्वम्**' और '**जिह्वोपस्थजयी धृतिः।**' अतः मैंने रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रियपर विजय प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया, क्योंकि जो इन दोनोंको जीत लेता है, वही सर्वजित् है।

सभीके लिए उपयोगी साधनक्रमकी चर्चा करते हुए श्रीमहाराजजी 'दुर्वासना-प्रतीकार-दशकम्' के इस श्लोकको दोहराते थे—

जिह्वोपस्थसुखभ्रमं त्यज मनःपर्यन्तदुःखेक्षणात्।
पारुष्यं मृदुभाषणात्त्यज वृथाऽऽलापश्रमं मौनतः॥
दुस्सङ्गं त्यज साधुसङ्गमबलाद् गर्वं तु भङ्गेक्षणात्।
निन्दादुःखमनिन्द्य देवमुनिभिर्निन्दाकथासंस्मृतैः॥

'हे मन, सभी विषयोंमें दुःख देखकर तू जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय सम्बन्धी सुखकी भ्रान्तिका त्याग कर दे। मधुर भाषण द्वारा कटु भाषणका त्याग कर दे। मौनके द्वारा व्यर्थ भाषणके श्रमसे छुटकारा पा ले। कुसंगका त्याग कर। सत्संग कर, साधुसंग कर। अपमानपर दृष्टि रखकर गर्वका त्याग कर। इस बातका सदा स्मरण रखो कि बड़े-बड़े देवताओं और मुनियोंकी भी निन्दा होती रही है इसलिए अपनी निन्दाके दुःखका त्याग कर दे।'

साधकोंके लिए आसनकी स्थिरता और चित्तकी निःसंकल्पता परम आवश्यक है, ऐसा श्रीमहाराजजी बार-बार कहते थे। मन और प्राणका सम्बन्ध बताते हुए कहा करते थे कि शरीरमें भारीपन होता है वायु और कफके कारण। पित्त बढ़ जानेपर शरीर हल्का हो जाता है। पित्तकी गर्मी ही बिज़ली है। आसन और प्राणके स्थिर हो जानेपर शरीरमें बिजली उत्पन्न हो जाती है। यदि शरीरसे कोई क्रिया की जाती है तो बिजली निकल जाती है। बिजली रोकनेसे शरीर निरोग हो जाता है।

आसन स्थिर करनेके लिए ऐसा संकल्प करना चाहिए कि पृथिवीको धारण करनेपर जिस प्रकार शेष भगवान् बिलकुल स्थिर रहते हैं, रत्ती भर भी हिलते-डुलते नहीं, उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूँगा। मैं शरीर और प्राणका साक्षी हूँ, द्रष्टा हूँ। शरीर और प्राण भगवान्‌की विभूतियाँ हैं। मैं तटस्थ होकर इनका दर्शन कर रहा हूँ।

शरीर और प्राणकी गतिके द्रष्टा बननेका अभ्यास करना चाहिए। प्राणकी गति देखनेके लिए नाभिपर दृष्टि रखनी चाहिए। शरीर न हिलेगा तो प्राणकी गति बढ़ जायगी। यदि शरीर न हिले और प्राणकी गति बढ़ जाय तो समझना चाहिए कि निद्रा-तन्द्रा आ रही है अर्थात् मन लयकी दिशामें बढ़ रहा है। प्राणमें मनका लय होनेपर तमोगुण बढ़ता है। मनमें प्राणका लय होनेपर सत्त्वगुण बढ़ता है। तमोगुण बढ़नेपर प्राणकी गति बढ़ जाती है। सतोगुण बढ़नेपर प्राणकी गति स्थिर हो जाती है। जब मन प्राणके द्वारा कर्म करने लगता है तो रजोगुण बढ़ जाता है। उस समय प्राणकी गति तो सामान्य रहती है, पर मनमें संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं। इन संकल्पोंको हटाकर मनको लक्ष्यपर स्थिर करनेसे वह शान्त हो जाता है ।

आसन स्थिर कर लेना चाहिए। हर काम करते हुए बैठनेका जब प्रसंग

आये तो स्थिर आसनसे ही बैठे। जबतक दुखने न लगे तबतक आसनको न बदले। कुछ दिनके अभ्याससे आसन स्थिर हो जायगा। प्राणके स्थिर होनेसे सब विकार स्वतः शान्त होने लगते हैं। भूख-प्यासकी बाधा जाती रहती है। मल-मूत्र कम हो जाते हैं। कफ शुद्ध हो जाता है। ब्रह्मचर्यका अपने आप पालन होने लगता है। प्राण स्थिर हो जानेपर मनुष्य बालककी भाँति निर्विकार हो जाता है। द्रष्टा बननेकी पद्धति बताते हुए श्रीमहाराजजी कहते थे कि शरीर और प्राण भगवान्‌की वस्तु हैं, यह मान लेना उचित है। हम शरीर और प्राणसे पृथक् हैं। इन्हें भगवान्‌को ही अर्पण कर मैं साक्षीमात्र हूँ—इस प्रकारका अनुभव करना चाहिए। जो दृश्य है, काला-पीला, हरा-लाल जो कुछ दीखता है, उस सबसे मैं अलग हूँ, सभी प्रकारके रूपोंसे मैं अलग हूँ, इस प्रकारकी भावना करनी चाहिए। इतना कर लेनेके उपरान्त ऐसी भावना करना चाहिए कि सुख-दुःख-राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि मनकी कल्पनाएँ हैं, उनसे भी मैं सर्वथा अलग हूँ।

इसके लिए मन, शरीर और वाणी—इन तीनोंके व्यापारोंपर दृष्टि रखनी होगी। मनके व्यापारपर दृष्टि रखते हुए यह देखे कि मन किस प्रकारके संकल्प करता है? वे संकल्प कैसे हैं? पवित्र संकल्प हैं कि अपवित्र? इस प्रकार शरीरको स्थिर रखनेका प्रयत्न करे। वाणी को भी संयममें रखे। मन, शरीर और वाणीका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। तीनोंमें-से एकके भी चंचल होनेपर अन्य दोनों भी चंचल हो जाते हैं। अतः तीनोंको स्थिर करनेका प्रयत्न करे। किसी भी प्रकारकी व्यर्थ चेष्टा न करे। शरीरको बिना कारण हिलाना-डुलाना, तिनका तोड़ना या ऐसी ही अन्य व्यर्थ क्रियाएँ छोड़ दे। वाणीसे व्यर्थ न बोले। मनसे असत् चिन्तन न करे। ऐसे व्यर्थ व्यापार छोड़ देनेसे मन स्थिर हो जाता है।

सम्पूर्ण प्रपञ्चको उदासीन दृष्टिसे देखनेसे वासनाओंका क्षय होकर निर्विकल्प समाधि लग जाती है। प्रपञ्चका निषेध दो प्रकारका होता है—विवेकीका और बोधवान्‌का। विवेकी उसे अनात्मा जानकर अपने को उससे पृथक् अनुभव करनेके लिए उसका निषेध करता है। बोधवान् प्रपञ्चका अवस्तुत्व देखता है, इसलिए निषेध करता है। विवेकीके निषेधमें प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता रहती है। बोधवान् उसकी असत्ता देखता है।

चञ्चल मनको वशमें करनेका सरल साधन पूछने पर श्रीमहाराजजी कहते थे कि **'जैसे उड़ि जहाजको पंछी पुनि जहाज पै आवै।'** मनको यदि कोई अवलम्बन न मिले तो वह शान्त हो जायगा। मनके दो ही मार्ग हैं—एक है विषय चिन्तनका, दूसरा है ब्रह्म चिन्तनका। वह यदि ब्रह्म चिन्तनमें लगा रहे तब तो ठीक है, नहीं तो

वह विषयचिन्तन करने लगेगा। अतः उसे विषयचिन्तनसे पुनः-पुनः हटाकर ब्रह्मचिन्तनमें लगाते रहना चाहिए।

श्रुति कहती है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'**—ब्रह्मके अतिरिक्त यहाँ और कुछ है ही नहीं। बार-बार इसीका चिन्तन करनेसे विषयचिन्तनके लिए कहाँ गुञ्जाइश रहेगी? विषयोंसे वैराग्यके लिए **'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्'** की बात कही गयी है। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख और दोषोंका सतत चिन्तन करनेसे सच्चा वैराग्य होता है। फिर तो पग-पगपर ऐसे श्रुतिवाक्यकी अनुभूति होने लगती है।

शुद्धिके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर श्रीमहाराजजी कहते थे कि असत्य, हिंसा और व्यभिचारके त्यागसे शरीर शुद्ध होता है। भगवन्नामजपसे वाणी शुद्ध होती है। दान करनेसे धन शुद्ध होता है और धारणा तथा ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है आपका कहना था कि वाणीमें चार दोष हैं-१. आज्ञा देनेके स्वरमें बोलना, २. चिल्लाकर बोलना, ३. अश्लील शब्द बोलना और ४. कटु बोलना। उसमें पाँच गुण भी हैं-१. हितकर बोलना, २. थोड़ा बोलना, (मित भाषण) ३. शान्त रहना, ४. मीठा, मधुर बोलना और ५. प्रिय बोलना। वाणीके दोषोंको दूरकर गुणोंका विकास करनेसे वाणी शुद्ध होती है।

राग-द्वेषसे कैसे छुटकारा मिले, यह पूछने पर श्रीमहाराजजी साधकोंको विस्तारसे समझाते थे कि राग-द्वेष क्या हैं और कैसे उन्हें दूर किया जा सकता है? आप कहते थे कि मनुष्य जिस समय नीतिको भूल जाय और सदाचारके नियमोंका कोई ध्यान न रखे, उस समय ऐसा मानना चाहिए कि वह राग-द्वेषके अधीन हुआ है। अहंकार ही है राग-द्वेषका मूल। उसीमें-से ममत्व और परत्वकी भावना निकलती है। ममत्वका, ममताका नाम है राग। परत्वका नाम है द्वेष।

यदि किसी वस्तुसे मन इस प्रकार फँस जाय कि किसी भी प्रकारका अपमान, निरादर या दुःख होनेपर भी न हटे तो मानना चाहिए कि उसमें राग है। जैसे गोपियोंका श्रीकृष्ण भगवान्में था। यदि किसी वस्तुसे मन ऐसा हट जाय कि उसमें दोष-ही-दोष दिखायी दे, कोई भी गुण न दीख पड़े तो मानना चाहिए कि उसमें द्वेष है। जैसे कंसका श्रीकृष्णमें था। राग-द्वेषकी उत्पत्ति गुण-दोष या निन्दा-स्तुतिके चिन्तनसे ही होती है इनमें विषयोंका चिन्तन रहता है। इससे यही संसारके कारण हैं। निन्दा-स्तुतिके न करनेकी प्रतिज्ञासे राग-द्वेष दूर किये जा सकते हैं। पूर्ण ज्ञानी या भक्त राग-द्वेषसे मुक्त होता है। उसका ध्यान करनेसे भी राग-द्वेष छूट सकते हैं। राग-द्वेष छूट जानेसे चित्त हलका हो जाता है और उसमें

सत्त्वगुणकी प्रधानता हो जाती है। राग-द्वेषवाला व्यक्ति उन्नतिकी सुनहली पगडण्डीपर नहीं बढ़ सकता। निर्विकल्प तत्त्वका साक्षात्कार उन्हीं मुनियोंको होता है जो राग, भय और क्रोधसे मुक्त हो गये हैं—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमोऽद्वयः॥

महाराजजीका कहना था कि राग-द्वेष न तो भक्तको हो सकते हैं और न ज्ञानीको। कारण भक्तको प्रत्येक विधानमें भगवान्का आदेश दीख पड़ता है और ज्ञानी प्रारब्ध-भोग मानता है। इसलिए दोनोंमें ही न राग रहता है, न द्वेष। यों राग-द्वेषका मूल कारण है-अविवेक, विवेक होनेपर मन निःसत्त्व हो जाता है। तब उसमें राग-द्वेष कैसे रहेंगे? हाँ, रागकी निवृत्ति केवल विवेकसे नहीं होती। विवेकसे तो राग-द्वेषसे छुटकारा पानेकी कुञ्जी मिल जाती है। उसकी पूर्ण निवृत्ति होती है भगवत्प्रेमसे और आत्मप्रेमसे। भगवान्में राग हो या आत्मामें राग हो तो लौकिक राग छूटता है। लोहे बिना लोहा नहीं कटता।

ध्यानका मर्म बताते हुए महाराजजी कहते थे कि ध्यानके समय मुख्यरूपसे अपने इष्टके स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिए। यदि स्वरूपमें चित्त स्थिर न हो तो ध्येयकी लीलाओंका ही मनोराज्य करे। रोना हो तो इष्टदेवकी किसी लीलाका चिन्तन करते हुए रोये। हँसना हो तो भी उसकी लीलाका आश्रय लेकर हँसे। रामायणमें रामकी लीलाएँ हैं। भागवतमें कृष्णकी। उन लीलाओंका चिन्तन करना ही ध्यान है।

भगवान्के साकार स्वरूपका ध्यान करना हो तो पहले दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर सुखासनसे स्थिर होकर बैठे। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिर करे। मनको विषयोंसे विरत करे। आगे-पीछेकी बातोंका चिन्तन न करे। फिर अपने भगवान्के मनोहर अंगोंमें मनको घुमाये। क्रम-क्रमसे एक अंगसे दूसरे अंगपर अपने चित्तको ठहराये। फिर उसीको एकाग्र चित्तसे देखता रहे। इष्टके अतिरिक्त अन्य किसी विषयका चिन्तन न करे।

प्रतिदिन इस प्रकार अभ्यास करनेसे थोड़े दिनोंमें प्रसन्नता और आनन्दका आविर्भाव होने लगता है। क्रमशः शरीरमें स्तब्धता, रोमाञ्च, स्वेद और कम्प आदि लक्षण प्रकट होते है। धैर्यपूर्वक लगे रहनेसे इसमें सफलता प्राप्त होती है। भगवान्के स्मरण, सदाचार, निरभिमानतासे भगवत्कृपा मिलती है और उसमें सफलता। भगवच्चिन्तन होने लगता है, तब जगच्चिन्तन स्वतः छूट जाता है। ध्यानका अभ्यास बढ़नेपर चित्त भगवत्प्रेममें डूब जाता है। यही साधनाका पूर्णपद है, यही है- भगवत्साक्षात्कार।

महाराजजी ज्ञान और भक्तिकी चर्चा चलनेपर कहते कि ज्ञानका अधिकारी

होता है अत्यन्त वैराग्यवान। निर्मल बुद्धिवाला साधक भक्तिका अधिकारी होता है। भक्तिका साधक भक्तोंका सत्सङ्ग करे और भगवान्का गुणानुवाद करे। उसे अद्वैतवादी ग्रन्थोंको पढ़ने-सुननेकी जरूरत नहीं। भगवान्के सोपाधिक और निरुपाधिक, दोनों ही रूप स्वयं प्रकाश हैं। प्रेमी चाहे जिस रूपमें प्रेम करे, वह भगवान्से ही प्रेम करता है। भगवान् तो भक्तोंको आनन्दित करनेके लिए उनकी भावनाके अनुसार विभिन्न रूपोंमें भासते हैं। वस्तुतः वे सच्चिदानन्दस्वरूप ही हैं, जैसा कि गोसाईंजी कहते हैं-

निरगुन ब्रह्म सगुन भए कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।।

एक बार कथामें मैंने कहा कि 'जीव अपनेको भगवान्का भोग समझने लगे, इसीका नाम भक्ति है। भक्तकी दृष्टि अपने सुख पर कभी नहीं होती, वह तो सदा अपने प्रियतमको ही सुख पहुँचाना चाहता है।' कथा समाप्तिपर श्रीमहाराजजीसे इस प्रसंगपर चर्चा चली तो वे बोले-'भैया! जीवका परमप्रेमास्पद तो अपना आत्मा ही है, वह भ्रमसे भले ही किसी अन्यको अपना प्रियतम माने। जीव चेतन है, अतः वह कभी किसीका भोग-सदृश्य नहीं हो सकता। वस्तुतः वही सबका भोक्ता या द्रष्टा है। जो जीव विषयका भोक्ता होता है, उसे 'संसारी' कहते हैं और जो भगवान्का भोक्ता होता है, उसे 'भक्त'। इसी प्रकार समाधिका भोक्ता 'योगी' कहा जाता है और जो भोक्ता एवं भोगका बाध कर देता है, वह 'ज्ञानी' है।'मैं भगवानका भोग्य हूँ'- इस भावनामें जो दिव्य एवं अलौकिक रस है, भक्त उसका भोक्ता ही है।' 'मैं भोग्य हूँ'- यह भावना तो उसकी भोग्य ही है। अतः-'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' यह श्रुति समान रूपसे सभी जीवोंके स्वभावका निर्देश करती है।'

'ज्ञानी कौन है?' पूछनेपर श्रीमहाराजजी कहते थे कि ज्ञानका अधिकारी वह है जिसे देखी-सुनी किसी भी वस्तुसे मोह न रहे। सम्पूर्ण संसारमें ही नहीं, भगवान्से भी वैराग्य हो जाय। जिसके मल-विक्षेप निवृत्त हो गये हों तथा जो अत्यन्त वैराग्यवान हो : वही है ज्ञानी। ज्ञानीकी धारणाका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। मोटे तौरपर इतना कह सकते हैं कि मन्द ज्ञानीकी धारणा रहती है-संसार मिथ्या है। मध्यम ज्ञानीकी धारणा रहती है संसार स्वप्नवत् है। उत्तम ज्ञानीकी धारणा रहती है-संसारका अत्यन्ताभाव है, संसार कभी हुआ ही नहीं।

महाराजजी कहते थे कि ज्ञान दो प्रकारका होता है-वह जो सुन-सुनाकर होता है, दूसरा अनुभव द्वारा। पहला ज्ञान बोध नहीं कहा जा सकता। अनुभवगम्य ज्ञानके लिए दो बातें चाहिए-विवेककी स्फुरता और चित्तशुद्धि। विवेक दो प्रकार का होता है-नित्यानित्य वस्तु-विवेक और तत्त्व-विवेक। नित्यानित्यविवेक तो

अज्ञानके रहते हुए भी हो जाता है। उसमें वस्तुतः अनित्य वस्तुमें ही नित्य और अनित्य, ऐसे दो भाग कर लिये जाते हैं। चित्तकी दो अवस्थाएँ हैं-कार्यावस्था और कारणावस्था। इसमें कारणावस्थाको नित्य और कार्यावस्थाको अनित्य मान लिया जाता है। परन्तु वस्तुतः ये दोनों अनित्य हैं। किन्तु तत्त्व-विवेकमें साक्षी सम्पूर्ण प्रपञ्चसे पृथक् रहता है। पर यह भी पूर्ण बोध नहीं कहा जा सकता, कारण इसमें भी अपने भिन्न दृश्य वस्तुकी सत्ता बनी रहती है। जब साक्षी और साक्ष्यका विवेक हो जाय तब यह विचारे कि यह जितना प्रतीयमान दृश्य है वह अलग-अलग है या एक? जिस समय वह एक निश्चय हो जायगा, उसी समय उसके अत्यन्ताभावका बोध हो जायगा और अद्वैत तत्त्वमें स्थिति हो जायेगी।

'जीवंमुक्ति क्या है?' पूछनेपर महाराजजी कहते थे कि जो जिस प्रकार अज्ञात भाषामें तुम्हारी निन्दा या स्तुति की जाय तो तुम्हारा चित्त तनिक भी डाँवाडोल नहीं होगा, उसी प्रकार यदि तुम्हारी परिचित भाषामें तुम्हारी निन्दा या स्तुति की जाय और तब भी तुम्हें क्षोभ न हो तो मानना चाहिए कि तुम जीवन्मुक्त हो।

जीवन्मुक्त, ज्ञानी या बोधवान वही है जिसमें जीव, ब्रह्म आदि किसी प्रकारका अहंभाव नहीं है, जो व्यवहारमे सब काम ठीक-ठीक करता है, परन्तु परमार्थतः सबका अत्यन्ताभाव देखता है और दृश्यमें जिसकी मिथ्यात्व बुद्धि भी निवृत्त हो गयी है। बोधवान वही है जिसके कुछ हुआ है और कुछ नहीं हुआ है, ऐसे दोनों भाव निवृत्त हो गये हैं। कुछ हुआ है-इससे व्यवहार सत्तामें राग रहता है और कुछ नहीं हुआ है- इससे उसमें द्वेष रहता है। बोधवान राग और द्वेष, दोनोंसे परे रहता है।

वृन्दावनके श्रीकृष्णाश्रममें पूज्य महाराजजीकी सन्निधिमें नित्य-निरन्तर आनन्द ही आनन्द बरसता रहा। आप कहते थे कि हमारा आश्रम तो साक्षात् बैकुण्ठ है। आपका जीवन-दर्शन और ब्रह्मदर्शन अभिन्न था। बड़े-से-बड़ा मान अथवा बड़े-से-बड़ा अपमान आपको क्षुब्ध नहीं कर पाता था। उदारता, क्षमा, अक्रोधके आप मूर्तिमन्त प्रतीक थे। कहते भी थे कि मुझे कहीं भी ले जाओ, किसी भी परिस्थितिमें क्रोधका नाम-निशान नहीं भासेगा। बड़ी-सी-बड़ी विपत्ति, संघर्ष या बाह्य घटना आपको छू नहीं पाती थी।

एक बार स्व. पं. सुन्दरलालने अत्यन्त कातर होकर कहा- 'बाबा सब बिगड़ रहे हैं, कुछ ख्याल करो!' महाराजजी बोले-'पण्डितजी, क्या मैं अपना स्वभाव बिगाड़ूँ? इन मूर्खोंको डण्डा लेकर मारूँ? मैं एम.ए. क्लासका मास्टर हूँ। इशारेसे बताता हूँ। करो तो करो, नहीं तो मरो। थाल परोसकर रखा है। उसे खाना और पचाना इनका काम है।' पण्डितजी कहते थे-'यह बाबा नहीं माँ है'-

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

भक्तों और श्रद्धालुओंकी विवेक रहित श्रद्धा और दुराग्रहके चलते श्रीमहाराजजीको एक-एक दिनमें कई बार मुँह जूठा करना पड़ता था। लाख रोकनेपर लोग न मानते। इसका कुपरिणाम शरीरपर पड़ता ही था। आप बहुमूत्र रोगसे पीड़ित हो गये, शरीर सूज गया। दिन-दिन अवस्था गम्भीर होने लगी। पूज्य माता आनन्दमयीने कहा : पिताजी, आप संकल्प करें तो आप ठीक हो जायँगे, परन्तु आप क्यों संकल्प करते? उन दिनों आप प्रायः गुनगुनाते थे-

गोवर्धन कूँ जाऊँ वीर, ना मानै मेरो मनुवाँ।

होशियारपुरमें आपको रखकर स्वास्थ्य-सुधारका कार्यक्रम बनाया गया। पंजाब की यात्रा भी की गयी, पर सरहिन्दसे ही वृन्दावन लौट आनेका निश्चय किया गया। शरीरकी स्थिति दिन-दिन बिगड़ती ही चल रही थी।

चैत्र कृष्णचतुर्दशी, स. २००५। श्रीमाताजी काशीके लिए और हरिबाबा झूँसीके लिए विदा हुए तो महाराजजी उन्हें कारतक पहुँचानेके लिए पधारे। प्रातःकालीन प्रवचनमें '**जातस्य हि ध्रवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च**'-गीताश्लोक की व्याख्या की। मध्याह्नोत्तर सत्संगमें 'भागवती कथा' पढ़ी जा रही थी और श्री महाराजजी समाधिसे बैठे श्रवण कर रहे थे। लगभग पचीस श्रोता सामने बैठे थे।

तभी अचानक पीछेकी औरसे एक अर्धविक्षिप्त-सा ठाकुरदास नामक व्यक्ति आया और उसने बड़ी तेजीसे एक गँड़ासे-से श्रीमहाराजजीके सिरपर तीन बार वार कर दिया!

चार इञ्च गहरा घाव। पहली चोट लगनेपर महाराजजीका हाथ सिरपर गया और उसकी एक उँगली कट गयी। न चीख-पुकार, न छटपटाहट। लोग दौड़े डाक्टरकी तलाशमें। महाराजजीको तनिक होश आया तो पूछा-'क्या हो रहा है?' मानो उनके शरीरपर नहीं, कहीं अन्यत्र आघात लगा हो। प्रणवका उच्चारण करके उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये जो पुनः खुलनेको नहीं थे। सन्तोंने शरीरको यमुनाजीमें जलसमाधि दे दी। जैसा पवित्र जीवन वैसा ही पवित्र निर्वाण!

सं. २०१९ की शिवरात्रिको महाराजजीके अर्चाविग्रह प्रतिष्ठाका महोत्सव मनाया गया। अनेक दर्शक कहते हैं कि यह मूर्ति क्या है, साक्षात् उड़ियाबाबा महाराज ही हैं। वह मानो अपनी मधुर मुस्कान बिखेरती हुई सबको अभय दे रहे हैं-

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

ऐसे पुण्यश्लोक श्रीमहाराजजीके चरणोंमें हमारे कोटि-कोटि प्रणाम!

❀

स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज

'तेज एक है। वही तेज जल आदिके क्रमसे घट होता है। घटमें जल एवं जलमें सूर्य आदि रूप तेजका ही होता है। अनेक घटोंमें अनेक प्रतिविम्ब तेजके होते हैं। उन प्रतिविम्बोंकी अपेक्षासे ही तेजमें विम्बत्वकी कल्पना होती है। विम्ब, प्रतिविम्बकी एकता समझना सुगम है, परन्तु घट, जल एवं तेजकी एकता समझना कठिन है। इसी प्रकार आत्मा परमात्माका विम्ब-प्रतिविम्ब रूपसे एकता समझ लेना अनायास-सिद्ध है। परन्तु अचेतन रूपसे प्रतीयमान प्रपञ्चकी परमात्मासे एकता अनुभव करना कठिन है। अतः प्रपञ्चकी परमात्मासे एकता अनुभव करनेके लिए बाध-प्रक्रियाका आलम्बन लेना पड़ता है। वस्तुतः एक ही परमात्मा मायात्मक ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति आदिके योगसे विविध नाम-रूपका आधार बनता है। वही शिव, विष्णु आदि भी होता है। वही अपनी अनिर्वचनीय शक्तिके द्वारा राम, कृष्ण आदिके रूपमें भी प्रकट होता है। भक्तगण अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उसकी उपासना करते हैं। नाम अनेक होनेपर भी, कल्पनाएँ अगणित होनेपर भी परमात्मा परमार्थतः एक ही है। जिस-जिस भावसे उसकी उपासना की जाती है, वही-वही होकर वह अनुभवका विषय होने लगता है। नामरूप क्रियाकी अनेकता होनेपर भी परमात्मामें अनेकताकी गन्ध भी नहीं है। वह एक है, अद्वितीय है, निर्गुण है।'—यह है श्रीकरपात्रीजी महाराजकी समन्वय-दृष्टि, जो श्रुति, स्मृति पुराणके सर्वथा अनुरूप है। और इस दृष्टिसे शास्त्रका कोई भी अंश असंगत अथवा त्याज्य नहीं रहता है। अनिर्वचनीय माया सब भेदोंका निर्वाह कर लेती है, परमार्थ तत्त्व ज्यों-का त्यों निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष तथा निर्धर्मक ही रहता है।

श्रीकरपात्रीजी महाराजके साथ ४०-४५ वर्षतक सत्सङ्ग एवं आलापका सौभाग्य मिलता रहा। एक बार अपने हृदय-पटलपर हम उनकी स्मृतियोंकी जगमगाती हुई झलक देखनेका प्रयास करते हैं।

सर्वप्रथम लोगोंमें यह चर्चा फैली कि गंगातटपर एक कौपीन-मात्र धारी महात्मा विचरण करते हुए आ रहे हैं। उनके पास वस्त्र है, कौपीनाच्छादन मात्र। पात्र कोई नहीं है। ब्राह्मणोंके घरसे हाथपर ही भिक्षा लेकर करते हैं। कोई संग्रह नहीं, परिग्रह नहीं। कोई शिष्य-सेवक नहीं। हमारी सत्सङ्ग-प्रिय मित्र-गोष्ठी दर्शनके लिए उत्सुक हुई। परन्तु, दर्शनमें एक प्रतिबन्ध पड़ गया। मेरे मामा पण्डित पद्मनाभ मिश्र जो काशीके प्रख्यात विद्वान् पं० श्री चन्द्रधर शर्माके साथी थे और स्वयं दूध-दहीपर अपना जीवन व्यतीत करते थे एवं बड़े मस्त प्रकृतिके थे, उन्होंने हमको बुलाया और पूछा कहाँ जा रहे हो? तब हम लोगोंने उस युवा-अवधूतकी महिमा सुनायी।

'तुम लोग थोड़े दिन, ठहर जाओ। पहले हम देख लेंगे, फिर जाने देंगे।'— मामाजी बोले। हमारा दर्शन तो प्रतिबद्ध हो गया; किन्तु मूलमें लालसा बनी रही। थोड़े दिनों बाद श्री करपात्रीजी महाराजने दण्ड ग्रहण कर लिया। दिग-दिगन्तमें उनके पाण्डित्यका प्रकाश व्याप्त होने लगा। हमें ज्ञात हुआ कि वे नरवरके षड्दर्शनाचार्य स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजीसे विद्याध्ययन कर चुके हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे सत्सङ्ग करते रहे एवं श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराजसे (तबतक वे ज्योतिष्पीठाधीश्वर नहीं हुए थे) दण्ड ग्रहण किया है। वे सनातन धर्मकी पद्धतिके पूर्ण समर्थक हैं एवं शास्त्रोंके अक्षर, पंक्ति मात्रमें निष्ठा रखते हैं तथा अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं प्रसन्न-गम्भीर विद्याके द्वारा सबका समन्वय करते हैं; युक्तियुक्त सिद्ध करते हैं। अब उनके दर्शनकी उत्कण्ठा अधिकाधिक प्रबल होने लगी।

स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज अब जिनका नाम श्रीहरिहरानन्दजी सरस्वती हो चुका था के दर्शनका सुयोग तो तब मिला, जब मैं झूसीमें ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजके सम्वत्सरव्यापी संकीर्तनमें श्रीमद्भागवतपर प्रवचन कर रहा था। प्रसंग था, ग्यारहवें स्कन्धका। मैंने उसमें प्रतिपादन किया कि अनिवर्चनीय मायाके योगसे परमेश्वर ही प्रपञ्चके रूपमें भास रहा है। जीव अनादि है। प्रपञ्चमें इसका अध्यास भी अनादि है। इस अध्यासके कारण ही यह अपनेको कर्त्ता मान रहा है। अकर्ता आत्मामें कर्तृत्व-बुद्धि ही अध्यास है। अध्यास ही बन्धन है। इसीके कारण जीव लोक-परलोक, पुर्नजन्मके संकटमें फँस गया है। इसको इससे मुक्त करनेके लिए शास्त्र, विधि-निषेधका विभाग बनाता है।

ईश्वरके अनुग्रहसे, यह जीव विहितका अनुष्ठान करता है और निषिद्धका त्याग करता है। इससे अन्त:करण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्त:करणें, ईश्वर-स्वरूपके बोधकी योग्यता आ जाती है। योग्य अधिकारी, अपने और परमात्माके स्वरूपकी सिद्ध एकताका अनुभव करता है। 'अध्यास' अर्थात् अनात्मामें आत्माका भ्रम मिट जाता है। जो मायिक प्रपञ्च पहले सत्य अज्ञानीकी दृष्टिसे माया थी, ज्ञानीकी दृष्टिसे वह अपना अस्तित्व नहीं रखती है। फिर तो यह नाम-रूप क्रियात्मक प्रपञ्च भी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-रूप ही अनुभव होता है।

भागवतके प्रवचनसे उठनेके बाद जब श्रीकरपात्रीजी महाराज, गंगा-तटपर विरक्तोंसे मिलनेके लिए जाने लगे, तब मैं भी उनके पीछे हो गया। उस समय वे संस्कृतमें ही भाषण करते थे। मेरे प्रवचनकी उन्होंने प्रशंसा की; शास्त्रानुकूल एवं संगत बताया। बादमें उन्होंने पूछा कि सुना है, तुम श्रीकृष्ण-लीलाका बहुत बढ़िया वर्णन करते हो तो तुम सिद्धान्त-रूपसे उसका निरूपण करते हो या परमतके रूपमें? मैंने कहा—'परमतके रूपमें।' उनके मुखसे संस्कृतमें शब्द निकला— **'त्वन्मुखे घृतशर्करा'** अर्थात् तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। विरक्तोंमें उनकी ब्रह्मविद्या, दर्शन-शास्त्र एवं अद्भुत प्रतिभाकी प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। वे उस समय उदीयमान सूर्यके समान चमक रहे थे।

उन्हीं दिनों गीताप्रेसके संस्थापक सेठ जयदयालजी गोयन्दका श्रीब्रह्मचारीजीके आमन्त्रण पर संकीर्तन-उत्सवमें झूसी आये हुए थे। वे श्रीकरपात्रीजी महाराजसे मिले। सेठजीने यह प्रश्न उठाया—'ज्ञानीके जीवनमें काम, क्रोधादि दोष रहते हैं अथवा नहीं?' सेठजीका कहना था कि यदि तत्त्वज्ञानीके जीवनमें ये विकार बने रहेंगे, तो दु:खकी निवृत्ति नहीं हुई तो कोई भी तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न क्यों करेगा? यह प्रश्न सेठजी इसके पहले कुम्भ-मेलामें आये हुए अन्य महापुरुषोंसे भी कर चुके थे। महामण्डलेश्वर भारत-प्रसिद्ध श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराजने विकारोंका कारण अविद्या-लेशको बताया। जैसे किसी दोनेमें चम्पाका पुष्प पहले रखा हुआ हो और उसको हटा देनेपर भी दोनेमें थोड़ी-सी गन्ध रह जाती है, वैसे ही ज्ञानीके अन्त:करणमें अविद्याका लेश रह जाता है। इससे विकार होते देखे जाते हैं। सेठजीको यह उत्तर नहीं जँचा था। उनका कहना था कि 'अविद्या यदि सद्वस्तु है तो अद्वैत हो जायेगा। यदि अविद्या असद् वस्तु हो तो उससे बन्धनोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतएव अज्ञानी अज्ञानमें रहकर ही अविद्याकी कल्पना करता है; तत्त्वज्ञान होनेपर न अविद्या है, न अविद्याका लेश ही है।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका कहना था कि 'तत्त्वज्ञकी स्वदृष्टिसे अविद्या तत्कार्य नहीं है। भ्रान्त दृष्टिसे ही कल्पित है। अतएव अविद्या एवं तत्कार्यकी स्थिति अनिवर्चनीय ही है, वास्तविक नहीं है।'

सेठजीने प्रश्न श्रीकरपात्रीजी महाराज¯से किया और तत्त्वज्ञके जीवनमें विकार माननेसे समाजकी हानिका प्रतिपादन किया।

श्रीकरपात्रीजी महाराजने निरूपण किया कि 'औपनिषद महावाक्यके द्वारा अखण्डका साक्षात्कार होनेपर अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, यह तो ठीक है। परन्तु जबतक शरीर है तबतक उसमें यौवन, वार्द्धक्य, रोग आते रहते हैं। स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ भी आती हैं। साक्षीके ब्रह्मत्वका बोध होनेसे अन्त:करण एवं विषयके भानमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। ब्रह्मविद्या, केवल भ्रमको निवृत्त करती है, भासमानको नहीं। अतएव साक्षी-भास्य अन्त:करणमें यदि तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी विकार आते हैं, तो उससे मुक्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि आत्मा तो नित्य मुक्त-स्वरूप है। अविद्याकी निवृत्ति तो केवल उपलक्षण-मात्र है। इसलिए समाजके लिए यही हितकारी है कि उसे ज्ञात रहे कि तत्त्वज्ञके जीवनमें भी विकार हो सकते हैं और वह अन्धश्रद्धाके वश होकर ज्ञानीको निर्विकार समझकर, ठगे न जायँ और धोखे में न पड़ें। इससे सम्प्रदायकी कोई हानि नहीं होगी प्रत्युत सत्यवादी होनेके कारण समाजमें उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। सेठजीको यह बात मान्य नहीं थी।

जब हमलोगोंने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा, तब वे बोले कि निर्विकारता और विकारिता दोनों ही अज्ञ दृष्टिका अनुवाद है। वस्तुत: अपना स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ही है।

श्रीकरपात्रीजी महाराजके निर्भय निरूपणसे, कुम्भके मेलेमें उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी एवं उनकी विद्याका यश चारों ओर फैलने लगा। मेरे चित्तपर उनके वैराग्य, त्याग, विलक्षण प्रतिभा एवं शास्त्रज्ञानका अत्यधिक प्रभाव पड़ा और मेरे मनमें उनसे बारम्बार मिलने, दर्शन, सत्संगकी आकांक्षा बढ़ने लगी।

आगरा जिलेमें एक खाड़ा नामका छोटा-सा ग्राम है। उन दिनों कर्णवासवाले स्वामी विवेकानन्दजीके प्रभावसे वेदान्त-विचार करनेवाले कई ज्ञान-निष्ठ पुरुष वहाँ थे। जिसमें श्रीचोखेलालजी, भूरेलालालजी, प्यारेलालजीका नाम मुझे स्मरण है। उन लोगोंने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे परामर्श कर अपने गाँवमें 'ब्रह्मसत्र ' का विशाल आयोजन करनेका निश्चय किया। बाबाने आना स्वीकार किया। श्रीकरपात्रीजी महाराजसे अनुरोध किया

स्वामीश्री करपात्रीजी महाराज

गया। वे भी आनेको तैयार हो गये। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने उन लोगोंसे कहा कि शान्तनुको भी ले चलो। मेलेमें आये हुए बड़े-बड़े सन्त आमन्त्रित किये गये। सप्ताह-व्यापी महान् ब्रह्मसूत्र-सत्र हुआ। उसमें श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके अतिरिक्त दण्डी-स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी जिनसे नरवरमें श्रीकरपात्रीजीने वेदान्त एवं दर्शन-शास्त्रका गम्भीर अध्ययन किया था, पधारे। दस-बीस हजार तक लोगोंकी भीड़ होती । वहाँके लोगोंने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथ जो वेदान्तका प्रश्नोत्तर किया था, वह 'ज्ञानी एवं ज्ञान-निष्ठा' लेखमें प्रकाशित हो चुका है। श्रीकरपात्रीजी महाराजने सात दिनोंमें केवल **'श्रीभगवान् उवाच'** एतावान् मात्रका प्रवचन किया। यद्यपि उन्हें पूरे पन्द्रहवें अध्यायपर प्रवचन करना था। उसमें उन्होंने विभिन्न मतोंके अनुसार भगवान्के स्वरूपका निरूपण किया। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य श्रीकृष्णमें किस प्रकार हैं और महाभारत आदि ग्रन्थोंमें किस प्रकार उनका वर्णन है—यह सब तो सुनाया ही, जो सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, विनाश, गति, अगति, अविद्या, एवं विद्याको जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है। इन लक्षणोंके विस्तारमें ही सात दिन व्यतीत हो गये। वहाँ मुझे पञ्चदशीपर प्रवचन करनेका दायित्व दिया गया। मैंने भी उनके देखादेखी 'तृप्तिदीप' प्रकरणके **'आत्मानन्द चेत् विजानीयात्'** इस वचनका व्याख्यान सात दिनोंमें किया।

उस महोत्सवकी यह विशेषता थी कि सबके प्रवचनमें सब बैठते थे। सबका सब सुनते और अपनी-अपनी रावटीमें बैठकर प्रवचनोंपर टीका-टिप्पणी भी करते। इतने बड़े महात्माओं और विद्वानोंका एक छोटे-से गाँवमें एकत्र होना एक अद्भुत बात थी।

श्रीकरपात्रीजी महाराज अपनी विलक्षण प्रतिभासे सभी महात्माओंको प्रभावित कर देते थे। उनका कहना यह था कि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे प्रत्यगात्म-स्वरूप ब्रह्मका बोध हो जाय तो वेदोंकी प्रमाणिकता ही नष्ट हो जायेगी। प्रमाण वही होता है जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत एवं अबाधित वस्तुका असंदिग्ध बोध कराता है। नित्य परोक्ष स्वर्गादि-रूप फल, यज्ञ-यागादि धर्मके अनुष्ठानसे कैसे मिलते हैं, यह बात वेद-शास्त्रोंके अतिरिक्त और किसी भी प्रकार जानी नहीं जा सकती। (यज्ञ-यागादि) रूप प्रत्यक्ष धर्मका परोक्ष फलके साथ सम्बन्ध बतानेमें ही शास्त्रोंकी सार्थकता है। धर्मका ज्ञान केवल लौकिक दृष्टिसे नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह थी कि नित्य-अपरोक्ष आत्मा केवल अज्ञानके कारण ही

अप्राप्त-सा हो रहा है। वह भी शास्त्रोंके अतिरिक्त और किसी प्रमाणसे ज्ञात नहीं हो सकता। जैसे, शब्दादि विषय, श्रोत्र, चक्षु आदिके द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं—अपने-अपने विषयमें सब प्रमाण स्वतंत्र होते हैं, इसी प्रकार प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्म-तत्त्वके सम्बन्धमें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण यदि शास्त्रोक्त विषयका समर्थन करनेमें उपयोगी हों तो उनको भी मान्य करना चाहिए।

वैसे तो मैंने ब्राह्मण-महासम्मेलनमें भारतवर्षके धुरन्धर विद्वानोंके, जिनमें लक्ष्मण शास्त्री द्राविण, श्रीपञ्चानन तर्करत्न, श्रीचित्र स्वामी, श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्री आदि सम्मिलित थे—इस विषयका विचार-विनिमय सुना था। परन्तु श्रीकरपात्रीजी की नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा साधारण जनताको भी श्रुति-स्मृतिपर विश्वास करनेके लिए बाध्य कर देती थी।

श्रीकरपात्रीजी महाराजका कहना था कि वेद भेदका प्रतिपादक नहीं हो सकता। क्योंकि भेद, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध ही है। यदि वेद भी उसीका प्रतिपादन करेंगे तो वे प्रमाण नहीं होंगे, अनुवाद होंगे। दूसरा कारण यह है कि भेदका अधिकरण क्या होगा? भेद या अभेद? भेदमें भिन्नता तो है ही, उसका अधिकरण भी होना ही चाहिए। अभेदरूप अधिकरणमें प्रतीत होनेवाला भेद मिथ्या ही होगा; क्योंकि भेद जहाँ नहीं है,वहीं प्रतीत हो रहा है। अपने अभावके अधिकरणमें जो वस्तु दीखती है, वह मिथ्या होती है। वेद यदि भेदका प्रतिपादक है तो उसे मिथ्या-भाषी मानना पड़ेगा। श्रुतिमें भेदकी निन्दा है, भेद समझनेवाले व्यक्तिको भय होता है। परमार्थ वस्तुको दूसरी माननेपर पशुत्वकी प्राप्ति होती है। वह या तो ऐन्द्रियक विनश्वर होगा या फिर केवल कल्पना मात्र होगा।

इतने बड़े-बड़े महात्माओंके बीचमें, विद्वानोंके सामने जब वेद-शास्त्रोंको युक्ति-युक्त सिद्ध करनेके लिए श्रीकरपात्रीजी महाराजकी प्रतिभा प्रस्फुटित होती थी तो सभी लोग मुग्ध हो जाया करते थे।

श्रीकरपात्रीजी महाराज वेदकी अपौरुषेयतापर दृढ़ थे। वेदके कर्त्ताका कहीं भी वेदमें वर्णन नहीं है। वेद, अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परासे प्राप्त है। अन्य प्रमाणोंसे अनधिगत एवं अबाधित वस्तुका प्रतिपादक है। ज्ञानात्मक होनेसे वेदका वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ही है। अनात्मा होनेपर वेद भी अनात्मकक्षामें निक्षिप्त हो जायेगा। यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि कोई भी व्यावहारिक वस्तु ब्रह्मज्ञानके अव्यवहित-पूर्वक्षण-पर्यन्त बाधित नहीं होती। अतएव जिसको ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है, उसको किसी भी व्यावहारिक वस्तुको

मिथ्या कहनेका अधिकार नहीं है। वर्णाश्रमोचित व्यवहार ब्रह्मज्ञान-पर्यन्त करना ही चाहिए। जो लोग वर्णाश्रम-मर्यादाका उल्लंघन करके संकीर्तन करते हैं या मनमाने अनुष्ठान करते हैं, मन्त्रोपदेश करते हैं, उनके प्रति श्रीकरपात्रीजी महाराजका बड़ा कठोर दृष्टिकोण था। वे खुले रूपसे उनका खण्डन करते थे।

श्रीहरिबाबाजी महाराज संकीर्तनके प्रारम्भमें प्रणवका उच्चारण करते थे। पण्डित श्रीमदनमोहनजी मालवीय हरिजनोंको भी सामूहिक रूपसे प्रणव, स्वाहा आदि संयुक्त मन्त्रोंका उपदेश करते थे। श्रीकरपात्रीजी महाराजने दोनोंका विरोध किया। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके पास सन्देश भेजा कि श्रीहरिबाबाजीको प्रणव उच्चारण करनेको मना कीजिये। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने कहा कि जबतक कोई पूछे नहीं तबतक किसीको उपदेश नहीं करना चाहिए-'**न पृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्**' (मनुस्मृति)। यदि श्रीहरिबाबाजी मुझसे पूछें तो मैं उनको बतला सकता हूँ। वे महात्मा हैं, जो वे करते हैं उसमें मैं हस्तक्षेप क्यों करूँ? इस उत्तरसे श्रीकरपात्रीजी महाराज कुछ असन्तुष्ट हुए। यद्यपि वे छात्रावस्थामें नरवरमें पढ़ते समय बाबाके पास, रामघाट एवं कर्णवासमें प्रत्येक अनध्यायके दिन सत्संग करनेके लिए आते थे और उनकी श्रद्धा भी बहुत अधिक थी, फिर भी शास्त्रनिष्ठाके कारण अपने व्यवहारमें कुछ परिवर्तन करना पड़ा।

पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजीके साथ इसी विषयको लेकर ऋषिकेशमें शास्त्रार्थ हुआ। कई दिनोंतक श्रीकरपात्रीजी एवं मालवीयजी अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते रहे। मालवीयजी पुराणोंसे भगवन्नाम-मन्त्र, पूजा आदिके वचन उद्धृत करते। श्रीकरपात्रीजी धर्मशास्त्र एवं मीमांसाकी दृष्टिसे उसका खण्डन करते। दोनों अपने-अपने निश्चयपर अडिग रहे। इस शास्त्रार्थमें मध्यस्थता करनेके लिए दो व्यक्ति चुने गये थे। १. श्रीजयदयालजी गोयन्दका, गीताप्रेसके संस्थापक। २. काशीके विद्वान् सेठ श्रीगौरीशंकर गोयन्दका। गौरीशंकरजीने स्पष्टरूपसे श्रीकरपात्रीजीके पक्षमें अपना निर्णय दिया। परन्तु, सेठ जयदयालजी ने कहा कि एक रकम सेती युक्ति-परिस्थिति आदिकी दृष्टिसे मालवीयजीका पक्ष परिपुष्ट है और शास्त्रीय दृष्टिसे करपात्रीजीका। इससे करपात्रीजी महाराज किञ्चित् अप्रसन्न हुए परन्तु, शास्त्रार्थमें उनकी विजय तो हो ही गयी थी। उस समय यह बात आगे नहीं बढ़ी।

जिन दिनों मैं गोरखपुरमें 'कल्याण'के सम्पादन-विभागमें काम करता था, सेठ श्रीजयदयालजीने '**विद्या, अविद्या एवं सम्भूति, असम्भूति**' **के सम्बन्ध में एक लेख लिखा। लेखमें प्रत्यक्षरूपसे ही शाङ्करभाष्यका खण्डन था। उन्होंने अपने**

लेखमें 'विद्या' का अर्थ ब्रह्मविद्या किया था तथा 'असम्भूति' का अर्थ 'ईश्वर'। जहाँतक मुझे स्मरण है दोनोंके सम-समुच्चयका प्रतिपादन किया था। श्रीकरपात्रीजी महाराजने उस लेखका खण्डन 'कल्याण' में प्रकाशित करनेके लिए लिख भेजा। परन्तु, 'कल्याण' में वह लेख प्रकाशित नहीं हुआ। श्रीकरपात्रीजी इससे असन्तुष्ट हुए। 'कल्याण' को अपना लेख तो देना बन्द कर ही दिया, कहींसे उद्धृत करके भी अपने लेखोंको छापनेसे मना कर दिया। वे अपनी निष्ठामें अत्यन्त दृढ़ एवं असंदिग्ध थे। मैंने भाईजीसे कहा कि शाङ्करभाष्य सर्वथा युक्तियुक्त एवं अनुभव-संगत है। श्रीकरपात्रीजीने उसका उचित समर्थन किया है। उनका लेख न छापना ठीक नहीं। भाईजीने कहा कि आप एक लेख लिख दीजिये, वह छाप दिया जायेगा।

बात यह थी कि अविद्यारूप-कर्मके साथ जो विद्याका समुच्चय है, वह विद्या देवलोकादि-प्रापक उपासना-विद्या है अथवा ब्रह्म-विद्या? सामान्य दृष्टिसे उसका अर्थ ब्रह्मविद्या लगता है। इस बातपर ध्यान नहीं जाता कि वहाँ 'अविद्या' से अन्धन्तममें प्रवेश होना कहा गया है तो विद्यासे उससे भी अधिक घने अन्धन्तममें प्रवेश कहा गया है। यह बात ब्रह्मविद्याके साथ कदापि संगत नहीं हो सकती। अतएव यहाँ 'विद्या' शब्दका अर्थ देवलोकादि-प्रापक होना चाहिए, ब्रह्मविद्या नहीं। वैसे ही विद्याका समुच्चय 'अविद्या' के साथ अभिप्रेत है। इसीसे अमृत नहीं है। यही बात सम्भूति और असम्भूतिके सम्बन्धमें भी है। ईश्वरकी उपासना, सम्भूतिकी उपासनाकी अपेक्षा अधिक अन्धकारमें ले जानेवाली नहीं हो सकती। केवल शब्दोंके चक्करमें पड़कर शास्त्र-सिद्धान्तकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मविद्या एवं उपासना-विद्यामें स्पष्टतः अन्तर है। 'ब्रह्मविद्या' वस्तु-तंत्र है, 'उपासना विद्या' कर्तृतन्त्र। कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणमें वैराग्य हो सकता है। परन्तु देवलोकमें भोगाधिक्यके कारण वैराग्य हो सकता है। परमार्थ वस्तुके साक्षात्कारके सामने वह घोर अन्धन्तम ही है। ईश्वरोपासना भी अन्धन्तमकी प्रापक नहीं हो सकती। उपासना एवं ब्रह्मविद्याके स्वरूप, हेतु एवं फलमें भिन्नता है। यह सब बातें 'ईशावास्य' के उपसंहार भाष्यमें आचार्य शंकरने स्पष्ट कर दी हैं। मैंने श्रीकरपात्रीजीके विचारोंका समर्थन करनेके लिए, 'कल्याण' में यह लेख लिखा जो, 'लेखक—एक विद्वान्' के नामसे प्रकाशित हुआ।

श्रीकरपात्रीजी मुझसे प्रसन्न थे और बहुत स्नेह करते थे। विशेषकरके 'कल्याण' के साधारण अंकोंमें मेरे सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए। भागवतकी

भूमिका (जो अब 'भागवत-दर्शन' में प्रकाशित हुई है) भागवतका अनुवाद, साधना-अंक आदिमें मेरे लिखे लेखोंको देखकर, पढ़-सुनकर वे कभी-कभी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते थे और प्रशंसा भी करते थे। मैं उनके सिद्धान्तको भली-भाँति समझता था। धर्म एवं ब्रह्म शास्त्रैकगम्य हैं। नित्य-परोक्ष एवं नित्य-अपरोक्ष वस्तुके साक्षात्कारमें वाक्य ही प्रमाण होते हैं, प्रत्यक्ष अनुमानादि नहीं। प्रत्यक्ष, अनुमानादिके द्वारा शास्त्रोक्त पदार्थको युक्ति-युक्त सिद्ध करना चाहिए। वे सहायक हैं, परन्तु शास्त्रके विरुद्ध होनेपर वे तुच्छ एवं अकिञ्चित्कर हैं।

'कल्याण' के सम्पादन-विभागने परस्पर परामर्श करके यह निश्चय किया कि मुझपर श्रीकरपात्रीजी प्रसन्न रहते हैं, अतः उनके प्रसादका लाभ उठाकर उन्हें मना लिया जाय। मुझे बलिया भेजा गया। भृगुमुनिके स्थानमें श्रीकरपात्रीजी ठहरे हुए थे। काशीके पण्डितराज श्रीसभापति उपाध्याय वहाँ आये हुए थे। सत्संगकी चर्चाके अनन्तर मैंने उनसे 'कल्याण'के लेखके लिए प्रार्थना की। वे हँसते हुए प्रसन्न मुद्रामें बात करते रहे। सेठ जयदयालजीमें क्या विशेषता है, हनुमान प्रसादको भगवान्‌के दर्शन हुए हैं क्या? उन लोगोंके भक्त जैसा मुझे बताया करते थे, वह सब मैंने उनको बताया। सेठजीमें विचार एवं उदारताकी प्रधानता है। वे वर्णकी श्रेष्ठतामें कर्मको विशेष, जातिको गौण मानते हैं। ब्राह्मणोंसे कोई सकाम अनुष्ठान नहीं कराते। भाईजीमें भक्ति एवं सहृदयताकी प्रधानता है। वे देनेमें अधिकारी-अनधिकारीका विचार नहीं करते। ब्राह्मणोंसे सकाम अनुष्ठान करवाते हैं। रासलीला, नाम-जपमें भाईजीकी विशेष श्रद्धा है। सेठजी निष्काम कर्मपर बल देते हैं। मैंने बताया। श्रीकरपात्रीजी महाराजने कहा—'लेख तो मैं अब 'कल्याण'को सीधे नहीं दे सकता। हाँ, मेरा कोई लेख कहीं भी प्रकाशित हो और तुम लोगोंको पसन्द आये तो छाप दिया करो।' मेरे लिए इतनी छूट उनका अनुग्रह था।

श्रीकरपात्रीजी महाराजने काशीके स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी महाराजसे संन्यास ग्रहण किया था। उस समयतक स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज, ज्योतिष्पीठके जगद्‌गुरु शंकराचार्य नहीं हुए थे। वे श्रीकरपात्रीजी महाराजके गुरु हैं, यह जानकर मेरे हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा जाग्रत् हुई। मैं वहाँ आने-जाने लगा। मेरे संन्यासका निश्चय हुआ। परन्तु, इसमें 'कल्याण' परिवारके कार्यवश दो-तीन वर्षका विलम्ब हो गया। तबतक वे शंकराचार्य हो गये। मैं दण्ड ग्रहणके अनन्तर पहले-पहल ऋषिकेशकी कोयल घाटीमें करपात्रीजीके दर्शन करने गया। वहाँ उन्होंने मुझे

अपने आसनपर ही बैठा लिया और श्रीकृष्ण-लीलापर प्रवचन करनेको कहा। मैंने बड़े संकोचके साथ उनकी आज्ञा स्वीकार की।

मुझे स्मरण है—मैंने उनके सामने सुनाया कि जैसे परब्रह्म परमात्मा अनिर्वचनीय माया-शक्तिके योगसे विश्वका कर्ता, भर्ता, हर्ता होता है, वैसे ही अपने स्वरूपभूत अनिर्वचनीय आह्लादिनी शक्तिके योगसे लीला-पुरुषोत्तमके रूपमें अवतार भी लेता है। निराकार होनेपर भी अविद्याके कारण आत्माका जन्म होता है। निर्गुण, निर्विकार होनेपर भी आह्लादिनी शक्तिके द्वारा लीला होती है! यदि यह लीला न हो तो जीवको प्रपञ्चासक्ति छोड़नेके लिए कोई आलम्बन ही न रहे। जैसे अनिर्वचनीय अविद्याकी निवृत्तिके लिए अनिर्वचनीय विद्या होती है। इसी प्रकार प्रपञ्चासक्ति छुड़ानेके लिए भगवदासक्ति अपेक्षित है। भक्तिसे प्रपञ्चकी ममता छूटती है और तत्त्वज्ञानसे परिच्छिन्नमें अहंता। महावाक्यसे ब्रह्माकारताका उदय होनेपर तत्क्षण अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार देवकी, यशोदादिसे भगवान्के प्रकट होनेपर प्रपञ्चासक्ति मिट जाती है। मैंने श्रीहरिसूरिके 'भक्तिरसायन'का आधार लेकर भगवान्की जन्मलीला सुनायी। श्रीकरपात्रीजी महाराज बहुत प्रसन्न हुए।

मैं जब हरिद्वारसे वृन्दावनके लिए पैदल लौट रहा था तब मेरठमें श्रीकरपात्रीजी महाराजकी अध्यक्षतामें कोई यज्ञ हो रहा था। श्रीगिरधर शर्मा, श्रीअखिलानन्द आदि विद्वान् वहाँ इकट्ठे थे। पूतना-उद्धारका प्रसंग सुनानेके पश्चात् उनके निवासस्थानपर जाकर मैंने वेदोंकी अपौरुषेयताके सम्बन्धमें प्रश्न किया। मन्त्रोंकी आनुपूर्वी अनादि एवं नित्य है, यह बात मेरे विश्वासका विषय नहीं हो रही थी। उस समय उन्होंने मुझे पण्डित नकछेदराम द्विवेदीके द्वारा लिखित एवं हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'सनातनधर्मोद्धार' ग्रन्थको देखनेका परामर्श दिया। वैसे वह ग्रन्थ मैंने पहले पढ़ा तो था किन्तु इस दृष्टिसे नहीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने हँसते हुए कहा कि वास्तविक नित्यता तो ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही होती है। वेदका यथार्थ परमार्थ आत्मा ही है। और तो सभी अनात्म-पदार्थोंकी नित्यता आरोपित एवं कल्पित ही है। यह बात मुझे अच्छी तरह जम गयी।

कभी-कभी उनके अनुग्रहका स्मरण कर हृदय भर आता है। वे काशीके नगवा स्थित 'गंगा-तरंग'में ठहरे हुए थे। मैं ग्यारह बजे दिनमें उनके पास पहुँच गया। मैंने उनसे प्रश्न किया कि सभी आस्तिक दर्शनोंमें यह देखनेमें आता है कि ईश्वरको पूरा-पूरा महत्त्व नहीं दिया गया है। न्याय-वैशेषिकमें आत्मा एक द्रव्य है—ज्ञानाधिकरण। उसके दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। योगदर्शनमें ईश्वर

समाधिका साधन मात्र है। निरोध-दशामें या द्रष्टाके स्वरूपभाव स्थानमें ईश्वरकी चर्चा नहीं की जा सकती। अनुमानसे प्रकृति ही सिद्ध होती है, ईश्वर नहीं। पूर्व-मीमांसामें कर्म ही प्रधान है। वही अपूर्व बनकर अपना फल भी दे लेता है। वेदान्त-दर्शनमें मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें ईश्वरत्व है। ऐसी स्थितिमें आप कुछ अपना अनुभव सुनाइये! प्रश्न सुनकर प्रसन्न मुद्रामें वे बैठ गये। चार बजेतक समझाते रहे। उस दिन भिक्षा करने नहीं गये।

जैसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र आदि प्रमाण अपने शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंमें ही प्रमाण होते हैं; श्रोत्रके द्वारा रूप या नेत्रके द्वारा शब्दकी प्रमा नहीं होती, वैसे सभी शास्त्रोंके अवान्तर प्रमेय पृथक्-पृथक् होते हैं और परम प्रमेय अद्वय तत्त्वके साक्षात्कारमें वे सहायक होते हैं। वैशेषिक दर्शन भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें जो विशेष है, भेद है, उसका निरूपण करता है। उसका अभिप्राय यह है कि कोई भी पदार्थ केवल विज्ञान-मात्र नहीं है। यदि विषयमें भेद न हो तो विज्ञानमें भी भेद या भेदका संस्कार कहाँसे आयेगा! अतः प्रत्येक पदार्थमें एक विशेष होता है और उसकी प्रमा होती है प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे। प्रमेयका प्रतिपादन करता है, वैशेषिक दर्शन और प्रमाणोंका निरूपण करता है न्यायदर्शन। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेके पूरक हैं। इनमें आत्माका भी द्रव्यके अन्तर्गत निरूपण है। द्रव्य, गुणोंका आश्रय आत्मा है, उसके दो भेद हैं—आत्मा, परमात्मा। उन्होंने अनुमानसे परमात्माको, जगत्का निमित्त कारण तो सिद्ध किया है। जगत्की शून्यता, विज्ञानरूपता, निरीश्वरता एवं नैरात्म्यके खण्डनमें इनका आवान्तर तात्पर्य है। परम तात्पर्य है, इनके भाव-पदार्थत्वकी सिद्धिके द्वारा 'एकं सत्'की ओर संकेत। वह 'एकं सत्' इनका मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है। अनुमानके द्वारा ईश्वर सिद्ध किया गया है और वह उपास्य है। प्रायः सभी नैयायिकोंने अपने-अपने ग्रन्थोंके आरम्भमें ईश्वरकी वन्दना की है और श्रीउदयनाचार्यने तो भक्ति-भावका उत्तम निरूपण किया है।

सांख्य-दर्शन, आत्मा-अनात्माका विवेक मुख्य रूपसे प्रतिपादन करता है। उसमें तत्त्वोंके बाहुल्यका निराकरण करके एक प्रकृतिमें सबका समावेश कर दिया गया है। यद्यपि मुखतः यह बात नहीं प्रतीत होती, तथापि उपाधिगत कारणोंसे ही द्रष्टामें भेदकी कल्पना की गयी है। जन्म-मरण-करणादिका भेद दृश्यमें है। दृश्यगत भेदसे द्रष्टामें भेदकी कल्पना स्पष्ट रूपसे असंगत प्रतीत होती है, तथापि त्वं-पद वाच्यार्थके शोधनमें उपयोगी होनेसे वह भी ब्रह्मात्मैक्य बोधमें सहायक है। मलिन प्रकृति भोग देती है। शुद्ध प्रकृति अपवर्ग देती है। द्रष्टाके स्वरूपमें भोगापवर्गका भेद नहीं है। योग-दर्शन, सांख्योक्त तत्त्वको ही साक्षात्कृत करनेके

लिए आत्मसात् करनेके लिए प्रायोगिक रूपसे योगकी शिक्षा देता है। यद्यपि प्रकृति अनुमानसे ही सिद्ध होती है, तथापि निरोध-कालमें उसका अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। दूसरा द्रष्टा भी उत्थान-कालमें प्रतीत होता है। ईश्वर अनादि गुरु भी है और समाधिका आलम्बन भी है। सांख्य एवं योगका एक युग्म है। योग साधन है, सांख्योक्त सिद्धान्त साध्य है।

ये चारों दर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमानपर ही मुख्यत: जोर देते हैं एवं व्यावहारिक रूपसे प्रपञ्चका जैसा अनुभव होता है, वह करा देते हैं। जो लोग व्यावहारिक भेद, प्रकृति रूप कारण सत्ता एवं आत्माको स्वीकार नहीं करते, ये उन्हींके द्वारा माने हुए प्रत्यक्ष, अनुमान एवं समाधिके द्वारा उन्हें व्यावहारिक सिद्ध कर देते हैं। इनमें वाक्यरूप प्रमाणको प्रधानता नहीं दी गयी है। वाक्य-रूप प्रमाणको इन दर्शनोंमें गौण ही माना गया है।

ज्ञानका आदि या अन्त अनुभवका विषय नहीं होता है। क्योंकि यदि वह विषय हो तो पूर्वसिद्ध ज्ञानके द्वारा ही होगा। अत: ज्ञान जीव या ईश्वरके द्वारा निर्मित नहीं है, स्वयंप्रकाश है। वह घट-पटादिके समान वेद्य न होनेपर भी साक्षात् अपरोक्ष ही है। जो कुछ भी बीज-निर्बीज, भाव-अभाव, व्यष्टि-समष्टि विषय होगा, वह ज्ञानके द्वारा ही होगा। ज्ञान यदि अन्य हो तो उसका प्रकाशक क्या होगा? परिच्छिन्नता हो तो वह किसे प्रतीत होगी? ज्ञानसे अलग होनेपर आत्मामें जड़ता आजायेगी और आत्मासे ज्ञान अलग होनेपर वह जड़ हो जायेगा। निर्विकार बोध रूप आत्मा ही वैदिक महावाक्योंका प्रतिपाद्य है। इसी तत्त्वमें यह प्रपञ्च कहाँसे आया, इसका उपपादन करनेके लिए अनिर्वचनीय मायाका अध्यारोप श्रुतिने किया है। इसी अघटित-घटना-घटन-पटीयसी मायाके द्वारा परमार्थ-ब्रह्म-सत्तासे किञ्चित् न्यूनसत्ताक ईश्वरका निरूपण किया जाता है। उसीमें निमित्तता एवं उपादानता दोनों है। विम्ब-प्रतिबिम्ब भावसे वही ईश्वर जीव है। ईश्वर एवं उसकी उपासना जीव और उसकी मुक्ति केवल वेद अथवा वेदानुसारी शास्त्रोंसे ही जाना जा सकता है। यह ज्ञान अन्त:करणके शुद्ध होनेपर अर्थात् प्रपञ्चोन्मुखताका त्याग करके ईश्वरोन्मुख होनेपर ही होता है। इसी अन्त:करण शुद्धिका साधन पूर्व-मीमांसा दर्शनमें, यज्ञयागादिके रूपमें उपदिष्ट है। इसका अर्थ यह है कि सभी दर्शन, परम्परया कार्य-कारण, जीव-ईश्वरके विचारके द्वारा शुद्ध तत्त्वके साक्षात्कारमें उपयोगी हो जाते हैं। जैसे व्यावहारिक सत्यके रहते ही प्रातिभासिक सत्यका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, वैसे परमार्थ सत्य— ब्रह्मके ज्ञानसे ही, प्रपञ्चका मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

ब्रह्मज्ञानके अव्यवहितपूर्वक क्षणमें भी प्रपञ्च अबाधित सत्य ही रहता है। ब्रह्मज्ञानके पूर्व, प्रपञ्चको मिथ्या कहनेका किसीको अधिकार नहीं है। प्रपञ्च है तो अनिर्वचनीय माया है। माया है तो ईश्वरका वैभव-विलास है। अत: अन्तिम सत्यबोध वेदान्तसे ही होता है, पहले नहीं—उसीमें सब दर्शनोंका परम तात्पर्य है।

श्रीहरिबाबाजी महाराजके प्रणव-संकीर्तनको लेकर श्रीकरपात्रीजी महाराजने परमपूज्य श्रीउड़ियाबाबाजीके पास आना बन्द कर दिया था। मुझे यह बात खटकती रहती थी। जो पहले बाबाके प्रति इतना आदरभाव रखते थे; सत्संगके लिए आया करते थे, वे अब कभी बाबाके दर्शनके लिए भी नहीं आते, यह कुछ असमञ्जस-सा लगता है। मैंने एक दिन श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे कहा कि वे नहीं आते तो क्या हुआ, विद्वान् हैं, त्यागी हैं, महात्मा हैं; आप ही उनके पास कभी चले चलिये तो क्या है? बाबाने कहा, क्यों नहीं! जब कहो, मैं उनके पास चल सकता हूँ। मैंने कहा बाबा, वे आजकल वृन्दावनमें ही हैं। धर्मसंघ विद्यालयमें ठहरे हुए हैं, आप चले चलिये न! बाबा एक बालककी रुचिपर भी ध्यान देते थे। उनके मनमें तो जैसे कोई आग्रह ही नहीं था। उठ खड़े हुए, 'चलो बेटा'! मैं उनके पीछे-पीछे पैदल चलने लगा। एक व्यक्तिको चुपकेसे दौड़ा दिया कि वह जाकर श्रीकरपात्रीजीको बता दे। श्रीकरपात्रीजी महाराज समाचार सुनते ही बिना पादुकाके ही छतपरसे उतरकर रास्तेमें आगये, प्रणाम किया एवं बाबाको ऊपर ले गये। थोड़ी देरतक बातचीत होती रही, बाबा आश्रममें लौट आये। दूसरे ही दिन श्रीकरपात्रीजी एवं श्रीकृष्णबोधाश्रमजी बाबासे एकान्तमें मिलनेके लिए समय लेकर आये। एक-दो घण्टेतक गोष्ठी होती रही। मुझे भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया था।

उपर्युक्त गोष्ठीमें प्रश्न यह था कि कोटि आहुतिके यज्ञ होते हैं, लक्षचण्डी होती है, परन्तु धर्मरक्षाकी दिशामें कोई विशेष सफलता नहीं मिलती। इसका कारण क्या है? पूज्य बाबाके सामने यही प्रश्न रखा गया था। बाबाने बताया— समय विपरीत है, कलियुग है; कालका भी अपना अधिकार होता है। जितना बड़ा लक्ष्य है, उसके सामने यह अनुष्ठान कोई बड़े नहीं हैं। बड़े-बड़े अनुष्ठानोंमें अंग-वैगुण्य भी होता ही है। यजमान, आचार्य, विद्वान् सभी पूरे-पूरे नियमोंका पालन भी नहीं कर पाते। अन्न-धन भी अनुष्ठानके लिए जितना पवित्र होना चाहिए, उतना नहीं होता। फिर भी फल तो होता ही है। धर्महानिका वेग कम हो जाता है। कोई बैलगाड़ी गड्ढेकी ओर लुढ़कती जा रही हो तो अपनी

ओरसे उसे रोकनेका प्रयास करना चाहिए। अपनी ओरसे यत्न करें, फल तो भगवान्‌की ओरसे मिलता है। इस प्रसंगके बाद, बाबा एवं श्रीकरपात्रीजीका मिलना-जुलना फिरसे होने लगा।

दिल्लीमें गायत्री महायज्ञका आयोजन हुआ। देशके पीठाधीश्वर, मण्डलेश्वर, विद्वान् आमन्त्रित किये गये। गायत्रीकी कोटि आहुतिका यज्ञ था। ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजीको यजमान बनाया गया। दक्षिणके विद्वानोंने आपत्ति कर दी कि यजमान सपत्नीक ही होना चाहिए। कुशकी कन्यासे विवाह कराया गया। समागत अभ्यागतोंके लिए बड़े-बड़े सिंहासनमञ्च निर्माण किये गये। श्रीउड़ियाबाबाजीको बड़े आदर एवं आग्रहसे आमन्त्रित किया गया। मैंने श्रीकरपात्रीजी महाराजको कहा कि वे इन सिंहासनोंपर तो बैठेंगे नहीं, वे तो बिना आसनके धूलमें भी बैठ जाते हैं। श्रीकरपात्रीजीने हँसकर कहा कि सिंहासनपर बैठना अथवा धूलमें बैठना दोनों लोक-संग्रह ही है। लोक-श्रद्धा कभी वैभवकी ओर जाती है, कभी त्यागकी ओर। तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं है। वहाँ-जहाँ जैसे बैठेंगे, वही ठीक होगा। मुझे उनका यह दृष्टिकोण बहुत पसन्द आया।

उसी यज्ञमें एक दिन उन्होंने मुझसे कहा—'आओ, तुम भी मेरे साथ भिक्षा कर लो। किसी ब्रह्मचारीने मूँगकी दालकी खिचड़ी बनायी थी। न नमक, न घी, छौंकतक नहीं लगी थी। उन्होंने कहा, 'तुम अपने अनुकूल भोजन कर लिया करो। मेरे साथ तो ऐसा ही मिलेगा।' उनकी उदारता देख-देखकर मैं मुग्ध होता रहता था।

एक दिन मैंने पूछा—'अमुक सज्जन पञ्चदशीके आभासवादका बहुत ही विरोध करते हैं।' श्रीकरपात्रीजी महाराजने कहा—'यदि वे अद्वैत सिद्धान्तको उपनिषदोंका परम तात्पर्य मानते हैं, तो आभासवादको मानें या नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रतिविम्ब, अवच्छेद, दृष्टि-सृष्टि कोई भी वाद सही, सिद्धान्ततः ब्रह्मात्मैक्य-बोध होना चाहिए, जिससे अविद्याकी निवृत्ति हो जाय।' यह भी एक उत्तम भावका उत्कृष्ट निदर्शन था।

उसी यज्ञमें आर्य समाजके साथ शास्त्रार्थका आयोजन हुआ। आर्य समाजकी ओरसे श्रीरामचन्द्र देहलवी प्रमुख थे। सनातन धर्मकी ओरसे शास्त्रार्थमहारथी श्रीमाधवाचार्य थे। सनातन धर्मके मञ्चपर श्रीकरपात्रीजी महाराज, गिरधर शर्मा, अनन्तकृष्ण शास्त्री, पं० अखिलानन्द शर्मा आदि दिग्गज विद्वान् विराजमान थे। मैं श्रीकरपात्रीजी महाराजके ठीक पीछे बैठा हुआ था। यज्ञमें गोवधके सम्बन्धमें श्रीकरपात्रीजी महाराज, सरल भावसे श्रौत-सूत्रोंके

अनुसार शास्त्रार्थके लिए सन्नद्ध हो गये। सनातन धर्मी विद्वानोंने प्रार्थना की कि महाराज आप देखते रहिये, शास्त्रार्थ हम करेंगे। वे हँसकर चुप हो गये। सर्वश्री गिरिधर शर्मा, अखिलानन्द शर्मा एवं श्रीमाधवाचार्यने परस्पर विमर्श करके आर्यसामजियोंसे प्रतिप्रश्न किया। 'वेदोंमें भला गोवधकी बात कहाँ लिखी है?' शास्त्रार्थ लिखित रूपसे होता था और पढ़कर जनताको सुना दिया जाता था। आर्य समाजकी ओरसे मन्त्रों, भाष्यों और ग्रन्थोंका नाम लिखकर आया कि यहाँ-यहाँ शास्त्रोंमें गौवधकी बात लिखी हुई है। जन-समूहमें पढ़कर सुनाया गया। पण्डित अखिलानन्दजीने खड़े होकर कहा—'देखो भाई, आर्यसमाजी लोग कहते हैं कि वेदोंमें गौवध लिखा हुआ है। कितने दुःखकी बात है!' अब तो क्या था, बस जनता आर्यसमाजियोंके विरुद्ध हो गयी। ताली पिटने लगी। लोगोंने उन लोगोंका बोलना दूभर कर दिया। वे कहते ही रह गये, 'यह हमने अपना मत नहीं बताया है। यह उन्हीं लोगोंका मत है', पर वहाँ कौन सुनता था? पण्डित माधवाचार्यजीने कहा, कि महाराज! इन लोगोंके साथ ऐसा ही शास्त्रार्थ होता है। कोई पूर्वोत्तर मीमांसाके अनुसार अधिकरण-रचना नहीं होती। श्रीकरपात्रीजीकी सरलता और सनातन-धर्मी, आर्यसमाजीके शास्त्रार्थका एक अच्छा नमूना देखनेको मिला।

बम्बईमें एक विशाल यज्ञका आयोजन हुआ। मरीन-ड्राइवपर सेकसरिया बिल्डिङ्गसे लेकर बम्बई जिमखानेतक सब खाली मैदान था। श्रीकरपात्रीजी महाराजने स्वामी मस्तरामजीको भेजकर मुझे वहाँ बुलवाया। कल्याण-परिवारमें रहनेके कारण बम्बईके लोगोंसे मेरा परिचय बहुत था। मेरे प्रवचन प्रारम्भ हुए। बम्बईवालेके नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मलीन श्रीकृष्णानन्दजीको भी आमन्त्रित किया गया। उनके लिए अलग संकीर्तन-मण्डप बना दिया गया। उत्तर भारतीयोंका संगठन उनके साथ था। अखण्ड भगवन्नामकी ध्वनिसे पास-पड़ोस गूँज उठा। कुछ लोगोंने हरिजनोंको भड़का दिया कि ये लोग हरिजनोंसे घृणा करते हैं तथा अस्पृश्य मानते हैं। श्रीकरपात्रीजी महाराजने स्वयं उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया। उन्हें समझाकर उनके लिए एक अलग संकीर्तन-मण्डप बनवा दिया। उनका भी नाम संकीर्तन होने लगा। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके आचार्य इकट्ठे हुए थे। यह सब कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रीकरपात्रीजी महाराजमें संघटनकी एक विशिष्ट शक्ति थी। वे अपनी निपुणता, बुद्धि-कौशल एवं सौजन्यसे विरोधियोंको भी अपने अनुकूल बना लिया करते थे। मुझपर उनका सहज स्नेह था। उन्होंने धर्मसंघके अन्तर्गत सन्त-सम्मेलनका संघटन

किया था, जिसमें अध्यक्ष थे वेद भगवान् और उपाध्यक्षोंमें मेरा नाम भी था। लोगोंने मेरे व्याख्यानके लिए जब आग्रह किया और मैंने संकोच प्रकट किया तो भरी सभामें श्रीकरपात्रीजीने मुझे देखकर लोगोंसे कहा कि ये तो हमारे निधि हैं, इनको जैसे अनुकूल पड़े वैसे ठीक है, संकोचमें डालनेकी आवश्यकता नहीं है।

सन् १९४८ की वसन्त ऋतुमें श्रीकरपात्रीजी महाराज वृन्दावन पधारे थे। वे रमणरेतीमें श्रीराधाकृष्ण धानुकाकी कोठीमें ठहरे हुए थे। वे उन दिनों पाँच या सात दिनतक गंगाजलपर रहनेके बाद भिक्षा लेते थे। इतना मुझे अवश्य स्मरण है कि वे धानुकाजीकी कोठीमें एक साधारणसे आसनपर बैठ जाते थे और मैं उन्हें श्रीमद्भागवतपर प्रवचन सुनाया करता था। प्रतिदिन सायंकालका यह नियम ही हो गया था। जब वे सुन-सुनकर प्रसन्न होते तो मेरे हृदयमें आनन्दका समुद्र लहराने लगता था। सिद्धान्ततः अद्वैत एवं भावतः भक्तिका प्रतिपादन उन्हें बहुत प्रिय था। वे कभी-कभी गद्‌गद हो जाया करते थे। यह निश्चित है कि वे वेदोंसे लेकर अवकहड़ाचक्र एवं हनुमान-चालीसा पर्यन्तके जानकार थे, सबको मानते थे, सबका समर्थन करते थे। उनको मुझसे श्रीमद्भागवत सुननेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी यह उनका स्नेह ही था कि मुझे आदर देते थे। '**अमानी मानदो मान्यः**'का यह प्रत्यक्ष निदर्शन था।

श्रीकरपात्रीजी महाराज, अन्य शास्त्रोंके समान रस-शास्त्रके अप्रतिम विद्वान् थे। जब वे रस तत्त्वका प्रतिपादन करने लगते तो बड़े-बड़े रस-मनीषि भी आश्चर्य-चकित रह जाते थे। वे जब रसके सम्बन्धमें अनुमानवादी, प्रत्यक्षवादी एवं अपरोक्षवादी आचार्योंका खण्डन करते, श्रीमधुसूदन सरस्वतीके द्वारा भक्तिरसायनमें प्रतिपादित रस-तत्त्वके समर्थनमें अपनी लोक-विलक्षण, विचक्षण प्रतिभाको प्रकाशित करने लगते थे तब ऐसा कौन रस-मर्मज्ञ है जो मुग्ध न हो जाय? उनका कहना था—जब स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्य, आलम्बन विभावावच्छिन्न चैतन्यसे एक होता है, तभी रसका अनुभव होता है। रस प्रणालीमें आलम्बन-विभावावच्छिन्न-चैतन्यका आवरण-भंग तो हो जाता है, परन्तु स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्यका आवरण भंग नहीं होता। वह तो ब्रह्मात्मैक्य-बोध होनेपर ही होता है। वस्तुतः उपनिषदों में रस, आनन्द, सुख-भूमा आदिके नामसे निरुक्त रसस्वरूप आत्माका ही निरूपण है। वही अपनी अनिर्वचनीय ह्लादिनी शक्तिके योगसे आस्वादनका विषय होता है। वस्तुतः रसमें आस्वाद्य-आस्वादक भाव नहीं है। रस्य एवं रसिककी एकतामें ही रसानुभूति है।

श्रीकरपात्रीजी महाराजका मुझपर कितना स्नेह था, इसके दो उदाहरण आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं—

१. बम्बईवाले श्रीप्रेमपुरीजी महाराज एवं दैवी सम्पद्-महामण्डलके अध्यक्ष स्वामी श्रीशुकदेवानन्दजी महाराजसे अत्यन्त गाढ़ सम्बन्ध होने के कारण, मैंने अखिल भारतीय भारत साधु समाजका अध्यक्षपद स्वीकार कर लिया था। निश्चय ही वह संस्था उन दिनों भारतके गृहमंत्री श्रीगुलजारीलाल-नन्दाकी प्रेरणा और भारत सेवक समाजके कार्यकलापसे सम्बद्ध थी। मेरा अध्यक्ष होना श्रीकरपात्रीजी महाराजको पसन्द नहीं था। मैं जब उनका दर्शन करने गया तो वे मुझपर बरस पड़े—'तुम इस सरकारी संस्थामें क्यों सम्मिलित हुए?' लगभग एक घण्टे तक वे मुझे समझाते रहे। उन्होंने यहाँतक कहा कि अच्छा, कोई बात नहीं, मैं अब ऐसा कहा करूँगा कि जैसे कांग्रेसमें एक सम्पूर्णानन्द विद्वान् हैं वैसे ही भारत साधु-समाजमें एक अखण्डानन्द हैं। उनके इस स्नेहको देखकर मैं कुछ बोल नहीं सका, चुपचाप प्रणाम करके चला आया। तबसे साधु-समाजके प्रति मैं उदासीन हो गया और फिर किसी अधिवेशनमें सम्मिलित नहीं हुआ।

२. दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—स्वामी करपात्रीजी महाराज प्रायः प्रतिवर्ष एक-दो बार श्रीवृन्दावन-धाम अवश्य आजाया करते, यहाँ 'श्रीराधाकृष्ण-तत्त्व' पर प्रवचन करते। कई बार 'श्रीराधा-सुधा-निधि'पर भी प्रवचन किया। यहाँके रसमें उनका इतना गम्भीर प्रवेश एवं अनुभव है, यह देखकर यहाँके रसिकगण मुग्ध-मुग्ध हो जाया करते थे। बाबा श्रीप्रियाशरणजी महाराजके रस-प्रवचनमें रसिकोंकी जितनी उपस्थिति होती थी उससे भी अधिक श्रीकरपात्रीजी महाराजकी। मैं कभी-कभी जाया करता था।

एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि तुम मेरे लिखे 'श्रीभक्ति-रसार्णव' ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद कर दो, क्योंकि यह काम तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। मैंने कहा—'महाराज! आप ऐसा क्यों कहते हैं?' वे बोले कि जो वृन्दावनके रस और अद्वैत सिद्धान्त दोनोंका जानकार है, वही इसका अनुवाद कर सकता है। मैंने उनकी आज्ञा मानकर अधिकांश भक्ति-रसार्णवका अनुवाद कर दिया और उन्हींके नामसे विभिन्न पत्रोंमें प्रकाशित हुआ। वे मुझसे बहुत प्रसन्न थे। मैं उन्हें अपने गुरुके समान ही मानता था। ब्रह्म एवं धर्मका जैसा निरूपण वे करते थे, वह पूर्णतः मुझे मान्य था।

वृन्दावनके श्रीमस्तराम बाबा श्रीकरपात्रीजी महाराजसे और मुझसे

अत्यधिक स्नेह करते थे। काशीके श्रीसाधुबेला आश्रममें एकबार विद्यार्थियोंकी प्रतियोगिता हुई थी—शास्त्रार्थके रूपमें। पुरस्कारपदक देना था। श्रीमस्तराम बाबाने कहा—'मेरा संकल्प, यह पदक श्रीकरपात्रीजी महाराजके नाम देनेका है।' मैंने उन्हें स्वर्ण-रजत पदकोंमें जो व्यय होना था दे दिया। उनसे श्रीकरपात्रीजी महाराजका संवाद मुझे और मेरा, महाराजको मिलता रहता था। किसी प्रसंगवश श्रीकरपात्रीजी महाराजने श्रीमद्भागवत-कथाके सम्बन्धमें मेरी मस्तराम बाबासे प्रशंसा कर दी। प्रशंसामें अत्यधिक अतिशयोक्ति थी। मस्तराम बाबाको वह बात ठीक नहीं लगी तो मुझसे आकर कहा। मैंने कहा कि श्रीकरपात्रीजी महाराज सर्वथा ठीक कहते हैं; क्योंकि मैं सात दिनमें श्रीमद्भागवत पूरा कर लेता हूँ, वे नहीं कर सकते। उन्हें एक श्लोककी व्याख्या करनेमें वर्षों लग सकते हैं। मस्तराम बाबाने यह बात जाकर जब महाराजसे कही तो वे हँसने लगे और बोले कि सचमुच ऐसा ही है।

स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज जब भक्तिरसका प्रवचन करने लगते थे—चाहे दर्शन शास्त्रके प्रसंग हों, चाहे वृन्दावनी मधुर भक्तिरस हो, वे अपनी प्रतिभासे ऐसे अद्भुत, अपूर्व एवं विद्वज्जन मनोहारी अभिप्राय बता देते थे कि लोग आश्चर्यमय आनन्दमें मग्न हो जाते थे। देखिये उदाहरण—

'नटवरवपुः' की व्याख्या कर रहे थे। श्रीकृष्णका सुधा-श्रावी वपु (वं=अमृतबीजं, पुष्णाति) नट एवं वर दोनोंके सदृश है। 'नट' विप्रलम्भ शृंगार अर्थात् विरहका प्रतिनिधित्व करता है। 'वर' सम्भोग-शृंगार अर्थात् मिलनेके रसका प्रतिनिधित्व करता है। स्पष्ट है कि जो उस समय वहाँ नहीं है—शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन तथा नायक-नायिका रूप आलम्बन अपने अभिनयके द्वारा उपस्थित कर देता है। सामाजिकका उस दृश्यसे तादात्म्य हो जाता है अर्थात् स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्य, आलम्बनविभावावच्छिन्न चैतन्यसे अभिन्न हो जाता है। रसानुभूति होने लगती है। 'वर', सम्भोग-शृंगार अर्थात् मिलनेके प्रतिनिधिके रूपमें आता है और वह मिलनका रस अनुभव कराता है। श्रीकृष्ण आज नट एवं वर दोनोंको ही प्रकट करके आ रहे हैं। क्या आश्चर्य है? एकमें ही मिलन एवं विरह दोनोंका आनन्द!! हाँ, तो यही वृन्दावनका मधुर रस है।

मिले रहत मानो कबहुँ मिले ना!

पिपासा विरहवत् होती है। तृप्ति मिलनवत् होती है। प्रेममें इन दोनोंका युगपत् निवास है। तृप्ति, पिपासाको बढ़ाती है। पिपासा तृप्तिके आनन्दको

बढ़ाती है। यही श्रीराधाकृष्णका स्वरूप है। अनादिकालसे अनवरत यह लीला हो रही है, परन्तु एकने दूसरेको पहिचाना नहीं। जहाँ अनुभव साक्षात् अपरोक्ष है—वहाँ पूर्वानुभूत पहिचानकी स्फूर्ति ही क्यों हो? अनुभव जब परोक्ष होता है—वहाँ पूर्वानुभूत पहिचानकी स्फूर्ति ही क्यों हो? अनुभव जब परोक्ष होता है तब बादमें उसकी स्मृति होती है। यहाँ साक्षात् अपरोक्ष रसमें स्मृति क्या?

लाल-प्रिया में भई न चिन्हारी।

यह है 'नटवरवपुः'।

जिन सात समुद्रोंका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है वे तो भौतिक हैं। भगवान्के नामोच्चारणसे वे सूख जाते हैं। वानर, भट उन्हें लाँघ भी जाते हैं। परन्तु, स्वयं भगवान् दिव्यातिदिव्य प्रेमामृत महासमुद्र हैं। गोपियाँ उस दिव्य सिन्धुकी तरंग हैं। जैसे तरंगमें जलकी व्याप्ति होती है, वैसे ही गोपियोंके रोम-रोममें परम प्रेमपियूषाम्बु-निधि भगवान् व्याप्त हैं। भगवान्के रोम-रोममें गोपियाँ हैं। परन्तु, तरंग एवं रोम-रोम बहिरंग हैं। उस अमृत-समुद्रमें जो शीतलता है, म्रदिमा है, मधुरिमा है—उस अमृत-समुद्रमें जो मिठास है, वह वृषभानुनन्दिनी है। यह ह्लादिनी सार-सर्वस्व ही सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णको ह्लादित करता है।

ह्लादिनि के आनन्द श्याम आनन्द की ह्लादिनी श्यामा।

परमानन्द कन्द रसघनको भी मधुरातिमधुर रूप देनेवाले—*'परस्पर दोउ चकोर दोउ चन्दा।'*

रसरीतिकी परिपाटीका पालन जहाँ श्रीस्वामीजी अत्यन्त दक्षता और प्रामाणिकतासे करते थे वहाँ वे **'रसो वै सः', 'एकं ज्योतिर्भूद्द्वेधा राधा-माधवरूपकम्'** इन वेद-वेदान्तोंकी उक्तियोंको भी ललित वाक्यकदम्बों, वचनामृतोंके द्वारा पूर्ण चरितार्थ करते थे। क्लीं बीज और कृष्ण नामकी रसात्मकता और दार्शनिकताका युगपत् निर्वाह वे जिस अनुपम रीतिसे करते थे उसका समास्वादन रसिक वृन्द उन्हींके शब्दोंमें करें—

'श्रीराधा माधुर्याधिष्ठात्री शक्ति है। वे माधुर्यसारसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रके अमृतमय मुखचन्द्रमें अधरसुधाके रूपमें विराजमान हैं। जब उन्होंने अधरसुधाको वंशीके छिद्रमें निक्षिप्तकर व्रजाङ्गनाओंके हृदयमें पहुँचाया तो वही अधर-सुधा व्रजाङ्गनाओंके मुख-पङ्कजमें आयी। उनके अन्तरात्मामें, अन्तःकरणमें, प्राणोंमें, रोम-रोममें छा गयी। जहाँ वृषभानुनन्दिनीका सञ्चार है, वहीं श्रीकृष्ण परमानन्दका

रमण होता है। पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् अपनी ही माधुर्याधिष्ठात्री शक्तिका आस्वादन करते हैं। फूलोंमें स्वयं आघ्राण-शक्ति हो तो वे जैसा आघ्राण करेंगे, वैसा ही यह रमण है।

माना जाता है कि 'क्लीं' जो कि कामबीज है, उमसें 'क्' का अर्थ है श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन। 'ल्' का अर्थ है, राधारानी वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी। 'ई' जो कि दीर्घ चतुर्थ स्वर है उसका अर्थ है (तन्त्रोंमें) 'कामकला', जिसका तात्पर्य है उत्कट प्रीति और (बिन्दु)का अर्थ है रसोद्रेक। अर्थात् 'क'=अचिन्त्य परमानन्द सुधासिन्धु श्रीकृष्ण, 'ल'=सुधासिन्धुके माधुर्य-सार-सर्वस्वकी अधिष्ठात्री राधारानी, 'ई'=आनन्द-सार सर्वस्व श्रीकृष्ण और माधुर्य-सारसर्वस्व श्रीराधारानी दोनोंका परस्पर प्रेम, =श्रीराधा-कृष्णके परस्पर सम्मिलनसे प्रादुर्भूत रसोद्रेक। इस तरह कामबीज 'क्लीं' का अर्थ है, 'श्रीराधा-कृष्णके परस्पर प्रेमपूर्ण सम्मिलनसे प्रादुर्भूत लोकोत्तर रसोद्रेक'। श्रीराधाकृष्ण दोनोंका सम्बन्ध अकाट्य है। मरकतमणिमें जैसे काञ्चनकी तादात्म्यापत्ति हो गयी हो अर्थात् मरकतमणिमें काञ्चन खचित हो गया हो और काञ्चनमें मरकतमणि खचित हो गयी हो। लेकिन इस सम्बन्धसे भी ऊँचा सम्बन्ध है तरङ्ग और जलका। तरङ्गको जलका विप्रलंभ (वियोग, विच्छेद) नहीं होता।

श्रीकृष्ण शब्दका अर्थ है सदानन्द। कहा है—'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृत्तिवाचकः', 'भू'-सत्ता और 'ण'-निर्वृत्ति आनन्द है। तथा च सत्ता और आनन्द' कृष्णपदका अर्थ है। श्रीकृष्ण तत्त्वमें श्रीराधा और कृष्ण दोनों आजाते हैं। वह सत्ता महासत्ता रूप है जिसके बिना सब असत् है। उसी स्वप्रकाश सत्से सबकी सत्ता है, वही 'कृष्ण' है। निर्वृत्ति अर्थात् निरुपद्रव निर्विशेष स्वप्रकाश आनन्द है, वही 'राधा' हैं। यह सत् और आनन्द कभी वियुक्त नहीं होते। इसलिए श्रीवृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं। उभय-उभय भावात्मा, उभय-उभय रसात्मा हैं। जैसे चन्द्रमामें चन्द्रिका, भानुमें प्रभा; वैसे ही परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्णमें व्रजाङ्गना हैं। इससे भी अन्तरङ्ग यह सम्बन्ध है कि जैसे अमृतमें मधुरिमा, वैसे परमरसामृत मूर्ति श्रीकृष्णमें उनकी माधुर्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी। अमृतसे मधुरिमाको अलग किया, फिर अमृतत्व ही क्या? वेदान्ती गुण-गुणी दोनोंका तादात्म्य मानते हैं। इसलिए सत्ता आनन्दरूप वृषभानुनन्दिनी और कृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्दरूप भगवान् गौर-तेज-श्याम-तेज राधा-माधव रूपमें प्रकट हुए हैं। मानो गौर-श्याम शीशियोंमें श्याम गौर-रस भरा हो। गौर शीशी श्याम हृदयकी वस्तु है और श्याम-शीशी गौर

हृदयकी वस्तु। गौरमें श्यामरस भरा है एवं श्याममें गौररस। दोनोंमें परस्पर अन्तरङ्गता है।

'तमाल श्यामलत्विट् यशोदास्तनन्धय' श्रीकृष्ण ही 'कृष्ण' शब्दका अर्थ है, ऐसा भी कोई कहते हैं। ऐसा कहनेपर भी कोई विरोध नहीं है। सत्ता और आनन्द दोनोंका ऐक्य है।

साधारण शृङ्गारमें भावना अभिमानमात्र है। यहाँ तो स्वरूप परिवर्तन भी है। वृन्दावन, श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द, वृषभानुनन्दिनी, व्रजाङ्गनाएँ सतत समवेत लीलाभूमि उस अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत प्रेमानन्दरससिन्धु में क्षणे-क्षणे आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं, उन्मज्जन-निमज्जन करते रहते हैं। उस स्थितिमें कभी श्रीकृष्णचन्द्र वृषभानुनन्दिनीके रूपमें प्रकट होते हैं, तो कभी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्ण चन्द्रके रूपमें प्रकट होती है। यही कहा—'उभयोभयभावात्मा'। तात्पर्य यह कि साधारण नायकमें उत्कृष्ट रस ही व्यक्त नहीं हो सकता, पर निखिल रसामृत मूर्ति उद्‌बुद्ध उभयविधि शृंगार रसात्मक श्रीकृष्ण तो रसस्वरूप ही हैं। इनके सम्पर्कसे इतना उत्कट अद्भुत अनन्तरस उद्भूत होता है कि परस्पर भावापत्ति हो जाती है।'

निरतिशय स्वप्रकाश सदानन्द-स्वरूप राधामाधवरूप श्रीकृष्णतत्त्व यद्यपि तारतम्य-विहीन है, फिर भी व्रज, वन और निकुञ्जमें उसकी उत्तरोत्तर उज्ज्वल अभिव्यक्तिका रस-रहस्य श्रीस्वामीजी इस प्रकार व्यक्त करते थे—

'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृत्तिवाचकः' के अनुसार श्रीकृष्ण वेदवेद्य परिपूर्ण स्वप्रकाश सदानन्दस्वरूप परब्रह्म तत्त्व ही हैं। पर ब्रह्म निरतिशय होनेके कारण तारतम्यविहीन है। फिर भी व्रजभूमि सर्वस्व श्रीमद्वृन्दावन धाममें वह जैसा मधुर अनुभूयमान होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। अतएव भावुकोंने द्वारकास्थ, मथुरास्थ और व्रजस्थ श्रीकृष्णमें भी व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ और निकुञ्जस्थ भेदसे तारतम्य माना है। 'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्।'

अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही प्रकारका स्वाति-विन्दु स्थल-वैचित्र्यसे विचित्र परिणामवाला होता है, शुक्तिका में पड़कर मोतीके रूपसे, बाँसमें वंशलोचनरूपसे, गोकर्णमें गोरोचनरूपसे, गजकर्णमें गजमुक्ता रूपसे परिणत होता है; वैसे ही वेदान्तवेद्य तत्त्व एक रूप होता हुआ भी अभिव्यंजक स्थलकी स्वच्छताके तारतम्यसे अभिव्यक्ति तारतम्य होनेके कारण तारतम्योपेत होता है। जैसे सूर्यतत्त्वकी अभिव्यक्ति काष्ठ-कुड्यादि अस्वच्छ पदार्थोंपर वैसी नहीं होती, जैसी निर्मल जल-काँच आदिपर होती है; वैसे ही राजस-तामस स्थलोंमें

ब्रह्मतत्त्वकी अभिव्यक्ति वैसी नहीं हो सकती जैसी निर्मल विशुद्ध स्थलोंमें। यह निर्मलता जैसे पार्थिव प्रपञ्चमें स्पष्ट अनुभूयमान है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रपञ्चमें गुण विमर्द-वैचित्र्यसे क्वचित्प्रत्यक्षानुमान द्वारा, क्वचित् आगम तथा श्रुतार्थापत्ति द्वारा तारतम्योपेत होकर ज्ञात होती है। इसीलिए किसी स्थलमें जानेसे वहाँ अकस्मात् चित्तप्रसाद और किसी स्थलमें चित्तक्षोभ आदि चिह्नोंसे भी स्थल-वैचित्र्यकी अनुभूति होती है। व्रज, वन, निकुञ्जोंमें क्रमशः एककी अपेक्षा दूसरेमें वैचित्र्य है। अतएव वहाँ पूर्णतर-पूर्णतम रूपसे एक ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दका प्राकट्य होता है। जिसके कृपा-कटाक्षकी प्रतीक्षा ब्रह्मेन्द्रादि देवाधिदेव भी करते हैं, वह वैकुण्ठाधिष्ठात्री सर्वसेव्या महालक्ष्मी ही जहाँ सेविका बनकर रहनेके लिए लालायित है, उस सर्वोच्च विराजमान व्रजभूमिका कौन वर्णन कर सकता है? 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि'। विशुद्ध माधुर्यभावका प्राकट्य श्रीवृन्दावनधाममें ही माना जाता है। यह बात दूसरी है कि ऐश्वर्यशक्ति मूर्तिमती होकर प्रभुकी सेवा करनेके सुअवसरकी यहाँ प्रतीक्षा करती रहती है। प्रभु भी मृद्भक्षण आदि लीलाओंमें मुखान्तर्गत ब्रह्माण्ड-दर्शन आदिके अवसरपर उसे स्वीकार करते हैं।

यहाँ नित्य-निकुञ्ज श्रीवृन्दावनसे भी अन्तरङ्ग समझा जाता है। नित्य-निकुञ्जमें वृषभानुनन्दिनीस्वरूप महाभाव परिवेष्ठित शृङ्गारस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त रहते हैं। यहाँ प्रिया-प्रियतमके सर्वदिक् सर्वाङ्गीण संप्रयोगका भान भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कि सन्निपात ज्वरसे आक्रान्त पुरुष, जिस समयमें शीतल-मधुर जलका पान करता है, ठीक उसी समयमें पूर्ण तीव्र पिपासाका भी अनुभव करता है; वैसे ही नित्य निकुञ्ज-धाममें जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक परिरम्भणजन्य रसमें निमग्न रहते हैं, उसी समय तीव्रातितीव्र वियोगजन्य तीव्रतापका भी अनुभव करते हैं। सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोग-जन्य रसका ही अनुभव करती है, चक्रवाकी विप्रयोगजन्य तीव्रतापके अनन्तर हृदयवेद्य संप्रयोगजन्य अनुपम रसका आस्वादन करती है; किन्तु नित्य-निकुञ्जमें श्रीनिकुञ्जेश्वरीको अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद श्रीव्रजराजकिशोरके साथ सारस पत्नी लक्ष्मणाकी अपेक्षा शतकोटि-गुणित अधिक विप्रयोगजन्य तीव्रताप अनुभवके अनन्तर पुनः दिव्यरसकी अनुभूति होती है।

अन्यत्र संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक दोनों ही शृङ्गार एक कालावच्छेदेन उद्बुद्ध एवं उद्वेलित नहीं होते। यहाँ परस्पर-विरुद्ध धर्माश्रय 'अणोरणीयान्

महतो महीयान्' प्रभु श्यामसुन्दरमें तो दोनों ही शृङ्गाररस एक कालावच्छेदेन व्यक्त होते हैं। कह सकते हैं कि एकमें ज्वार होगा और दूसरेमें भाटा। नहीं, नहीं; दोनोंमें ज्वार ही है। इस तरह 'श्रीकृष्ण कौन हैं?' चन्द्र। 'कौन चन्द्र?' श्रीराधारानीने जो कृष्ण-विषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उद्वेलित उभयविध शृङ्गाररस-महासमुद्र, उससे निकले हुए निर्मल निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र, वही श्रीकृष्णचन्द्र हैं। इसी तरह राधारानी भी चन्द्र हैं। कौन चन्द्र? श्रीकृष्ण-चन्द्रमें जो राधारानी विषयक संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररस-महासमुद्र, उसीसे जो आविर्भूत निर्मल निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र, वे ही हैं श्रीराधारानी।

प्रेमानन्द-सुधा-सार सर्वस्वमूर्ति हैं भगवान् श्रीकृष्ण। उनके हृदयसे पूर्णानुराग रस-सार-सुधा जलनिधि समुद्भूत निर्मल-निष्कलङ्क चन्द्रस्वरूपा हैं वृषभानुनन्दिनी। उनका हृदय ही है वृन्दावन। उसमें रसोद्रेकसे जो जडिमा है वही है इस वनराजकी जडिमा।

'श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा'
'जाड्यं रसमयं यच्च तद् वृन्दावनमेव हि'

यह वृन्दावन व्रजाङ्गना-वृन्दका जीवन है—'व्रजाङ्गनावृन्दस्य जीवनं वृन्दावनम्।' रसिकवृन्द और गुणवृन्दका अवन-सन्त्राण (रक्षण) इससे है अर्थात् रसिक जनोंके एकमात्र जीवनका आलम्बन यह श्रीवृन्दावन-धाम है—

वृन्दस्य गुणसमूहस्य, गुणि समूहस्य अवनं यस्मात् तत्।

यह श्रीवृन्दावन वृन्द का यौवन अर्थात् देदीप्यमान स्वरूप ही है—'वृन्दायाः यौवनं वृन्दावनम्', वृन्दाकी स्थिति यह है कि हर स्थितिमें श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंसे सुशोभित होना। जब प्रभु शालग्राम-रूपमें विराजमान हों, तब वह तुलसी रूपमें सेवा करती है। जब प्रियतम प्राणधन पूर्णतम पुरुषोत्तम रूपमें प्रभु अवतार लेते हैं, तब वृन्दावनके रूपमें प्रकट होती है। यहाँ जो यमुना है, वह वृन्दाके हृदयकी प्रेमानन्दरस-सरिता है। जो तरु हैं, वे वृन्दाके रोमाञ्च हैं और जो भूमि है वह देह है।

इस विपिनराजकी महिमा अद्भुत है। श्रीव्रजभक्तोंकी पद-पङ्कज-रजके संस्पर्शके लोभसे 'नोद्धवोऽण्वपि मन्यूनः' के अनुसार साक्षात् श्रीकृष्णसे भी अन्यून महाभागवत उद्धव भी वृन्दावन-धाम के तृणगुल्मादि होनेकी स्पृहा प्रकट करते हैं—'वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्'।

श्रीमद्प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभृति महानुभाव श्रीवृन्दावन-धाम बहिर्भूत अनन्त चिन्तामणियोंकी ही नहीं, वरञ्च श्रीहरिकी भी उपेक्षा करनेकी सलाह देते हैं—'मिलन्तु चिन्तामणिकोटिकोटयः, स्वयं हरिर्द्वारमुपैति सत्वरः'। 'विपिन राजसीमाके बाहर हरिहूको निहार! यद्यपि मिले कोटि चिन्तामणि तउ न हाथ पसार'।

भगवदाकारसे आकारित वृत्तिपर भगवत्तत्त्वका प्राकट्य होता है, उसे भी 'वृन्दावन' कहते हैं। इस तरह साभास अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्तिको भी 'वृन्दावन' कहते हैं। इसीलिए जो महानुभाव वृन्दावनके उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावनमें प्रारब्धवश नहीं रह पाते वे भी व्यापी वैकुण्ठ कारणतत्त्व स्वरूप ब्रह्मके व्यापक होनेसे तत्स्वरूप वृन्दावनका प्राकट्य-सम्पादन शक्तिबलसे कहीं भी रहकर कर लेते हैं।

भावुकोंने व्रजतत्त्वको हिततम वेदवेद्य प्रेम तत्त्वका स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेमतत्त्वके व्रजधामरूप शरीरमें श्रीव्रजनवयुवतिजन इन्द्रियाँ रूपा हैं। मनःस्वरूपरसिकेन्द्रवर्ग-मूर्धन्यमणि श्रीव्रजराजकिशोर हैं। प्राणरूपा प्रज्ञास्वरूपा श्रीव्रजनवयुवतिकदम्बमुकुटमणि कीर्तिकुमारी श्रीराधा हैं। 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा' ऐसे स्थलोंमें क्रियाशक्तिप्रधान प्राण और ज्ञानशक्तिप्रधान प्रज्ञाका ऐक्य विवक्षित है। प्रेममय व्रज प्रेमोद्रेकमें व्रजाङ्गनारूप हो जाता है। 'तदात्मिकाः', 'कृष्णोऽहं', 'मधुरिपुरहमिति' इत्यादि वचनोंके अनुसार श्रीकृष्णभावरस-भविता होकर व्रजाङ्गनाएँ नन्दनन्दनस्वरूपा हो जाती हैं। रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमोन्मादमें निज प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी-स्वरूप हो जाते हैं। श्रीराधिका प्रेमस्वरूपसे ही साक्षात् अपने प्रियतमके साथ निमग्न होती हैं। इस प्रकार साक्षात् वेदान्तवेद्य परमरसात्मक सुधाजलनिधिके ही दिव्य विकास प्रेममय तत्त्व उसीमें पर्यवसित होते हैं। इसी तरह अनाद्यन्तके रससागरमें रसमय प्रिया-प्रियतम और उनके परिकरकी रसमयी लीलाका धाम अप्राकृत श्रीव्रज भी रसमय ही है, सौख्यसुधासिन्धुसार-सर्वस्व ही है 'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः,' आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति' अर्थात् 'जिस वृन्दावन-धाममें प्रविष्ट होते ही कीट-पतङ्गादि भी सच्चिदानन्दघन स्वरूप हो जाते हैं।

भावुकोंने सच्चिदानन्द रससार-सरोवर **समुद्भूत सरोजस्वरूप** व्रजको माना **है। सरोजस्थ केशरोंको व्रज**-सीमन्तिनी, तदन्तर्गत **परागको** श्रीकृष्ण और **परागान्तर्गत मकरन्दको श्रीवृषभानु**नन्दिनी माना है। **यह सभी** उत्कर्षतारतम्य **भगवत्स्वरूपमें ही दिव्य लीलाशक्तिके** द्वारा सम्पन्न होता **है। यद्यपि** संसार भी

परब्रह्म स्वरूपमें मायाकृत विलास-विशेष ही है, तथापि जैसे नेत्र और सूर्यके मध्यमें मेघादि अस्वच्छ उपाधि सूर्यका आच्छादन करती है, जब कि उपनेत्र एव दूरवीक्षणादि सूर्य-स्वरूपके आच्छादक न होकर अभिव्यञ्जक ही होते हैं; उसी प्रकाश सत्त्वादिमयी मायाशक्ति स्वरूपको प्रावृत करके प्रपञ्चको प्रतिभासित करती है; परन्तु अचिन्त्य, दिव्य परमान्तरंगा लीलाशक्ति-स्वरूप प्रावरणके बिना ही विविध माधुर्यमय भावोंकी अभिव्यञ्जिका होती है अतएव ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी पूर्णानुराग रससारसरोवर समुद्भूत सरोजरूप प्रभुमें अपने मनोमिलिन्दको रमानेमें लोकोत्तर रसका अनुभव करते हैं।

भावुकोंके भावनाराज्यवाले शून्य-निकुञ्जमें ही प्रियतम संकेतित समयमें पधारते हैं, किसी अन्यके सान्निध्यमें नहीं; वैसे ही वेदान्तियोंके यहाँ भी भगवान्से व्यतिरिक्त जो दृश्य पदार्थ हैं, उनके संसर्गसे शून्य निर्वृत्तिक और निर्मल अन्तःकरणमें ही 'तत्पदार्थ' का प्राकट्य होता है।

जैसे सर्व-व्यापारोंसे रहित होकर पूर्ण प्रतीक्षा ही प्रियतमके संगमका असाधारण हेतु है, वैसे ही वेदान्तियोंके यहाँ भी पूर्ण प्रतीक्षा अर्थात् कायिकी, मानसी आदि सर्व चेष्टाओंका निरोध होनेपर ही 'त्वं पदार्थ'को 'तत्पदार्थ'का संगम प्राप्त होता है। सर्व दृश्य-संसर्ग-शून्य निर्वृत्तिक निर्मल अन्तःकरणरूप निकुञ्जमें पूर्ण प्रतीक्षा-परायण व्रजाङ्गना-भावापन्न 'त्वं' पदार्थ श्रीकृष्णस्वरूप 'तत्पदार्थ' के साथ यथेष्ट तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त करता है।'

नाम, रस, धाम और श्रीराधाकृष्णके उक्त रस रहस्यमय दिव्य निरूपणके साथ ही माहात्म्य-प्रकाश, मङ्गलश्लोक-व्याख्या, शुकागमन, शुक-परीक्षित-संवाद, प्रह्लाद-बलि-चरित, मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाओंका मार्मिक दिग्दर्शन प्रस्तुत 'भागवतसु [illegible] मनोरम रीतिसे श्रीस्वामीजी महाराजके श्रीमुखारविन्दसे अभिव्यक्त हुआ है।

धर्म और ब्रह्मके मर्मज्ञ श्रीस्वामीजीने भक्तिसुधा, भक्तिरसार्णव और भागवत-सुधाके माध्यमसे जिस लोकोत्तर अमलात्मा-मुनीन्द्र-श्रीमत्परमहंसोंके जिस जीवनका अनुपम रीतिसे चित्रण किया है, उसके वे स्वयं मूर्तिमान स्वरूप ही थे। जीवनके चरम चरणमें देश-काल-कलना-विमुक्त अखण्ड बोधरूप शिवतत्त्वके रूपमें ही वे श्रीवाराणसी केदारखण्डमें विराजमान थे। भागवत-कथामृतका पान करते अघाते नहीं थे। रोमाञ्च-कण्टकित प्रेमाश्रुपरिप्लुत उनके स्वरूपका वह मङ्गलमय दर्शन भावुक-रसिकोंके और रसज्ञोंके हृदयमें स्फुरित रहे। अरसिकोंके हृदयमें उन्हींके शब्दमें यह रहस्य अभिव्यक्त करे—

'कई लोग कहते हैं, जो द्वैत मिथ्या मानेगा, वह भक्ति कर ही नहीं सकता। सगुण-साकार जिसकी दृष्टिमें सर्वथा मिथ्या एवं असत् है, उसकी भक्ति विडम्बना मात्र है।' परन्तु ऐसा कथन तथ्यहीन है। ब्रह्मको सत्यका भी सत्य कहा गया है, सत्यस्य सत्यम्। षष्ठ्यन्त सत्य प्रथमान्त सत्यकी अपेक्षा न्यून है। इसी आधारपर सत्ता त्रैविध्यकी कल्पना भी है। मिथ्या शब्दका अपह्नव या अपलाप अर्थ, लोगोंको भ्रममें डालता है। शुक्ति-रजतादि बाध्य होते हैं; अत: वे प्रातिभासिक सत्य कहे जाते हैं। घटादि उनकी अपेक्षा अबाध्य होनेसे व्यावहारिक सत्य सिद्ध होते हैं। घटादि उनकी अपेक्षा अबाध्य होनेसे व्यावहारिक सत्य सिद्ध होते हैं। घटादि कार्य भी स्वकारण मृत्तिकादिकी अपेक्षा बाध्य, मिथ्या एवं न्यूनसत्तावाले होते हैं। मृत्तिकादि उनकी अपेक्षा अबाध्य, सत्य एवं अधिक सत्तावली होती हैं। क्रमेण इसी तरह बढ़ते-बढ़ते भगवद्गुणादि सर्वापेक्षया सत्य, उत्कृष्ट, अबाध्य एवं अधिक सत्तावाले होते हैं। 'मां भजन्ति गुणा: सर्वे' के अनुसार गुणगण शेष हैं और भगवान् शेषी। सर्वान्तरतम भगवत्-स्वरूप उनकी अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट सत्य एवं अत्यन्ताबाध्य होता है। इस तरह भगवत्स्वरूपापेक्षया गुणादिके किञ्चन्न्यून-सत्तावाला होनेपर भी कोई बाधा नहीं। स्वसमान सत्तावाले किसी अन्यके सिद्ध न होनेके कारण भगवान्की अद्वितीयता सिद्ध है।

अचिन्त्य-आनन्द-सुधासिन्धु भगवान्के जिस माधुर्यका समास्वादन केवल वृत्तिशून्य अन्त:करणसे नहीं किया जा सकता, उसका भी तत्त्वज्ञ भावुकगण भगवान्की दिव्य लीलाशक्तिकी सहायतासे अनुभव करते हैं। उपाधिविशुद्धिके तारतम्यसे माधुर्य-विशेषके प्राकट्यका भी तारतम्य रहता है। यद्यपि और इन्द्रियों (करणों)की अपेक्षा तो शुद्ध निर्वृत्तिक अन्त:करणकी स्वच्छता विशेष है तथापि भगवान्की जो लीलाशक्ति है, वह उसकी अपेक्षा भी अनन्तगुणित स्वच्छ है। वह रजोगुण-तमोगुणके स्पर्शसे रहित है। वही अशेष-विशेषातीत परमानन्दात्मक शुद्धस्वरूपको अचिन्त्य एवं अनन्त आनन्दमय सौन्दर्य-सुधानिधि परम दिव्य श्रीकृष्णविग्रहमें अभिव्यक्त कर देती है। जिस प्रकार पुष्पके बीजमें कण्टकादि उत्पन्न करनेवाली शक्तियोंकी अपेक्षा सुकोमल एवं सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करनेवाली शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध होती है, उसी प्रकार प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तियोंकी अपेक्षा भगवान्की मङ्गलमयी मूर्तिका स्फुरण करने वाली शक्ति परम विलक्षण होनी ही चाहिए। उसीके द्वारा भगवान् अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधानिधि मङ्गलमूर्ति धारण करते हैं। वह देह

सोपाधिक चेतनका कार्य होनेपर भी प्राकृतिक कार्योंसे विलक्षण होता है। तामस, राजस देहोंकी अपेक्षा विशुद्ध सत्त्वमय शरीरोंमें विशेषता रहती ही है। तामसी या अविशुद्ध सत्त्वप्रधान प्रकृतिसे चैतन्य आवृत होता है, परन्तु विशुद्ध सत्त्वप्रधान प्रवृत्ति, माया या दिव्यशक्तिसे निरावरण ही रहता है। सूर्य मेघसे आवृत हो जाता है, परन्तु नेत्र और सूर्यके मध्यमें दूरवीक्षण यन्त्र होनेसे वह आवृत नहीं होता। जैसा स्पर्शविहीन आकाश स्पर्शवान् वायुके रूपमें प्रकट होकर भी अपने आकाशरूपमें बना ही रहता है, वैसे ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर भी परमात्मा अपने निर्गुण-निराकार रूपमें बने ही रहते हैं। समान सत्तावाले भावाभावका ही विरोध होता है, विषम सत्तावाले भावाभावका नहीं, अतएव पारमार्थिक सत्तापेक्षया किञ्चन्न्यून सत्ताकत्व ही उस दिव्य शक्तिका व्यावहारिकत्व है, जिसके योगसे अवतार सम्भव है। तथा च ब्रह्ममें पारमार्थिक-दृष्टिसे अजायमानता रहनेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे जायमानता हो सकती है।

श्रीराम-कृष्णादि भगवान्की प्रथम अद्वैत-निष्ठा योग्यता प्राप्तिके लिए भक्ति की जाती है, परन्तु अन्तमें भक्ति करना ज्ञानीका स्वभाव बन जाता है। यही बात 'त्रिपुरा-रहस्य' में कही गयी है—'विभेदभावमाहत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परै:', 'परम आप्तकाम, पूर्णकाम ज्ञानी फलानुसन्धान बिना ही स्वभावसे ही भगवान्में प्रेम करते हैं'। शुकके सम्बन्धमें कहा ही गया है—'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये', निर्गुण ब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेपर भी हरि-गुणोंसे आकृष्ट होकर ही श्रीभागवतके अभ्यासमें संलग्न हुए। कुन्तीने तो यहाँतक कह डाला कि अमलात्मा-परमहंस-महामुनीन्द्रोंको भक्तियोगका विधान कर श्रीपरमहंस बनानेके लिए निर्गुण-निराकार परब्रह्म सगुण-साकार रूपमें प्रकट होते हैं—'तथा परमहंसानाम्'। भगवान्के अवतारका प्रधान प्रयोजन अमलात्मा परमहंसोंके लिए भक्तियोगका विधान है। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वे अपनी महामायाशक्तिको स्वीकार करते हैं, जो कि अनन्तशक्तियोंका पुञ्ज है। उसमें जिस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामकादि प्रपञ्चको उत्पन्न करनेकी अनन्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर श्रीभगवान्के दिव्य मङ्गलमय विग्रहमें आविर्भूत होनेके अनुकूल भी एक परम विशुद्धा अन्तरङ्गा शक्ति है। वह भगवान्की अनिर्वचनीय आत्मयोगभूता महाशक्तिके अन्तर्गत होनेके कारण अनिर्वचनीयतामें अन्य प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्तियोंके समान होनेपर भी उनकी

अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ है। इसी विलक्षण शक्तिका निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरङ्गाशक्ति आदि शब्दोंसे भी किया जाता है। वह शक्ति भी भगवत्स्वरूपमें अप्रविष्ट रहती हुई ही उनके प्राकट्यका निमित्त होती है। जिस प्रकार उपाधि विरहित, अतएव दाहकत्व प्रकाशत्व-रहित अग्निके दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्ट दीप-शिखादिरूपकी अभिव्यक्तिमें तेल और बत्ती आदि केवल निमित्तमात्र ही हैं, मुख्य अग्नि तो दीप-शिखा ही है; अथवा जिस प्रकार तरङ्गविरहित नीरनिधिके तरङ्गयुक्त होनेमें वायु केवल निमित्तमात्र ही है, वास्तवमें तो तरङ्गयुक्त समुद्र विलक्षणावस्थामें प्रतीत होनेपर भी सर्वथा वही है जो निस्तरङ्गावस्थामें था, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीलाशक्तिरूप निमित्तसे शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त कल्याणगुणगण विशिष्ट सगुण ब्रह्मके रूपमें अभिव्यक्त है; किन्तु वस्तुत: उसका वह विग्रह मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य शक्तिका निवेश नहीं है। वह तो तट स्वरूपसे ही उसकी निमित्त होती है। इसीलिए भगवान्‌की सगुण मूर्तिके विषयमें 'आनन्द-मात्रकरपादमुखोदरादि:' 'आनन्दमात्रैकरसमूर्तय:' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इसीसे उसकी मधुरिमा बड़े-बड़े सिद्ध मुनीश्वरोंके मनोंको मोहित कर देती हैं। जिस समय बालयोगी सनकादि वैकुण्ठधाममें पहुँचे, उस समय प्रभुके पादारविन्द-मकरन्दके आघ्राणमात्रसे उनका प्रशान्त चित्त क्षुभित हो गया। मुक्ति-भुक्ति-स्पृहा रहित भक्तोंको भगवान्‌का निर्विशेष स्वरूप सन्तृप्त नहीं कर सकता, उनके लिए भगवान्‌को श्रीराम-कृष्णादि रूपोंमें व्यक्त होना पड़ता है।

श्रीमद्भागवत एवं श्रीरामचरितमानस तो इसी आधारपर भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्रबोधका सामञ्जस्य बतलाते हैं। वेद, उपनिषदों तथा अन्य पुराणोंका भी ऐसा ही स्वारस्य प्रतीत होता है। सन्त ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ रामदास आदि सब अद्वैतवादी होते हुए भी अनन्य वैष्णव थे।

इस तरह 'नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्वितासीत्' यह उक्ति श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराजके सम्बन्धमें पूर्णरूपसे चरितार्थ हुई है। वेदवाणी और तदनुकूल समस्त शास्त्रोंका जैसा समन्वित और समञ्जस स्वरूप उन्होंने अपनी वाणी और लेखनीके द्वारा व्यक्त किया है, वह आत्मसात् करने योग्य हैं।

❋

स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज

जैसे घड़ीकी सूई क्षण-क्षण बदलती जाती है, वैसे ही मनकी गति भी परिवर्तित होती रहती है। अन्तर यह है कि घड़ीकी सूई केवल आगे बढ़ती है, परन्तु मन आगे-पीछे, क्रम-अक्रम सब ओर भ्रमण करता है। मनके लिए किसी स्वर-तालसे पाद-विन्यासका नियम नहीं है। बदलते तो मन-मनके समान अथवा क्षण-क्षणके समान कण-कण भी हैं। परन्तु, भ्रमवश वे स्थिर जान पड़ते हैं। संस्मरण लिखने बैठे एक स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी (बम्बईवाले)के परन्तु मनमें अनेक श्रीकृष्णानन्द स्वामियोंके चित्रपट उभर आये। तो आइये, इन महात्माओंकी थोड़ी-थोड़ीसी झलक एक-एक पलक देखते चलें। इनकी बाँकी झाँकीकी निराली छवि-छटा मनमें चमकती चले; झिलमिल-झिलमिलाती चले। इनके दर्शनके रस-सीकर छलकते चलें।

श्रीहरिबाबाजी महाराज (बाँधवाले) जिन्होंने गंगातटपर तेईस मील लम्बा हाथी जैसा ऊँचा, बैलगाड़ियोंके चलने योग्य चौड़ा बाँध बनाकर, सात सौ ग्रामोंकी जन-धन, पशु-धनकी रक्षा की थी। गाँव-गाँव, ठाँव-ठाँव, श्रीहरिनाम-संकीर्तनकी पावन ध्वनिकी शिक्षा-दीक्षा देकर एक दिव्य वातावरणकी सृष्टि कर दी थी, आदरणीय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराजके सम्बत्सर-व्यापी नामयज्ञमें झूसी (प्रयाग) पधारे हुए थे। प्रारब्धका भोग, शरीरमें आगया रोग। ऐसा संयोग बना कि श्रीहरिबाबाजी महाराजका उठना-बैठना बन्द हो गया। अतिसारका प्रकोप था, वाग्-व्यवहारका लोप था। इसी समय आगये स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी, श्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्त, भगवान्‌में समासक्त, मधुर रसके उपासक, सखी वेशके धारक, शरीरमें अंगराग, रोम-रोममें अनुराग, घूँघट-पटसे समावृत मुखमण्डल, भगवद्-रागके परागसे रञ्जित, भावसे व्यञ्जित। श्रीहरिबाबाजी महाराज उठकर बैठ गये। रोग भाग गया, प्रेम जाग गया। प्रेमालाप आरम्भ हुआ। प्रभु-दर्शनमात्र शान्त रस है। सेवामें संलग्न, सर्व-भावसे मग्न, अपनी सुध-बुध खो गयी; प्रियतमके सम्मुख केवल सेवाका सुख—यह दास्य रस? प्रियतमने रख दिया कन्धेपर हाथ,

हृदयसे लगाकर कर लिया साथ—सख्य रस! भक्तके हृदयमें उदय हुआ स्नेहका चन्द्रमा, मङ्गलमय वत्सल रसका आविर्भाव हुआ। ऐश्वर्यका तिरोभाव हो गया। जैसे माताके उत्सङ्गमें शिशु, ऐसे भक्तके हृदयकी प्रेमतरङ्गमें उन्मज्जन-निमज्जन करते हुए प्रियतम शिशु, स्नेहके क्षीरसागरमें यशोदोत्सङ्ग-लालित—प्रियतमकी शिशु-लीला। प्रेमका प्राबल्य, भावका शावल्य। भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति। क्षण-क्षणमें रसकी चमक, परमानन्दकी झलक। न लघु; न गुरु। एक-से अनेक, अनेकसे एक। विवेक-अविवेक, घुलमिलकर एक हो गये—मधुर रस!

बहुत वर्षोंके बाद मैंने श्रीहरिबाबाजी महाराजसे पूछा था कि यह क्या चमत्कार हुआ कि आपको इतनी प्रबल पीड़ाका विस्मरण हो गया और सत्सङ्गका ऐसा रङ्ग चढ़ा कि पूरी निशा किसी उन्मादक नशेमें, क्षणके समान व्यतीत हो गयी। श्रीहरिबाबाजीने बड़े प्रेमसे हँसकर बताया कि श्रीकृष्णानन्दजीको देखकर उन्हें महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी उस लीलाका स्मरण एवं स्फुरण हो गया जिसमें उनको श्रीरामानन्द रायसे जगन्नाथपुरीमें श्रीकृष्ण-प्रेमरसका आस्वादन किया था। मन मग्न हो गया, देह-भाव भग्न हो गया। जब वे प्रातः चले गये, फिर रोग आगया।

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके संकीर्तन-यज्ञमें ही एक दूसरे महात्मा श्रीकृष्णानन्दजी आये थे। नाम वही, परन्तु प्रीति-रीति विलक्षण! वे विरक्त वेश-भूषामें रहते थे। खान-पानमें संयमी, दुबले-पतले, संसारकी कोई वासना नहीं, रहनीमें कोई आडम्बर नहीं। बड़े सीधे-सादे। वे प्रान्तकी दृष्टिसे बंगाली थे, परन्तु भावमें वृन्दावनी। मैं श्रीमद्भागवतकी कथा कर रहा था। प्रसङ्गवश मैंने श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धुके कुछ श्लोक सुनाये। कथासे उठनेके बाद उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया। अत्यन्त प्रसन्न थे। मुझे दो श्लोक अपने हाथसे लिखकर दे गये। वे श्लोक श्रीराधा-सुधानिधिके थे। मुझे तबतक इस रसनिधिके सम्बन्धमें कुछ पता नहीं था। वे श्लोक ये हैं—

अलं विषयवार्त्तया नरककोटिवीभत्सया
वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः।
परेश-भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः
परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु॥

बस-बस, विषयोंका व्यापार बन्द करो। उनकी वार्ता भी कोटि-कोटि नरकसे भी बीभत्स (गन्दी) है। श्रुति-कथामें परिश्रम करना वृथा है। कैवल्य मुक्ति? हाय-हाय, उससे भय लगता है। अरे भाई, शुकदेव आदि महापुरुष

परमेश्वरके भजन-मधुका पान करके उन्मत्त हो रहे हैं। होने दो, उससे क्या होता है। अच्छा, तो आप चाहते क्या हैं? श्रीवृषभानुनन्दिनी, नित्यकिशोरी श्रीराधा स्वामिनीके पदारविन्द-मकरन्द-मधुमें मेरा मन-मधुकर सर्वदाके लिए डूब जाये, निमग्न हो जाय। ठीक, और कुछ नहीं।

दुकूलं विभ्राणामथ कुचतटे कंचुकपटं
प्रसादं स्वामिन्याः स्वकरतलदत्तं प्रणयतः।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविधपरिचर्य्यैकचतुरां
किशोरीमात्मानं किमपि सुकुमारीं नु कलये॥

मैं श्रीस्वामिनीजीकी सहचरी हूँ, साड़ी पहने हुए। वक्षःस्थलपर कञ्चुक-पट। श्रीस्वामीनी, श्रीराधा रानी अपने करकमलोंसे मुझे प्रसाद दे रही हैं—बड़े प्रेमसे। बस, प्रेम-ही-प्रेम! मैं उनके पासमें ही नित्य रहती हूँ। सब प्रकारकी सेवा करनेमें निपुण हूँ। मैं हूँ एक सुकुमारी किशोरी, ऐसा मुझे अनुभव हो रहा है।

वे महात्मा बड़े निःस्पृह थे। 'न ऊधोका लेना, न माधोका देना'। उनके मुखारविन्दपर मन्द-मन्द शुचि मुस्कान, नेत्रोंमें प्यार, वाणीमें नधुरता, कभी-कभी याद आती है। वे फिर मुझे नहीं मिले। कहाँसे आये थे, कहाँ गये—कोई अता-पता नहीं चला। अब तो सैंतालीस-अड़तालीस वर्ष बीत चुके।

तीसरे स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी थे टाटवाले। मैंने तो उनको टाट पहने कभी नहीं देखा था, परन्तु पहले वैसा करते थे। वस्त्र केवल कौपीन ढकनेके लिए धारण करते थे। ठण्डके दिनोंमें चादर ओढ़ते थे। एकान्त-प्रिय थे। जीवन्मुक्तिकी पाँचवीं-छठी भूमिकाओंवाले महात्माओंपर उनकी अधिक श्रद्धा होती थी। श्रीहरिबाबाजी महाराजके पास अधिक आया-जाया करते थे। व्याख्यान आरम्भ करते तो अद्वैत-सिद्धि, चित्सुखी या खण्डन-खण्डखाद्यका कोई लम्बा सन्दर्भ, संस्कृतमें बोलते थे। अद्वैतका निरूपण करनेके पश्चात् भक्ति एवं नाम-संकीर्तनमें उपसंहार करते थे। एक बार दिल्लीमें किसी भक्तके घर गये तो बोले कि अरे ध्यानके समय कोई ऊँचे स्वरसे बोल देगा तो मैं मर जाऊँगा। भक्तने हाथ जोड़ लिया कि महाराज, मेरे घरमें बाल-बच्चे हैं, आप कहीं और ठहर जाइये। वे हँसने लगे और बोले—'ऐसे नहीं; कोई क्रोधमें जोर-जोरसे बोले तो।'

पंजाबमें कोई गदापुर नामका ग्राम है। वहाँ एक महात्मा रहते थे। स्वामी कृष्णानन्दजीकी श्रद्धा थी कि वे छठीं भूमिकामें रहते हैं। अपनी शान्त-एकान्त कुटियामें निःसंकल्प बैठे रहते हैं। कोई बुलाये तो कभी बोल दें, अन्यथा मौन,

निःसंकल्प। स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी हरिबाबाजी को आग्रह करके उनके पास ले गये। हरिबाबाजी भी चुप एवं महात्मा भी चुप। घण्टे भर बैठकर बाबा चले आये। श्रीकृष्णानन्दजीने गदापुरवाले महात्मासे कहा कि श्रीहरिबाबाजी महाराज बहुत बड़े महात्मा हैं। वे आपके पास वृन्दावनसे यहाँ आये थे। आप बोले नहीं? महात्माने कहा—'अच्छा, अब आयें तो मुझे बता देना।'

स्वामी कृष्णानन्दजी दुबारा हरिबाबाजीको वहाँ ले गये। बाबाने पूछा कि हमें अपने कल्याणके लिए क्या करना चाहिए? छठी भूमिकावाले महात्माने कहा—'अब संकीर्तन छोड़कर आत्माकी ब्रह्मरूपताका चिन्तन करो। श्रीहरिबाबाजी चुप रह गये। उन्हें महात्माकी बात जँची नहीं। उनके मतमें तो जीवन्मुक्तिकी सर्वोच्च अवस्था समाधि और विक्षेपमें कोई अन्तर नहीं करती थीं। वे बाँधपर मिट्टी भी डालते थे; भक्तोंके साथ कबड्डी भी खेलते थे; घण्टा बजाकर ऊँचे स्वरसे संकीर्तन भी करते थे और गाँवके लोगोंके साथ सर्वथा घुल-मिल जाते थे। अन्ततोगत्वा स्वामीश्री कृष्णानन्दजी भी श्रीहरिबाबाजीके प्रति श्रद्धालु हो गये। संकीर्तन, रासलीला, भगवद्-गुणगान आदि में रम गये। जगह-जगह उत्सव भी करने लगे।

एकबार खन्नानगरमें एक बड़े उत्सवका आयोजन हुआ। स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी ही आयोजक थे। परम पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज, श्रीहरिबाबाजी महाराज, श्रीआनन्दमयी माँ, हमलोग पचीसों व्यक्ति उनके साथ वृन्दावनसे मोटरों और बसोंमें बैठकर, कुरुक्षेत्र एवं अम्बालामें उत्सव करते वहाँ गये। बड़ा आनन्द रहा। श्रीकृष्णानन्दजीकी ही सारी व्यवस्था रही।

खन्नानगरमें ही एक महात्मा रहते थे—श्रीत्रिवेणीपुरीजी। नग्नप्राय रहते थे। लोगोंके बीचमें यदि रहते तो एक काला कम्बल ओढ़ लेते। वे बालकोंकी तरह खेला करते थे। वे पहरा भी दे लेते और समाधि भी लगा लेते थे। श्रीकृष्णानन्दजी उन्हें गुरुके समकक्ष ही मानते थे।

खन्नानगरमें एक दिन श्रीउड़ियाबाबाजी, श्रीहरिबाबाजी, श्रीआनन्दमयी माँके साथ श्रीत्रिवेणीपुरीजी बैठे हुए थे। किसी भक्तने इलायचीकी एक पुड़िया लाकर रखी। मैंने वह पुड़िया हाथसे उठा ली और श्रीत्रिवेणीपुरीजी महाराजसे पूछा—'यह क्या है?' वे हँसकर बोले—'यह ब्रह्म ही है।' मुझे वह पुरानी याद आगयी जब कर्णवासमें श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने गंगातटपर दोनों हाथसे बालू उठाकर कहा था—'शान्तनु, जबतक यह बालू साक्षात् ब्रह्म न जान पड़े, तबतक समझना कि ज्ञान अधूरा है।' सचमुच महात्माओंके अनुभवमें कोई द्वैत अथवा

विकल्प नहीं है। अन्यथा राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती; दुःख बना ही रहेगा।

मेरे मनमें श्रीत्रिवेणीपुरीजीके प्रति श्रद्धाका उदय हो गया। अतः दूसरे दिन ब्रह्मवेलामें ही मैं उनके पास जाकर बैठ गया। जो कुछ हुआ उसे मेरी श्रद्धाका उद्रेक कहिये, उनके संकल्पकी स्फुरणा कहिये अथवा आकस्मिक घटना-विशेष ही कह लीजिये—मुझे ऐसा लगा मानो आनन्दकी गंगा बह रही है। रसका समुद्र लहरा रहा है। आह्लादकी वर्षा हो रही है। सुखके फुहारे छूट रहे हैं। आनन्द ही आनन्द! ॐ मधु, मधु, मधु!! लगभग २०-२५ मिनट तक ऐसा ही रहा। स्थिति सामान्य होनेके बाद श्रीत्रिवेणीपुरीजीने कहा—'केवल पृथिवी नहीं है, ऐसी दृष्टि करो। न जंगल है, न पर्वत; न नगर है, न गाँव, न घर है, न प्राणियोंका शरीर; न चाँदी, न सोना। सब मिट्टीके खिलौने हैं। जब मिट्टी ही नहीं रही तो मेरा-तेरा क्या? बाँस नहीं तो बाँसुरी क्या? फिर तो पंचीकृत जल, अग्नि, वायु और आकाश भी नहीं। केवल चिदाकाश, आत्माका प्रकाश—इसको आत्माका प्रकाश—इसको आत्मोल्लास कहो चाहे विलास। द्वैत, अद्वैत सब मिट गये।'

टाटवाले श्रीकृष्णानन्दजीको हम लोग अवधूत श्रीकृष्णानन्दजी कहते थे। वे एकबार श्रीहरिबाबाको हरिद्वारके पास बहादुराबाद ले गये। चाणोदमें जिन्हें नारायणका दर्शन हुआ था, वे नारायण स्वामी वहाँ रह रहे थे। श्रीहरिबाबाजीके आगमनसे वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बाबासे कहा कि आज मुझे नारायणने दर्शन देकर आज्ञा की है कि हरिबाबासे कह दो कि अब घण्टा-घड़ियाल छोड़कर वेदान्त-चिन्तन करें और निवृत्ति-परायण होकर शान्त भावसे रहें। श्रीहरिबाबाजीने कहा—नारायण, श्रीनारायणको यह ज्ञात है कि घण्टा-घड़ियाल बजाकर संकीर्तन करता-कराता हूँ, इसका मुझे बहुत हर्ष है। परन्तु वे स्वयं मुझे आज्ञा क्यों नहीं करते, आपके द्वारा क्यों कहलवाते हैं। आप उनसे कह दीजिये कि वे स्वयं मुझे आज्ञा दे दें।

अवधूत श्रीकृष्णानन्दजी संगीतके बड़े प्रेमी थे। उन्होंने ब्रजभूषण नामके एक संगीतज्ञको कुछ दिनों तक अपने साथ रखा था। वह जब स्वर-तालसे भगवत्-सम्बन्धी संगीतका गान करता तब वे मस्तीमें झूमने लगते थे। नेत्रोंमें आँसू, शरीरमें रोमाञ्च और मन आनन्दमें मग्न हो जाया करता था।

अच्छा; तो आइये! बम्बईवाले श्रीकृष्णानन्दजीकी चर्चा करें। यह तो उनके नामका चमत्कार है जो इतने 'कृष्णानन्द' नामवाले महात्माओंका स्मरण हो गया। एक-सम्बन्धी ज्ञान, दूसरे स्व-सम्बन्धियोंका स्मारक होता है। मनकी गति-मति-

रति निराली है। वह अमृत और विष दोनोंकी प्याली है। उसमें भर लो अमृत— पीओ और पिलाओ। वह चकाचक छके रहनेके लिए बना है। हाँ, तो श्रीकृष्णानन्दजी ऐसे ही एक आनन्दवर्षी और आनन्दी महात्मा थे।

मुझे उनके गृहस्थ-आश्रमके नाम, ग्रामका पता नहीं है। उनका जन्म प्रयागराजके पास सम्भवत: सुल्तानपुर जिलेमें हुआ था। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उत्तम कुल, सरल स्वभाव। पहले वे बम्बईके किसी सेठकी गद्दीमें काम करतेथे। उनकी ईमानदारीपर सेठका विश्वास था। उन्हें वह सेठ पाँच-पाँच लाख रुपये तक दे देता था कि उस गद्दीमें पहुँचा दो या वहाँसे ले आओ। कभी उनके काममें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं हुई।

एक बार उनसे दस हजार रुपये खो गये। सेठ बहुत नाराज हुए। उसने कह दिया कि मैं तुम्हारे वेतन-से काट लूँगा। डेढ़ सौ रुपयेके लगभग वेतन था, आधा काटकर सेठ ले लेता; आधेसे वे अपना निर्वाह करते।

भगवान्की ऐसी प्रेरणा हुई कि भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार (कल्याण-सम्पादक) जो कि उस सेठके अनन्य मित्र थे, गद्दीमें गये। बातचीतके सिलसिलेमें रुपयेवाला प्रसंग भी आया। भाईजीने पूछा—'वह आदमी ईमानदार है कि नहीं?' सेठ—'वर्षोंसे मेरे पास रह रहा है। लाखों रुपये लाता-ले जाता था। उसमें कभी कोई गलती तो नहीं हुई। ईमानदार ही मानना पड़ेगा। भाईजी—'यदि वह चोर है, बेईमान है तो उसे गद्दीमें रखना उचित नहीं है; फिर कोई गड़बड़ी करेगा और यदि ईमानदार है तो उसके वेतनमें कटौती अनुचित है। निश्चय हुआ कि वह ईमानदार आदमी है। उन्हें बुलाया गया। सेठने कहा कि तुम्हारे वेतनमें कटौती नहीं की जायेगी और जो की गयी है वह लौटा दी जायेगी। तुम्हारी ईमानदारीपर मुझे कोई सन्देह नहीं है। ब्राह्मण देवताने वहीं भगवान्को साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। नेत्रोंमें आँसू आये और बोले कि मैं तो आपका ऋण चुकानेके लिए ही काम कर रहा था। प्रभुकी प्रेरणासे आपने मुझे मुक्त कर दिया। अब मैं काम नहीं करूँगा। वे वहाँसे गंगा-तटपर चले आये। यह था श्रीकृष्णानन्दजीका पूर्व जीवन।

बुलन्दशहर जिलेमें अनूपशहर और कर्णवासके बीचमें भेरिया (भृगुक्षेत्र) नामक सुप्रसिद्ध स्थान है। वहाँ पहले अच्छे-अच्छे महात्मा निवास करते थे। भारतवर्षके प्रसिद्ध विद्वान् एवं महात्मा श्रीअच्युत मुनिजी महाराज वहीं नौकापर रहा करते थे। वे पहले आर्यसमाजके एक प्रतिष्ठित प्राध्यापक रह चुके थे। बादमें अद्वैत-वेदान्ती हो गये थे। वे सब शास्त्रोंके मर्मज्ञ थे। कभी-कभी वहाँ

श्रीउग्रानन्दजी, श्रीबंगालीबाबा, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज भी आया करते थे। वेदान्त-सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नोंका समाधान हुआ करता था। एकबार किसीने श्रीअच्युतमुनिजीसे पूछा—'आप सीधे बैठकर सूर्यकी ओर क्या देखा करते हैं?' उन्होंने कहा—'अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्यकी सूर्यावच्छिन्न चैतन्यकी एकता देखा करता हूँ।' किसी समय श्रीहरिबाबाजी महाराजने श्रीअच्युतमुनिजीसे कहा—'महाराज, ऐसी कृपा कीजिये कि वृत्ति स्वरूपमें टिकी रहे।' वृद्धावस्थाके कारण मुनिजी झुककर बैठे हुए थे सो तन गये और बोले—'अरे हरि! तू आलसी बनना चाहता है? कृपा क्यों? तू स्वयं वृत्तिको स्वरूपमें स्थिर कर या वृत्तिको छोड़ दे। उन दिनों श्रीलालजी याज्ञिक, श्रीभूदेव शर्मा आदि बड़े-बड़े वेदान्त-प्रेमी मुनिजीसे सत्संग किया करते थे।

बम्बईवाले ईश्वर-विश्वासी, सरलचित्त, ईमानदार ब्राह्मणने वहीं आकर एक निवृत्ति-परायण दण्डी स्वामीसे दण्ड-ग्रहण किया। उनका नाम श्रीकृष्णानन्द आश्रम हो गया। भगवत्-प्रेरणासे वे बाँधपर श्रीहरिबाबाजीके सम्पर्कमें आ गये और नाम-संकीर्तनमें उनकी निष्ठा दृढ़ हो गयी। उनकी धीर-गम्भीर नाम-ध्वनि दिग्-दिगन्तमें व्याप्त हो जाती थी और भगवान्से विमुख जीवोंको भी उनके सम्मुख कर देती थी। ९० वर्षकी अवस्थामें भी उनकी उदात्त स्वर-लहरी दूर-दूरतक गूँज उठती थी।

स्वामी कृष्णानन्दजीसे मेरी पहली भेंट बम्बईमें ही हुई। हजारों उत्तर भारतीय उनके संकीर्तनमें एकत्र होते थे तथा उनके प्रति महती श्रद्धा रखते थे।

परार्थ श्रोता—

उसी समय श्रीशान्तिबाई पित्तीने, जो कलकत्तेके श्रीनिवास पोद्दारकी सगी बहिन थी, मुझसे आग्रह किया कि आप मुझे श्रीमद्भागवत सुनाइये। मैंने उनसे कहा कि मैं गृहस्थोंको भागवत नहीं सुनाता हूँ। यह बात स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीको ज्ञात हुई तो उन्होंने आकर कहा कि मैं श्रोता बनूँगा। सिंहानिया-बाड़ीमें बड़े धूम-धामसे भागवतकी कथा हुई। स्त्रियोंके लिए बैठनेका अलग स्थान बनाया गया; क्योंकि वहाँ सत्संगमें स्त्रियोंका आना वर्जित था। राजस्थानी, गुजराती, उत्तरप्रदेशी सैकड़ों लोगोंने उसमें भाग लिया। स्वामीजीका संकीर्तन होता। लोग भक्तिभावमें तन्मय हो जाया करते। प्रपञ्चका विस्मरण होकर भगवान्में मन लगना यह जीवके परम कल्याणका हेतु है।

सन्तका संकल्प

मैं कर्णवासमें ज्वरग्रस्त हो गया था। ज्वर कई दिनोंतक लगातार थोड़ा-

थोड़ा बना रहा। एक दिन स्वामी कृष्णानन्दजी आये। मेरे तख्तेपर ही बैठ गये। कुशल-मङ्गलके पश्चात् उन्होंने कहा कि यदि कल ज्वर आगया तो मैं गंगामें कूदकर प्राण त्याग कर दूँगा। मैं तो डर गया, कहीं ये महात्मा प्राण न दे दें। वर्षाऋतुकी बढ़ी-चढ़ी गंगाकी धारा सामने ही कोसोंतक दीख रही थी। परन्तु, दूसरे दिन ज्वर नहीं आया और मैं स्वस्थ हो गया। उसके बाद बाँधके उत्सवमें, कर्णवासमें, बम्बईमें उनसे मिलना-जुलना होता ही रहा।

सरलहृदयी—

इतने सरल चित्त थे वे महात्मा कि कोई आकर उनसे कह देता कि स्वामीजी, आपको तो ज्वर है, तो वे तुरन्त कम्बल ओढ़कर लेट जाते थे। किसीकी बातपर अविश्वास नहीं करते थे। न वे स्वयं कोई छल-छिद्र करते थे; न दूसरोंमें कल्पना करते थे। कभी किसीकी निन्दा नहीं करते थे। उन्हें दूसरोंका दोष दिखायी नहीं पड़ता था। यदि कोई आकर वर्णन करने लगता, तो उसे रोक देते थे और कानोंमें पड़ जाय तो दोनों हाथोंसे अपना कान पकड़ लेते थे। कहते थे—'भगवान्का नाम लो, हरे राम! हरे राम!!'

मस्तराम बाबा—

जब श्रीकरपात्री महाराजने बम्बईमें मरीन ड्राईवपर लक्ष-चण्डी यज्ञका आयोजन किया तो उन्होंने मस्तराम बाबाको जो वृन्दावनके परमहंस आश्रममें रहते थे और श्रीकरपात्रीजी एवं मेरे बीचके कड़ी थे—उनको मेरे पास भेजा। वे श्रीकरपात्रीजीपर अत्यन्त श्रद्धा करते थे और मुझसे बहुत-बहुत प्रेम। वस्त्र कम-से-कम पहनते थे और जब मैं परमहंस-आश्रममें रहा करता था तब कभी-कभी अपने हाथों बढ़िया भोजन बनाकर खिलाया करते थे। बाबा मस्तरामके मनमें एक ओर तो भगवान्से पूरी प्रीति थी दूसरी ओर संसारसे वैराग्य। स्पष्ट-भाषी थे। किसीसे कोई लावलपट नहीं रखते थे। जो कुछ उन्हें मिल जाता था, महात्माओंको खिला देते थे। वे अपने साथ मुझे एवं अपने साथियोंको लेकर बम्बई गये।

रोटी भेजनेवाला—

ट्रेनकी यात्रामें कुछ ऐसा हुआ कि वह अभीतक स्मरण आता है और उसे लिखकर ही आगे बढ़ना ठीक रहेगा—मैंने खण्डवाके भक्त कन्हैयालालको तार दे दिया था कि स्टेशनपर भोजनका प्रबन्ध करें। कन्हैयालाल बीस-पचीस महात्माओंके लिए पूरी-साग, रबरी, मिठाई आदि लेकर आये। हम थे चार-पाँच। ट्रेनके यात्रियोंको खिलाया गया। जब ट्रेन वहाँसे चली तब एक पंजाबी सज्जन मेरे

पास आये। उन्होंने कहा—'स्वामीजी! देखो, भगवान्की लीला! मैं घरसे एकाएक चल पड़ा था। बाजारकी वस्तु खाता नहीं। परन्तु भगवान्ने मेरे लिए भोजन भेज दिया।' बड़े भावुक थे, नेत्रोंमें आँसू आगये।

उन्होंने एक कथा सुनायी—

एक महात्मा घनघोर जंगलमें रहते थे। उन्हें कोई अपना नन्हा-सा बालक समर्पित कर गया था। वे गाँवमें-से भिक्षाकी सामग्री लेकर उसे खिलाते-पिलाते। अठारह-बीस वर्षकी उम्र तक वह किसी गाँवमें नहीं गया; कोई स्त्री नहीं देखी। उस बालकको यह भी ज्ञात नहीं था कि महात्मा उसे कहाँसे लाकर भोजन देते हैं। महात्मा बूढ़े थे, मर गये। वह जैसे बाल्यावस्थासे भजन करता था, वैसे ही करता रहा। भोजनकी कोई चिन्ता नहीं थी। उस दिन एक बुढ़िया जंगलमें घास, लकड़ी लेनेके लिए आयी। युवा साधुको दो रोटी खानेके लिए दे दी। यह क्रम वर्षोंतक चलता रहा। कभी बुढ़िया बीमार पड़ी तो उसने अपनी युवती कन्याको रोटी पहुँचानेके लिए भेज दिया। युवा साधुने देखा, पूछा—'वह माता कहाँ है? तुम कौन हो?' परिचय बतानेपर युवा साधुने पूछा—'वह माता दूसरी तरहकी थी तुम दूसरी तरहकी। तुम्हारी छाती ऊँची क्यों है?' युवतीने कहा—'यह दूधी है—दूधकी थैली, बच्चेको पीनेके लिए, इसमें दूध आता है।'

युवा साधुने पूछा—'क्या तुम्हारे बच्चा है?'

युवतीने उत्तर दिया—'अभी तो मेरा विवाह ही नहीं हुआ है। बच्चा कहाँसे होगा?',

युवा साधुने कहा कि अभी बच्चा आया नहीं, भगवान्ने दूधकी थैली भेज दी! बच्चेके आनेके पहले दूध भेज देगा! अच्छा तो वही भगवान् मुझे रोटी भेजेगा। कलसे तुम मत आना।

उस यात्रीने कहा कि अवश्य ही भगवान्ने उस साधुको रोटी खिलाई होगी। आज भगवान्ने ही मुझे भोजन दिया है। वह यात्री तो मुझे फिर कभी नहीं मिला; किन्तु उसकी बात मुझे समय-समयपर याद आती रहती है।

नाम-विश्वास—

बम्बई पहुँचनेपर श्रीकरपात्रीजी महाराजके विशाल यज्ञमें सुरक्षा रहे, विरोधी, नास्तिक, सिरफिरे लोग कोई बाधा न डालें, इसका प्रबन्ध करना था। मैंने स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीसे सम्पर्क स्थापित किया। उन्होंने यज्ञ-भूमिमें ही एक विशाल संकीर्त्तन-मण्डप बनवाया। भगवान्के चित्रपट स्थापित किये गये। ऐसी झाँकी बनायी कि हजारों लोग उसका दर्शन करने आया करते थे। हजारों उत्तर

भारतीय प्रतिदिन कीर्त्तन करनेके लिए आने लगे। सैकड़ों उपस्थित रहते। श्रीकृष्णनन्दजी महाराजका आसन वहाँ जम गया। जहाँ भगवान्‌का नाम है, वहाँ कोई भय नहीं, ऐसा उनका विश्वास था। श्रीकृष्णानन्दजीके संकेतपर घण्टे-दो-घण्टेमें ही पाँच हजार उत्तर भारतीय भक्त उपस्थित हो सकते थे। कितने बड़े-बड़े महात्मा यज्ञमें पधारे हुए थे। शंकराचार्य, बल्लभाचार्य, म० म० श्रीगिरधर शर्मा चतुर्वेदी, पण्डितप्रवर श्रीचन्द्रशेखरजी शास्त्री महाराज (जो अब पुरीके शंकराचार्य हैं) आदि उस यज्ञ मण्डपमें आते और श्रीकृष्णानन्दजीके प्रभावको देखकर आश्चर्यचकित हो जाते। भगवन्नामकी गगनस्पर्शी ध्वनि अवभृथ-स्नानपर्यन्त गूँजती रही।

स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज, श्रीउड़ियाबाबाजीको एवं श्रीहरिबाबाजीको साक्षात् शिव एवं विष्णुके रूपमें मानते थे। वे इन दोनों महात्माओंके चमत्कार भी सुनाया करते। प्रतिवर्ष श्रीहरिबाबाजीके बाँधपर उत्सवमें वे सम्मिलित होते और संकीर्तनकी सारी जिम्मेवारी उनपर रहती थी। वे कभी-कभी चमत्कारकी ऐसी-ऐसी बातें सुनाते जिनपर सहसा लोगोंका विश्वास नहीं हो पाता।

स्वामी कृष्णानन्दजीका श्रीहरिबाबाजीमें एवं भगवन्नाममें कितना विश्वास, कितनी श्रद्धा थी; इसके कुछ उदाहरण देखिये—

मुर्दा जी उठा—

बाँधके पास ही गँवा नामक कस्बेमें श्रीरामेश्वर लाल अग्रवाल रहा करते थे। उनके पिता एवं पुत्र अर्थात् पूरा परिवार श्रीहरिबाबाजीका अनन्य भक्त था। रामेश्वरलालजी रुग्ण थे, उनकी मृत्यु हो गयी। शव घरमें-से निकालकर आँगनमें सुला दिया गया। श्रीहरिबाबाजी महाराज वहाँ गये। साथमें श्रीकृष्णानन्दजी भी थे। बाबा और उनके साथी घण्टा बजाकर कीर्त्तन करने लगे और शवकी परिक्रमा करने लगे। घण्टों हो गया, संकीर्तन बन्द ही न हो। इसी बीच शव हिला, उठकर बैठ गया। खड़ा होकर कीर्त्तन करने लगा। अभिप्राय यह कि रामेश्वरलालजी जीवित हो गये। कीर्त्तन करनेवालोंमें श्रीकृष्णानन्दजी भी थे। रामेश्वरलालजीके पुत्र धीरेन्द्र कुमार अग्रवाल, उत्तर प्रदेशकी पुलिसमें ऊँचे पदपर काम कर रहे हैं।

सरल विश्वास—

स्वामी कृष्णानन्दजीके सरल विश्वासकी एक और कथा सुनिये—

बाँधपर उत्सव हो रहा था। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथ मैं भी गया था। वहाँ दस-बीस हजार गाँवके लोग इकट्ठे होते थे। एक दिन श्रीकृष्णानन्दजीने

मुझे अपने पास बुलाया और बोले—स्वामीजी, आज रातके समय पण्डित जवाहरलाल नेहरू गुप्त रूपसे बाँधपर आये थे। उन्होंने घूम-घूमकर सब देखा। किसीसे मिले नहीं। बस; दोनों बाबाको चुपचाप हाथ जोड़कर चले गये। मैंने यह बात प्रत्यक्ष अपनी आँखोंसे देखी है। सम्भव है उन्हें कोई स्वप्न आया हो; तन्द्रा-अवस्थामें देखा हो; किन्तु वे उसे प्रत्यक्ष ही मानते थे। मैंने तर्क-वितर्क किया तो बोले कि तुम नहीं जानते नेहरूजी कौन हैं? वे एक दिव्य पुरुष हैं, एक बहुत बड़े सिद्ध महापुरुषने उनके रूपमें जन्म लिया है।

मैंने पूछा—'सो कैसे?'

वे बोले—पहले पण्डित मोतीलाल नेहरूके कोई पुत्र नहीं था। पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके मनमें यह अभाव बहुत खटकता था। वे पण्डित मोतीलाल नेहरूको लेकर गरुड़-चट्टी गये, जो बद्रीनाथके मार्गमें है। वहाँ एक सिद्धसंकल्प महात्मा निवास करते थे। लोगोंका विश्वास था कि वे छठी भूमिकामें रहते हैं। वे महात्मा अपनी ओरसे किसीसे कुछ बोलते नहीं थे। भक्त लोग अपने हाथोंसे स्नान-भोजनादि कराते थे। पण्डित मदनमोहन मालवीयने महात्मासे आग्रह किया कि मोतीलालजीके पुत्र होना चाहिए, चाहे जैसा हो—इनके वंशका लोप नहीं होना चाहिए। उन दिनों मालवीयजीके प्रति सभीके मनमें बहुत आदर-भाव था। महात्माजीके भक्तोंने भी आग्रह किया कि आप इनका संकल्प पूरा कर दीजिये। महात्माजीने कहा कि भाई, मैं पुत्र कहाँसे लाऊँ! इनके भाग्यमें पुत्र नहीं है। मालवीयजीने कहा कि महाराज, आप तो भाग्य भी बदल सकते हैं, मेरा यह मनोरथ पूर्ण कीजिये। महात्माजीने कहा—'तुम देशके एक शिष्ट पुरुष हो, सदाचारी हो। मेरे पास एक मनोरथ लेकर आये हो तो मैं ही इनके पुत्रके रूपमें जन्म लूँगा।

थोड़े ही दिनोंमें महात्माका वह शरीर छूट गया और पं० मोतीलालजीके पं० जवाहरलाल नेहरू पुत्र-रूपमें प्रकट हुए। पं० जवाहरलाल नेहरू की दृष्टि विश्वजनीन है। वे एक देश, प्रान्त, जातीयता, साम्प्रदायिकता, वर्ग, भाषा आदि किसी भी संकीर्ण घेरेमें आबद्ध नहीं हैं, वे तो महात्मा हैं, सिद्ध हैं, सब कुछ कर सकते हैं। देखो न, उनके जन्मके बादसे ही उनकी माताजी स्वरूपरानी नेहरू कितनी भक्त हो गयी हैं और त्रिकोणीमें नावपर बैठकर भगवन्नामका जप करती रहती हैं।'

स्वामी कृष्णानन्दजी बोले।

मैं आश्चर्यचकित भावसे स्वामी श्रीकृष्णानन्दजीके सरल-सरल वचन सुन रहा था। कितना विश्वासी था उनका चित्त।

असंगताकी मूर्ति—

स्वामी कृष्णानन्दजी सर्वथा निर्भय थे। कहीं भी जंगलमें, दंगलमें एकरस रहते थे। कई बार देखा कुएँके पास जाकर बैठ गये। भक्तोंने लाकर उनके ऊपर छप्पर डाल दिया। रामायणका पाठ,ऊँचे स्वरसे भगवन्नामका संकीर्त्तन होने लगा। गाँवके लोग अपने-अपने घरोंसे पका-पकाया भोजन लेकर आगये। स्वामीजी सबको बाँटकर खिलाते-खाते थे। उनके मनमें कोई जात-पाँतका विचार नहीं था। पापी आवे, पुण्यात्मा आवे; शूद्र आवे, ब्राह्मण आवे—सबको हाथ जोड़ते थे। सबमें भगवान् हैं, सबके रूपमें भगवान् हैं। न किसीसे राग, न रोष! वे सद्भावके कोष थे। प्रशंसा सबकी करते थे, निन्दा किसीकी नहीं। निन्दा सुनते भी नहीं थे। भगवान्पर अटल विश्वास था।

प्रति वर्ष मकर संक्रान्तिके दिन प्रयाग पहुँच जाते थे। एक मासतक वहाँ निवास करते थे; गंगास्नान करें कि न करें। पहलेसे कोई प्रबन्ध नहीं। उनके भक्त लोग वहाँ आते। भगवन्नाम-संकीर्त्तन और सबके लिए भोजनका द्वार खुला। कभी ध्यान-समाधि लगाकर नहीं बैठते थे। वैराग्यका प्रदर्शन नहीं करते थे। पूजा-पत्री नहीं कराते थे। सबके साथ सद्व्यवहार; सबके प्रति समान भाव, सबका आदर। वे लोगोंके बीचमें रहकर भी असंगताकी मूर्ति थे। आज ऐसे सत्पुरुषका दर्शन दुर्लभ ही है।

❈

दण्डी स्वामी श्रीकृष्णानन्द सरस्वती

(कैवल्यधाम, काशी)

मान्य कौन ?

श्रीविष्णुसहस्रनाममें भगवान्के क्रमश: तीन नाम आते हैं—अमानी, मानद, एवं मान्य। महर्षि भृगुने भगवान्के वक्षस्थलपर पदाघात किया। भगवान्ने तुरन्त उठकर ऋषिके चरणोंका संवाहन आरम्भकर दिया-'महाराज! आपके चरण कितने सुकुमार सुकोमल हैं। मेरा वक्षस्थल कितना कठोर है-व्रजके समान। कहीं चोट तो नहीं लगी?' स्वयं अपने अपमानको भुलाकर ऋषिको इतना मान देना प्रभुका कितना अचिन्त्य, अद्भुत कल्याण-गुण है। यही कारण है कि वे तीनों लोकमें सबसे अधिक मान्य हैं। इससे साधारण जनको यह शिक्षा मिलती है कि स्वयं मान नहीं करना चाहिए, दूसरोंको मान देना चाहिए। ऐसे गुणसे युक्त पुरुष ही लोकमें मान्य होता है।

स्वामी श्रीकृष्णानन्द सरस्वतीजी महाराजका पूर्वोक्त प्रवचन स्वनाम-धन्य ऋषिकल्प महामहोपाध्याय श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़ (पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्रीके पिताजी) ने श्रवण किया था, अनेक लोगोंके साथ। उन्होंने स्वयं संस्कृत भाषाके निबन्धमें यह प्रसंग लिखा है।

वैदुष्य—

स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती कौन थे? मैंने उन्हें देखा नहीं था। मेरे जन्मसे पूर्व विक्रम सम्वत् १९६५, मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीयाको ही वे ब्रह्मलीन हो गये थे। परन्तु, मेरे अध्ययनके समय पण्डित-समाजमें उनकी अप्रतिम प्रतिभा, अखण्ड पाण्डित्य, उज्ज्वल चरित्र, त्याग-वैराग्यके उत्कर्ष एवं निर्भीकताकी चर्चा हुआ करती थी। उन दिनों संस्कृतके विद्वानोंमें यह चर्चा चला करती थी कि श्रीशिवकुमार शास्त्रीजीके गुरु श्रीबाल शास्त्रीजी एवं दादा-गुरु श्रीराजाराम शास्त्रीजी उनके प्रतिभा-पाण्डित्यपर मुग्ध थे एवं पण्डित-मण्डलीमें उनकी

बारम्बार प्रशंसा किया करते थे। एक बार तो ऐसा भी हुआ कि किसी प्रसिद्ध विद्वान्‌ने अपने वेदविरुद्ध निबन्धपर श्रीबाल शास्त्रीजी महाराजके हस्ताक्षर ले लिये थे; परन्तु, स्वामी श्रीकृष्णानन्द सरस्वतीजीने उसका खण्डन लिखकर श्रीबाल शास्त्रीजीको दिखाया, सुनाया। शास्त्रीजीने उस निबन्धकी भूयोभूयः, भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसपर हस्ताक्षर किया। श्रीस्वामीजी महाराजका वेदान्त-सम्बन्धी चिन्तन अनुपम था। वे भगवान् श्रीशंकराचार्यके सिद्धान्तका एक-एक अक्षर श्रुति-सर्वस्व मानते थे और उसके समर्थन के लिए अनुभव-रससे ओत-प्रोत युक्तियोंकी शत-शत राशि उपस्थित कर देते थे। धन्य उनकी प्रतिभा, धन्य उनका पाण्डित्य!

हाँ, तो अब सुनिये उनका पवित्र, विचित्र चरित्र—

जन्म—

स्वामीजी महाराजका जन्म सम्वत् १८८५ में कर्णाटक प्रान्तके छोटेसे ग्राम—पम्पामें हुआ था। इनके पूर्वजोंमें बड़े-बड़े महापुरुष हुए थे, उनमें-से एक थे श्रीसायंदेवजी। वे श्रीदत्तात्रेयजीके अवतार माने जानेवाले, अनेक प्रौढ़ ग्रन्थोंके कर्ता स्वामी श्रीनृसिंह सरस्वतीजीके चार पट्ट शिष्योंमें-से एक थे। उनकी प्रतिष्ठा, प्रतिभा, विद्या, सिद्धि सर्वजन-विदित थी। स्वामीजीके पितामह श्रीरायभट्टजी थे, जो कुमशीकरके राजाके गुरु थे। उन्होंने काशीमें महान् याग किया था। काशीमें ही उन्होंने शरीर त्याग किया। स्वामीजीकी पितामही, पितामहके साथ सती हो गयीं। ऐसे धर्मप्राण थे इनके पितामह और पितामही। इनके पिताका नाम राम था और माताका जानकी। माताजी जयाके नामसे भी प्रसिद्ध थीं। माताजी अत्यन्त पति-परायणा थीं। इन्हींकी कोखसे स्वामीजीका जन्म हुआ था।

अध्ययनकी उत्सुकता—

वे बाल्यावस्थामें, अपने जन्मके ग्राममें अपनी शाखाके वेदका अध्ययन समाप्त करके, सिद्धान्त कौमुदी आदि व्याकरण, न्यायके ग्रन्थोंका अध्ययन करने लगे। चौदह वर्षकी अवस्थामें ही उन्हें शास्त्रोंका ऐसा अभ्यास हो गया कि वहाँके अध्ययन, अध्यापनसे उन्हें तृप्ति नहीं होती थीं। उनके मनमें अधिकाधिक अध्ययनकी उत्सुकता थी। क्या करें? कहाँ जायँ? माता, पितासे आज्ञा मिलना सम्भव नहीं था। ऐसी अवस्थामें काशी जायँ तो कैसे जायँ! परन्तु, शास्त्रोंके अध्ययनकी इतनी उत्कण्टा थी कि वे अधिक दिनतक अपनेको रोक न सके। वे माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना ही काशीके लिए चल पड़े। विद्या अथवा योगका जिज्ञासु धर्म एवं धर्मशास्त्रके ऊपर उठ जाता है।

गङ्गा-तरङ्गोंसे निरन्तर चुम्बित बाबा विश्वनाथकी राजधानी वाराणसी, विद्याकी नगरी है। वहाँ विद्वानोंकी अनादिकालीन परम्परा है और वेद शास्त्रोंमें ऐसी एक भी पंक्ति नहीं है जिसको विवृत कर देनेवाले कोई-न-कोई विद्वान् वहाँ न रहते हों। वहाँकी गली-गलीमें सरस्वतीका उल्लासमय नृत्यसंगीत देखने, सुननेको मिलता है।

जिन दिनों कर्णाटकके बालक-चूडामणि काशी आये, उन दिनों वहाँ बड़े-बड़े विद्वान् विराजमान थे। महामहोपाध्याय श्रीशिकुमार शास्त्रीजीके गुरुदेव श्रीवाल शास्त्रीजी और उनके भी गुरुदेव श्रीराजाराम शास्त्री वाराणसेय राजकीय संस्कृत महाविद्यालयके प्रधानाध्यापक थे। उन्होंने श्रीबाल शास्त्रीजीसे अधिकांश शास्त्रोंका अध्ययन किया। उनकी नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा प्रतिदिन प्रस्फुटित होती जाती थी। श्रीबाल शास्त्रीजीने उनकी अद्भुत प्रतिभा देखकर कहा—'तुम बृहस्पतिके समान मेधा एवं प्रतिभाके धनी हो, अतएव तुम मेरे गुरुदेव श्रीराजाराम शास्त्रीजीसे शास्त्रोंका रहस्य जान लो। क्योंकि ऐसा प्रौढ़ पाण्डित्य पाणिनी, पतञ्जलि, गौतम, कपिल आदिमें ही रहा होगा। उनसे अध्ययन करनेपर अधीत अनधीत सभी शास्त्र तुम्हें करामलकवत् अपने तात्पर्यभूत अर्थका प्रदान कर देंगे।' सचमुच बाल शास्त्रीजीकी यह उदारता, सरलता, निरभिमानता एवं गुरुभक्ति शतशः प्रशंसनीय एवं आदर्श थी। अपने विद्यार्थीको और किसीके पास अध्ययनके लिए भेजना कोई साधारण बात नहीं है। ये श्रीबाल शास्त्रीजी महाराज ही काशीके ख्यातनामा धुरन्धर विद्वान् श्रीशिवकुमार शास्त्री, श्रीदामोदर शास्त्री, श्रीतांत्या शास्त्री एवं श्रीगङ्गाधर शास्त्री आदिके गुरु थे।

युवक-चूड़ामणि श्रीराजाराम शास्त्रीजीसे अध्ययन करने लगे। वे किसी भी शास्त्रको कहानीकी तरह समझानेमें समर्थ थे, परिष्कारमें अत्यन्त पटु। उनके बारे में प्रसिद्ध है—एकबार महाराजाधिराजकी प्रार्थनापर वे नेपाल गये। नेपालमें बड़े-बड़े विद्वान् रहते थे। शास्त्रार्थमें उनपर जो विजय प्राप्त करे उनको वहाँ सर्वोत्तम पदवी प्राप्त होती थी। अभ्यागत विद्वानोंको एक नगाड़ा बजाना पड़ता था कि वह किन-किन शास्त्रोंपर शास्त्रार्थ कर सकता है। पण्डितप्रवर श्रीराजाराम शास्त्रीने चतुर्दश विद्या स्थानोंकी दृष्टिसे तो नगाड़ा बजाया ही और भी बहुत समयतक नगाड़ेको पीटते रहे। महाराजाने प्रश्न किया—'पण्डितजी, इसका क्या अभिप्राय है?' पण्डितजी—'मैं सभी शास्त्रोंमें शास्त्रार्थ तो कर ही सकता हूँ, अखाड़ेमें मल्लयुद्ध भी कर सकता हूँ।' सचमुच उनकी हृष्टपुष्ट, बलिष्ठ, देहयष्टि अद्भुत शक्तिशालिनी थी। वे शास्त्रार्थमें तो विजयी हुए ही, मल्ल-मंगल-दंगलमें भी

विजयी हुए। उन्हें वहाँ सर्वोत्तम विद्वान्‌का सत्कार प्राप्त हुआ। उन्होंने ही अतिशय प्रीतिसे युवक-चूड़ामणिको समग्र शास्त्रोंका अध्यापन-तात्पर्य ग्रहण कराया।

वैराग्य—

युवक-चूड़ामणिके माता-पिता श्रीजानकी, रामचन्द्रने सुना कि उनका पुत्र इतना बड़ा विद्वान् हो गया है, तो वे दोनों काशी आये। उन्होंने घर चलनेका और विवाह करनेका आग्रह किया, परन्तु श्रीचूड़ामणिको काशीके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति हो गयी थी कि उन्होंने घर जाना स्वीकार नहीं किया। विवाहमें तो उनकी रुचि थी ही नहीं, संसारके भोगोंसे अतिशय विरक्ति थी। वे समझते थे कि संसार-बन्धनमें कितना दुःख है? भोगका परिणाम रोग। अपनेमें भोगकी न्यूनता एवं दूसरोंमें अधिकता देखनेपर मनमें ताप होता है। पुनः-पुनः भोगके लिए संस्कार जाग्रत् होते हैं। विविध भोगोंके भोगनेकी वासना बढ़ती है। यह भोगें कि वह, तनाव बढ़ता है। अधिक भोग करनेसे दूसरोंके प्रति अन्याय होता है। भोगके कौशल बढ़ते हैं। राग-अनुरागकी वृद्धि होती है। फिर कभी भोगोंसे छुटकारा नहीं मिलता। पण्डित-चूड़ामणिने माता-पिताकी आज्ञा नहीं मानी, विवाह करना स्वीकार नहीं किया। अपने पुत्रके प्रति माता-पिताकी आसक्ति बहुत अधिक थी। अतएव वे दोनों ही काशीमें रहने लगे। पिताने कहा कि अच्छा, तुम घर नहीं चलते, विवाह नहीं करते तो हम दोनों यहीं रहेंगे। यदि तुम संन्यासी हो रहे हो तो हमारी दो बातें स्वीकार कर लो। एक तो काशीमें देव-मन्दिरका निर्माण करा दो और दूसरे एक ऐसा ग्रन्थ लिख दो जो सदाके लिए तुम्हारे यशः-सन्तानका वितान बने। पण्डित-चूड़ामणिने माता-पिताकी दोनों बातें स्वीकार कर लीं।

गीताका सार-संक्षेप—

श्रीकृष्णानन्द सरस्वतीजी महाराज वि०सं० १९५० में गोदावरी तरङ्ग-रंगायमान श्रीनासिक क्षेत्रमें निवास कर रहे थे। वहाँ जिज्ञासुओंके समवायमें उन्होंने भगवद्‌गीताका सार-संक्षेप इस प्रकार प्रस्तुत किया—

गीताके प्रथम अध्यायमें जगदेकवीर पार्थकी साधन-सम्पदाका वर्णन है। उसका विवेक जाग्रत् है। राज्यसुख, भोगकी लिप्सा नहीं है। आत्माको देहातिरिक्त समझता है और संसार-व्यवहारसे खिन्न होकर धनुर्बाणके परित्याग-पर्यन्त स्वेच्छया अनुष्ठान कर लेता है। सचमुच ऐसे विचार-सम्पन्न नरके ही नारायण सारथि होते हैं।

द्वितीय अध्यायके आरम्भमें श्रीकृष्णके सम्मुख अर्जुनने बड़ी शिष्टता और स्पष्टताके साथ कह दिया कि मुझे प्रेय नहीं चाहिए, श्रेय चाहिए। श्रेयके साधन

साध्य पक्षमें अपना कार्पण्य एवं मोह स्वीकार करके श्रीकृष्णकी प्रपत्ति—शरण ली। सर्वतोभावेन श्रीकृष्णके प्रति आत्मसमर्पणमें ही अपना कल्याण है, इस निश्चयमें अर्जुनने अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की।

श्रीकृष्णने गीताके अन्तमें अर्जुनको सर्वधर्म परित्यागपूर्वक एकमात्र स्वशरणागतिका उपदेश किया। प्रश्न यह है कि सर्वधर्मका परित्याग क्यों? अधर्मका त्याग शास्त्रसे प्राप्त है। परन्तु धर्मका त्याग? यह तो एक विलक्षण, विचक्षण उपदेश है। इसका बीज क्या है? धर्मका रूप चाहे जो भी हो उसमें कर्ता होता है, क्रिया होती है और फल होता है। इस प्रकार धर्मानुष्ठानमें संसारका प्रवाह अक्षुण्ण बना रहता है। पहले भी था, आगे भी रहेगा। जिसका अन्तिम जन्म होता है उसके लिए इसके प्रवाहकी समाप्ति हो जाती है। अनात्माका ही त्याग होता है, आत्माका नहीं। शरण आत्मा ही है अर्थात् अधिष्ठान चेतन ही है, अनात्मा नहीं। यदि है तो उसका त्याग कैसा? क्या सत्यका त्याग? आत्माका त्याग? नहीं, नहीं! अच्छा तो जो नहीं है उसका त्याग। शुक्ति-रजतका त्याग अथवा बन्ध्या-पुत्रसे सम्बन्ध-विच्छेद? यह बात ही उपहासास्पद है। फिर धर्म-परित्याग, स्वशरणागतिका अर्थ ही क्या है? हाँ, अर्थ है। वह यह है कि जो असत् है, बन्ध्या-पुत्रके समान, मृगतृष्णाके जलके समान अथवा आकाशकी नीलिमाके समान उसका न जन्म है न मरण; न भाव है न अभाव। अच्छा तो जो सत् आत्मा है उसका भावाभाव है? उसका जन्म-मरण है? अजी, वह तो है ही। वह तो भावाभाव, जन्म-मरणका अधिष्ठान-स्वरूप चेतन ही हैं। अब बताइये त्याग किसका? केवल नित्य-परित्यक्तके परित्यागका ज्ञान अर्थात् 'बाध'। नित्य-शरणकी शरणागति अर्थात् अशरणागतिके भ्रमकी निवृत्ति— नित्य निवृत्तकी ही निवृत्ति। ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान। हाँ, तो अब सर्वधर्म-परित्यागका रहस्य खुल गया—उपदेशमात्रसे कृतार्थता।

अर्जुनने स्वीकार किया। ओहो, अज्ञान कहाँ है? नष्ट, अदृष्ट। मुझे तो कहीं दीखता नहीं। स्मृति? वह मिली कहाँ? पूर्व-लब्ध ही है, मिली मिलायी है। मिथ्या प्रपञ्चमें संशय क्या? नित्य शुद्ध, बुद्ध, अद्वितीय, साक्षात् अपरोक्ष आत्मामें संशय कहाँ? ठीक है, सूर्य-किरणोंके जलमें जो प्रवाह है (मृगतृष्णा) वह बहता रहे। उसमें रोक-टोककी आवश्यकता ही क्या है? अच्छा, कृष्ण! मेरे प्यारे सारथि, तुम जो कहते हो वही करूँगा। अब गुरुदेवकी किसी भी आज्ञाका पालन करनेमें कोई हिचक नहीं है।

यह है चतु:श्लोकी गीता—**१. कार्पण्यदोषोपहतः स्वभाव २. सर्वधर्मान् परित्यज्य ३. नासतो विद्यते भावः ४. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**—यह है नासिक क्षेत्रमें किया हुआ प्रवचन।

ज्ञानका श्रेष्ठ स्वरूप—

स्वामीजी महाराज स्वयं विचक्षण थे। उनकी सूझ-बूझ विलक्षण, सूक्ष्म एवं वस्तुग्राहिणी थी। काशीके पञ्चगंगा घाटपर सायंकाल विराजमान हो जाते। कुछ जिज्ञासुजन एकत्र हो जाते, जिनमें काशीके बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् भी होते। स्वामीजी विद्वानोंके लिए भी अश्रुतपूर्व, कल्पनातीत भावोंका उद्‌घाटन करते। समझानेकी शैली अत्यन्त सरल, गम्भीर अभिप्रायकी द्योतक होती थी। एक उदाहरण लीजिये—

उनका कहना था कि भगवान् श्रीकृष्णके अभिप्रेत ज्ञानका स्वरूप क्या है? अद्वैत ब्रह्मवाद, भेद ब्रह्मवाद या देह ब्रह्मवाद? लोक व्यवहारमें तीनों प्रकारके वाद देखे जाते हैं। चार्वाक, सौगत, अर्हत आदि स्थूल, सूक्ष्म आदि देहको ही तत्त्व मानते हैं। कोई भूत-चतुष्टय-पर्यवसायी हैं—द्रव्य प्रधान। कोई दर्श-पर्यवसायी हैं—आत्मतत्त्वका संकोच, विस्तार माननेवाले। कोई काल-पर्यवसायी हैं—तत्त्वकी क्षणिकता एवं शून्यताके अनुभवी। वस्तुतः यह सब देह-तत्त्वकी ही विविध परिकल्पनाएँ हैं। गीताकी दृष्टिसे इन्हें किस कोटिमें रखा जा सकता है? वस्तुतः यह सब तामस ज्ञानकी कक्षामें ही निक्षिप्त हैं। परिच्छिन्नता अथवा विनाश कार्यका ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ (१८.२२)

वह ज्ञान क्या ज्ञान है, जो श्रुति, स्मृति, युक्ति आदि प्रमाणोंके बिना ही एक कार्यरूप परिच्छिन्नतामें ही आसक्त हो जाय? यह अबाधित तत्त्वका स्पर्श नहीं करता। अल्पग्राही है अतएव तमोगुणी है।

भेदग्राही ज्ञान राजस ज्ञान है। वह एक कार्यमें आसक्त तो नहीं है परन्तु भिन्न-भिन्न वस्तुओंकी यथार्थताके दर्शनमें ही संलग्न है। यह पृथिवी है, यह जल है, यह अग्नि है, यह सामान्य है, यह विशेष है। पदार्थ सात हैं या सोलह हैं; छत्तीस हैं या तैतीस हैं; चौबीस, पच्चीस अथवा छब्बीस हैं। प्रकृति है अथवा विकृति है। प्रकृति, विकृति है। पुरुष अनेक हैं। कर्ता, कर्म, कर्मफल विविध हैं। जहाँ द्वैतमें फँसे, रजोगुण हँसे। यह ज्ञान रजोगुणी हो गया। यह निश्चप्रच है कि रजोगुणी ज्ञान श्रीकृष्णको अभीष्ट नहीं है। तमोगुणी तो दूरसे ही परास्त है। ध्यानसे पढ़िये—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ (१८.२१)

इस कक्षामें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा सभी आजाते हैं।

तीसरा ज्ञान है सात्त्विक। यह श्रेष्ठ ज्ञान है—गीताका प्रतिपाद्य है एवं श्रीकृष्णका अभिप्रेत अर्थ है। यह क्या है? इसके द्वारा क्या दीखता है, क्या अनुभव होता है? इस ज्ञानके द्वारा सभी भूत-भौतिक पदार्थोंमें एक अद्वितीय अधिष्ठानरूप वस्तुका साक्षात्कार होता है। वह वस्तु जिसके मिथ्यात्वका कभी निश्चय नहीं हो सकता—अव्यय। दृश्य प्रपञ्च विभक्त है—विषय, करण, देवता, जीव आदिके रूपमें। परन्तु, ज्ञान अर्थात् ज्ञानतत्त्व अविभक्त है। उसमें विभाग नहीं है। 'वासुदेवः सर्वम्' का पूर्ववर्ती है। देखिये—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (१८.२०)

ज्ञान है प्रकाशक। एक है अधिष्ठान। अव्यय है अबाधित। अविभक्त है अर्थात् विभाग एवं भेद मिथ्या है। जय हो श्रीशंकराचार्यकी! उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र उनकी वाणीमें बोल रहे हैं। शाक्त, शैव, गाणपत, सौर, वैष्णव सभी इस भावात्मक अद्वैतके उपासक हैं। शंकर परमार्थ अद्वैतके बोधक हैं। है न यही गीताका परम सिद्धान्त। इसीका संगीत है—

'तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्; विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी-तुल्यं।' धन्य है, धन्य है इस ज्ञानको जिसमें तामस, राजस एवं सात्त्विकताका भेद भी अभेदका बोधक है।

गीताका तात्पर्य—

अच्छा, तो इस बातपर भी ध्यान दीजिये—

परमार्थ-तत्त्वको जान लेनेपर पुनः मोह नहीं होता। अर्थात् अर्जुनको जो मोह हो रहा है, वह अज्ञानमूलक है। अज्ञानसे जिसकी प्राप्ति—वह मिथ्या और ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति, वह भी मिथ्या। हाँ, तो ज्ञानसे होता क्या है? सभी उत्पत्ति, विनाशशील पदार्थ, आत्मामें दीखने लगते हैं। 'भूतानि अशेषेण आत्मनि द्रक्ष्यसि।' अभी तुम अपनेको देहमें देखते हो। ज्ञान होनेपर देहको अपनेमें देखने लगोगे। देहसे आत्मा प्रकाशित नहीं है, आत्मासे देह प्रकाशित है। केवल देह ही नहीं, समग्र प्रपञ्च। यह क्या आश्चर्य है! 'दहर' अर्थात् हृदयसे अवच्छिन्न चेतनमें ही यह समस्त आकाशादि प्रपञ्च भास रहा है, उसीमें उसीसे। जो कुछ कम्पमान है, जो कुछ उदयास्तशील है, वह सब दृश्य है। वह स्वयं अपने बलपर नहीं है। द्रष्टाकी

दृष्टि है। अत: दृश्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परतन्त्र है। जो लोग, जन्म-मरणके कारण द्रष्टामें अनेकताकी कल्पना करते हैं, वे उसके स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं। नेत्रोंके पलकके समान उठता-गिरता यह प्रपञ्च दृष्टिकी नोकपर ही झूल रहा है।

हाँ तो आइये! इस तत्त्वका अधिगम प्राप्त कीजिये। भला इसके अधिगमसे क्या लाभ? अनादि कालसे संचित कर्मकोटिका सत्ता-नाश। क्रियामाण दृष्ट-नष्ट। प्रारब्ध भी भस्मीभूत। हाँ, भस्मको धारण किया जाता है। वह भासेगा, ज्ञानकी महिमा दिखायेगा। ब्रह्मसूत्र, पूर्वार्धका विनाश और उत्तरार्धका अश्लेष बतलाता है। याजुष श्रुति कहती है कि ज्ञानी पुरुष कर्मके प्रभावसे घटता-बढ़ता नहीं है। उसमें कर्म हैं ही कहाँ? यही कारण है कि तत्त्वज्ञ पापीसे पापीको भी ज्ञान-नौकापर आरूढ़ होनेके लिए आमन्त्रित करता है—'अपि चेदसि पापेभ्य:।' निष्कर्ष यह है कि सात्त्विक ज्ञान ही अर्थात् अभेद ज्ञान ही आत्मा, ब्रह्मकी भेद-भ्रान्तिका निवर्तक है। यही गीताका सिद्धान्त है।

स्वामी श्रीकृष्णानन्द सरस्वतीजी महाराज अपने व्याख्यानोंमें प्राचीन परम्पराके अनुसार ही शास्त्रार्थ अथवा वाक्यार्थका निरूपण करते हैं, ऐसा नहीं था। कभी-कभी वे अपने नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभासे अपूर्व अर्थका भी आविष्कार करते थे। इसके लिए उनका 'गीतार्थ-परामर्श' नामक निबन्ध देखने योग्य है। वे कहते थे कि जिस उद्देश्यसे शास्त्रकी प्रवृत्ति होती है, उसीमें उसका तात्पर्य होता है। ऐसी स्थितिमें इसी दृष्टिकोणसे गीतार्थका निर्णय भी करना चाहिए। धर्मका राज्य हो। धर्मप्रेमी नर अर्जुनकी जीत हो। श्रीकृष्णकी सहायतासे धर्मप्रेमी अर्जुन लोक-व्यवहारका ऐसा ज्ञान प्राप्त करे जिसके मूलमें तत्त्वज्ञान हो। लोक-व्यवहारका मूल नीति है। उपस्थित समस्याओंका समाधान करके लक्ष्य-सिद्धिकी जो युक्ति है, उसे नीति कहते हैं। नीति ही योग है। श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन, उठो! योगका आश्रय लो!' योगमातिष्ठोतिष्ठ। भला, यहाँ योग शब्दका अर्थ पातञ्जल आदि योग कैसे किया जा सकता है? क्या पातञ्जलादि योग युद्धके साधन हैं? नहीं, नहीं, यहाँ योगका अर्थ नीतियोग है। क्योंकि नीतिके अनुष्ठानसे ही जयकी प्राप्ति होती है। दुष्टोंका निग्रह होता है। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वाचार्योंने भिन्न-भिन्न स्थलोंपर योग शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वे यथार्थ भी हैं। परन्तु, गीताके विशिष्ट अर्थके बोधक नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णके वाक्य काल्पनिक नहीं हैं, उपनिषद्रूप हैं, वेद-रहस्य हैं। गीताको ब्रह्मविद्या कहनेका यह अभिप्राय है कि जिसने ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं की है, उसे धर्मसंस्थापनका अधिकार नहीं है। जो नीतिज्ञ नहीं है वह जय प्राप्त करनेका अधिकारी भी नहीं है।

अत: गीतामें योग शब्दका अर्थ नीति है, युक्ति है। अत: गीता माने ब्रह्मविद्यामूलक नीतिशास्त्र। निश्चय समझिये कि नीति ब्रह्मके समान ही गम्भीर है। अत: भगवद्वचन गीताका आश्रय लेकर अर्जुन, जयका अधिकारी होता है। 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' निश्चय ही गीता अर्जुनकी युद्ध विमुखताको दूर करनेके लिए प्रवृत्त हुई है। इसलिए युद्धमें इसका तात्पर्य है। सर्वधर्म-परित्यागके प्रसंगमें भी यही प्राप्त है कि नीति-विरुद्ध धर्मोंका परित्याग कर देना चाहिए। 'मा व्रज'का अर्थ है अर्जुन, तुम मुझे समझो। मैं तुम्हारा सहायक हूँ। सारी आपत्ति-विपत्तिको मैं दूर कर दूँगा। इसीके लिए मेरा अवतार हुआ है। मैं काल हूँ—लड़ो कि मत लड़ो। मैं तुम्हारे बिना भी सबका संहार कर सकता हूँ। यशस्वी बनो। शत्रुओंपर विजय प्राप्त करो। ये तो पहलेसे ही मरे-मराये हुए हैं। हाँ, तो तुम नपुंसक मत बनो। हृदयकी दुर्बलता छोड़ो। उठ खड़े हो। स्वामीजी महाराजका कहना था कि गीताकी व्याख्या करते समय श्रीकृष्णके इस अभिप्रायको ध्यानमें रखना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय यह है कि अध्यात्मज्ञानका सम्पादन करके नीतिके अनुसार व्यवहार करना चाहिए। सब कर्मोंका मुझमें समर्पण कर दो। कैसे? अध्यात्मज्ञानके द्वारा। आशा और ममता छोड़ दो। चिन्ता-ज्वरसे मुक्त होकर युद्ध करो। यह कर्मबन्धसे मुक्तिका मार्ग है। जो ऐसा नहीं करेगा, वह नाशके मार्गपर चलेगा। शास्त्र और नीतिमें विरोध नहीं है। भला, शास्त्र अथवा नीतिके विरुद्ध कोई चातुरी होती है। चतुर वही है, जिसकी नीति, ज्ञानसे सम्पुष्ट हो। अच्छा, बताइये तो सही कि ज्ञानके पश्चात् प्रारब्ध-शेष स्वीकार करते हैं कि नहीं? निश्चय ही प्रारब्धानुसारी जीवनमें नीतिकी अपेक्षा होगी। नीतियुक्त ज्ञान सशक्त होगा और जीवन्मुक्तिका पूर्ण सुख देगा। यह जो कहा गया है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है—'सदृशं चेष्टते' वहाँ प्रकृति शब्दका अर्थ है प्रारब्धकर्म, प्रारब्ध-प्राप्त कर्म करना—ज्ञान-सम्पन्न होना, सावधान रहना। यह जीवन्मुक्तका व्यवहार है। अप्राप्तमें प्रवृत्ति, प्राप्तका त्याग, यह विद्वान्का लक्षण नहीं है। शास्त्रनीतिसे रहित धर्म ही परधर्म है और वह भयावह है। विवस्वान्से लेकर ईक्ष्वाकु आदि राजर्षियोंने परम्परासे इसी धर्म-रहस्यको समझा है। 'तुम मेरे भक्त एवं सखा हो, इसलिए मैं बता रहा हूँ।' 'राजर्षयो विदु:'—इस धर्म के अधिकारी राजर्षि हैं क्योंकि यह नीतिशास्त्र है। नीति-सम्पन्न होनेसे राजा, विद्या-सम्पन्न होनेसे ऋषि। तुम भक्त हो इसलिए ज्ञान, सखा हो इसलिए नीति। अर्जुन, ध्यान दो!—हम गीताके व्याख्याताओंका ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं।

गीताके चिन्तन-मननसे यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि अर्जुनका उपसंहार-वचन अध्यात्म-विद्या और नीतिशास्त्र दोनोंको ही स्वीकार करता है। मोहका नाश अर्थात् अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति। स्मृतिका लाभ माने ममत्वके कारण भूले हुए नीतिशास्त्रकी उपलब्धि। भगवत्-प्रसादसे दोनोंका निश्चय हुआ; अतः सन्देहकी निवृत्ति। यह सिद्धान्त-सम्मत है कि प्रारब्धशेषके उपभोगके लिए विद्वान्को भी नीतिके अनुसार ही जीवन व्यतीत करना चाहिए। मानवताकी सफलता है, अध्यात्म-विद्यासे। क्षत्रियत्वकी सफलता है, नीतिशास्त्रसे—'करिष्ये वचनं तव'। गुरु भगवान्के चरणोंमें प्रणिपात। नीति और ब्रह्मविद्यामें एक-वाक्यता, गीताशास्त्रकी अपूर्वता है। यद्यपि दोनों विरुद्ध भासते हैं तथापि तात्पर्य एक ही है। यह गुरुकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। संजय बारम्बार रोमाञ्चित, आनन्दित होता है, अहो, आश्चर्य! आश्चर्य!!

अच्छा, अब सुनिये एक शंका-समाधान। यदि गीता ब्रह्मविद्यामूलक नीतिशास्त्र है तो समुच्चयवादका प्रसंग हुआ न! ब्रह्म-विद्या और कर्म। यह शंका ठीक नहीं। ज्ञानाग्निसे दग्ध प्रारब्ध कर्मका शेष, ज्ञानी पुरुषका अलंकरण है। अहो, इस ज्ञानीके सञ्चित, क्रियमाण, सब भस्म हो गये हैं। यह पाप-पुण्यसे मुक्त है। इसके जीवनसे जो कर्म होते हुए दीखते हैं—दूसरोंकी दृष्टिसे, वे फलोत्पादक नहीं हैं। ब्रह्मसूत्रका 'तदधिगमाधिकरण' स्पष्ट रूपसे कहता है कि तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् पूर्व कर्मोंका विनाश और उत्तर कर्मोंका अश्लेष हो जाता है। वही तो श्रीकृष्णने कहा—'करिष्यस्यवशोपि तत् ज्ञानी' कृतकृत्य है। उसके भासमान शरीरसे होनेवाले भासमान कर्म, न बन्धनके हेतु हैं और न ही ज्ञान विरोधी हैं। वे तो ज्ञानकी प्रचण्ड अग्निमें स्वाहा-स्वाहा, तत्काल हूयमान हैं। संजयने जो गीताका तात्पर्य बताया—'यत्र योगेश्वरः कृष्णः...' वह नीतिशास्त्रका ही तात्पर्य है। योगेश्वर श्रीकृष्ण, गुरु। पार्थ, शिष्य। ध्रुवश्री, ध्रुव विजय, ध्रुवभूति एवं ध्रुवनीति—इसमें 'भूति' शब्दका अर्थ ब्रह्मविद्या है, ध्रुव चारोंका विशेषण है।

देखिये महाशय, वक्ता चाहे कोई हो—श्रीकृष्ण, शंकराचार्य या मण्डनमिश्र। श्रोता चाहे कोई हो—हम सबको नमस्कार करते हैं। परन्तु, जो यथार्थ परमार्थ साक्षात् अपरोक्ष है, वही श्रवण, वर्णन करने योग्य है।

❋

ज्ञाननिष्ठ श्रीगणेशानन्द 'अवधूत'

एकादशी, संक्रान्ति एवं ग्रहण आदि पर्वोंपर मैं अपने पितामहके साथ गंगा-स्नानके लिए जाया करता था। गंगाजी मेरे गाँवसे दो-तीन मील दूर हैं। धानापुरके पास दम्भारी घाट है। एक टेकरीपर वट-वृक्ष था। उसकी छायामें शिव-लिंगकी स्थापना की हुई थी। वहाँसे बहुत दूर-दूरतक गंगाजी एवं गंगा पुलिनका दर्शन होता था। पलाशका जंगल भी उत्तम कोटिका था। मेरे पितामह स्नानके अनन्तर मुझे वहीं बैठा देते एवं स्वयं सन्ध्या-वन्दन, जप एवं पाठ करते। गायत्री-जपमें उनकी श्रद्धा थी। मैं जब वट-छायामें बैठा होता, एक सुन्दर स्वस्थ एवं युवा पुरुष, भगवती भागीरथीमें श्रद्धापूर्वक अवगाहन करके शंकरजीको जल चढ़ाया करते थे। वे पितामहके चरण-स्पर्श करते। मेरे लिए बोलते—'पाय लागी महाराज!' शिवताण्डव-स्तोत्रका पाठ करते —'जटा-कटा-सम्भ्रम' इत्यादि। उनका नाम था—'गणेश प्रसाद रस्तोगी।' पहचान हो गयी। बार-बार मिलना होने लगा। मैं जब 'लघु कौमुदी' पढ़नेके लिए धानापुर जाने लगा तो उनके कपड़ोंकी दुकानपर भी जाता। गणेशप्रसादजी दुकानपर बैठकर 'ज्ञान-वैराग्य-प्रकाश' 'दृष्टान्त-प्रकाश' या हिन्दी-पञ्चदशी पढ़ते होते और मुझसे कहते कि आप पढ़कर सुनाइये। मैं उन्हें देर-देर तक पढ़कर सुनाया करता। इस प्रकार युवावस्थामें ही उनके चित्तमें वेदान्तका संस्कार भरा हुआ था।

वे तीन भाई थे। गौरीशंकर, रामनाथ एवं गणेशप्रसाद। कपड़ेकी दुकान अच्छी चलती थी। बनी हुई भी सबसे ऊँची और सुन्दर थी। हमारे पितामह कभी-कभी कपड़ा खरीदनेके लिए उनकी दुकानपर जाया करते। अब तो याद आनेपर आश्चर्य होता है कि उन्हें बता दिया जाता कि अमुक-अमुक कपड़ा चाहिए—वे उसे बाँधकर रख देते और कागजपर कीमत लिख देते। मेरे पितामह उसे उसी समय अथवा बादमें चुका दिया करते थे। मोलभावकी बात कभी होती ही नहीं थी। व्यापारी और ग्राहकका वह सौजन्य और ईमानदारी अब कहाँ देखनेको मिलती है! इसी प्रसंगमें एक बात और याद आती है। इन्हींके पड़ोसमें एक मुसलमान सज्जन, पीर मुहम्मद खाँकी जूतोंकी दूकान थी। मैं बालक ही था। जूता पसन्द किया; पहन लिया। उन्होंने तीन रुपया दाम बताया, मैंने दे दिया। इसके बाद

उन्होंने अपने आप आठ आना वापिस किया। मैंने पूछा—'क्यों ?' वे बोले—'मैंने सोचा था कि तुम मोल-भाव करोगे तो आठ आना छोड़ दूँगा। मोल-भाव न करनेपर, मैं बेईमानी करके आठ आना अधिक कैसे लेता!' यह अबसे ६२-६३ वर्ष पहलेकी बात है। व्यापारी और ग्राहकके चित्तका एक निदर्शन है। गणेशप्रसादके भाई गौरीशंकर-प्रसाद रस्तोगीकी ऐसी ही मनोवृत्ति थी।

दुकानपर बैठकर वेदान्त-ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते-करते गणेशप्रसादके मनमें वैराग्यका उदय हुआ। माता थी, पत्नी थी, पुत्र थे, अच्छा व्यापार था। कोई कमी नहीं थी। परन्तु उनको वह सब नहीं भाता था। गंगा-तटपर चले जाते—देर-देर तक नहीं लौटते। शंकरजीसे प्रार्थना करते, 'हे प्रभो! हमारे चित्तको कामवासनासे मुक्त कर दो। आप कामके शत्रु हो, आपकी दृष्टि पड़ते ही काम भस्म हो जाता है। एक बार मेरे चित्तपर ऐसी दृष्टि डालिये! जब उन्हें वैराग्यका आवेश होता, घर-बार छोड़कर चले जाया करते थे। उन्हीं दिनों में, चित्रकूटकी पीली कोठी में उन्होंने स्वामीजी अखण्डानन्दजी महाराज का दर्शन किया। वे उच्चकोटिके विलक्षण महात्मा थे। 'शिवोऽहम्,' 'शिवोऽहम्' के अतिरिक्त कोई दूसरी बात उनके पास थी ही नहीं। वे जप, तप, पूजाका उपदेश नहीं करते थे। सीधी चोट करते थे—'परमानन्द स्वरूप तू, नहिं तुझमें दुःखलेश'—तुम परमानन्द स्वरूप हो। तुममें लेशमात्र भी दुःख नहीं है। तुम दुःखी नहीं हो, दुःखी के द्रष्टा हो। तुम अज्ञानी नहीं हो, अज्ञानीके साक्षी हो। तुम्हारा जन्म-मरण नहीं है। तुम अजर, अमर, अजन्मा हो। यही उपदेश वे किया करते थे। उनकी शिष्य-मण्डली बहुत बड़ी थी। गाँव-गाँवमें घूम-घूमकर 'शिवोऽहम्' का डंका बजाया करते थे। गणेशप्रसाद को यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यही 'सत्य-सिद्धान्त' है। सब श्रुतियों, मतियों, गतियोंका सार यही है।

बुद्धिमें निश्चय हो जानेपर भी वैराग्य टिकता नहीं था। कई बार घरसे जाते। काषाय वस्त्र भी धारण कर लेते। परन्तु कुछ दिनों बाद लौटकर आ जाया करते। हमारी सत्सङ्गगोष्ठी भी जमने लगी थी। वे कभी-कभी आया करते। मेरी माताजी को 'बूआजी' कहा करते थे। क्योंकि वे उन्हींके गाँव धानापुरकी लड़की थीं और गणेशजीकी माताजीके साथ उनका बहुत प्रेम था। सत्सङ्गका रङ्ग चढ़ने लगा। कभी-कभी उनके मनमें पश्चात्ताप होता, व्याकुल होते—'हाय! हाय! संसारके विषय-भोगोंमें, मोह-ममताके चक्करमें, मैं ऐसा फँस गया हूँ कि निकल नहीं पाता।' कभी रोते तो कभी दहाड़ने लगते—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्!' दोनों वृत्तियाँ ही बारी-बारीसे प्रबल हो जाया करतीं। जप, उपासना छूट गयी थी।

चित्तके लिए कोई आलम्बन नहीं था। उन दिनों उन्हें यही दुःख था कि चित्त-वृत्ति आत्मामें टिकती नहीं है। वैराग्य दृढ़ होता नहीं है। परन्तु सत्य तो यही है कि आत्मा, ब्रह्म है। इसका साक्षात्कार, अपरोक्ष अनुभव होना ही चाहिए।

वे मेरे घरपर आते। कभी-कभी दिन-दिन भर रह जाते। गीता-भागवत सुनते। जब भाई सुदर्शन सिंह 'चक्र' श्रीकृष्णकी लीला सुनकर बेसुध हो जाते—अश्रुपात, रोमाञ्च, विवर्णतासे शरीर आक्रान्त हो जाता तब मेरी माताजी तो बहुत आनन्दित होतीं परन्तु गणेशप्रसाद हँसा करते थे और दो-चार घण्टेके बाद जब 'चक्रजी' होशमें आते तब वे उनका उपहास करने लगते थे। वे मूर्तिपूजा, लीला आदिको बालकोंका खेल कहा करते थे। भाई सुदर्शन सिंह 'चक्र'जी भी कभी-कभी कह बैठते—'जैसे तुम शिवोऽहम्, शिवोऽहम् बोलते हो वैसे गर्दभोऽहम्, गर्दभोऽहम् क्यों नहीं बोलते!' उनकी विशेषता यह थी कि वे कभी किसी भी घटनासे अपना अपमान नहीं मानते थे।

गणेशजीके मनमें वैराग्यका अङ्कुर था। कभी-कभी उसमें पल्लव, पुष्प भी लगते थे; परन्तु फलित होनेसे पहले ही मनोवृत्ति बदल जाया करती थी। वैराग्यमें स्थायी भाव होना आवश्यक है। इसीसे शान्त-रसकी अनुभूति होती है। परन्तु स्थायीभाव बननेमें उन्हें पुनः-पुनः विफलता ही हाथ लगती। एक दिनकी बात है, सूर्यास्तके समय मैं गंगातटपर बैठा था। सूर्यकी रक्त-रश्मियोंसे क्षितिज भी रक्ताभ हो गया था। प्रकृति शान्त थी। गंगाजी प्रकृतिके समान मन्द-मन्थर गतिसे बह रही थीं और मैं तटस्थ, कूटस्थ भावसे पास ही बैठा हुआ था। गणेशजी फफक-फफककर रोने लगे। वे कहने लगे पारिवारिक मोह मुझे बहुत दुःख दे रहा है। मैं छोड़ना चाहता हूँ, छोड़ता भी हूँ, कभी-कभी चला भी जाता हूँ, परन्तु लौटकर फिर आ जाता हूँ। मुझे कोई ऐसी युक्ति बतलाइये कि हमेशाके लिए मैं इस बन्धनसे छूट जाऊँ। मैंने उन्हें एक युक्ति बतलायी। वह युक्ति नयी नहीं थी। विष्णुपुराणमें लिखी हुई है। साधकको चाहिए कि सत्पुरुषोंके आचरणकी निन्दा तो न करे परन्तु कुछ इस ढंगका आचरण करे कि लोग उसका अपमान करें और उसके साथ रहना पसन्द न करें। गणेशजीके मनमें यह बात बैठ गयी।

दूसरे दिन जब मैं कानूनगो साहबके निवास-स्थानपर गया तो ज्ञात हुआ कि गणेशजी बहुत बीमार हो गये हैं और कहते हैं कि पण्डितजी (अखण्डानन्दजी सरस्वती) ने मुझे विष पिला दिया है। उसमें कानूनगो साहबकी सलाह है। अब मैं मर जाऊँगा या पागल हो जाऊँगा। कानूनगो साहबके निवास स्थानके पास ही उनका घर था, इसलिए हम लोग तुरन्त उनके घर गये। वे पलंगपर पड़े हुए थे। पहले तो हम

लोगोंको खूब फटकारा। फिर लोगोंसे कहा कि सब लोग यहाँसे निकल जाओ। मैं इनसे बात करूँगा। मुझसे बताया कि बस, अब मैं नहीं छोड़ूँगा, परिवार ही मुझे छोड़ देगा। हम लोग चले आये। वे प्रात:काल घरसे निकलकर गंगा-तटपर वट-वृक्षके नीचे जाकर बैठ गये। दोपहरके समय पासकी ही एक बस्ती, जिसमें विजातीय लोग रहते हैं, जिनकी रोटी खाना समाजमें निन्दित माना जाता था, भिक्षा ली और भोजन किया। दो-तीन दिनमें ही यह बात बाजारमें, घरमें फैल गयी और लोग कहने लगे कि वे भ्रष्ट हो गये। इसी बीच एक दिन वे अपने घरमें प्रवेश करने लगे तो उनकी पत्नी कमरेमें जा छिपी। माताजीने आकर डाँटा—'अब तुम घरमें मत घुसो, नहीं तो बाल-बच्चोंका विवाह कैसे होगा!' वे पुनः गंगा-तटपर लौट गये। उनकी माताजी मेरे घरपर आयीं। मेरी माँसे उनका बहुत प्रेम था। वे मेरी माँको ननद जैसी मानती थीं। उन्होंने मुझसे कहा कि पण्डितजी, अब आप गणेशको कह दीजिये कि घरमें कभी न आये, नहीं तो रस्तोगी जातिमें हम लोगोंकी बदनामी होगी और हम लोग जातिसे बाहर कर दिये जायेंगे। बच्चोंका विवाह कैसे होगा? मैंने उनकी बात गणेशजीको कह दी और वे मिट्टीकी एक हँडिया लेकर वहाँसे निकल गये और भिक्षा माँगकर अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

आज जब मैं सोचता हूँ कि ८५ वर्ष की उम्रतक उन्होंने कोई शिष्य नहीं बनाया, कुटी नहीं बनायी, धन नहीं रखा। मान-अपमानपर ध्यान नहीं दिया। किसीसे राग-द्वेष नहीं किया। बालकवत् अपना जीवन व्यतीत किया। तब उनके जीवनकी कुछ विशेषताएँ अपने आप ही स्मृति-पथमें आने लगती हैं।

प्रयागमें अर्धकुम्भीका मेला था। विरक्तोंकी टोली गंगा-तटपर दूर रह रही थी। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज, श्रीकरपात्रीजी महाराजके साथ मैं भी विरक्तोंके दर्शन करने गया। विरक्तोंमें वेदान्तकी चर्चा अच्छी रही—तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् ज्ञानीके जीवन-मुक्त जीवनकी सिद्धिके लिए अविद्या-लेश स्वीकार करना चाहिए कि नहीं? परस्पर सत्संग होनेके बाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने कहा कि ज्ञानीकी दृष्टिमें न प्रारब्ध है और न तो अविद्या-लेश। वह तो अज्ञानियोंके सन्तोषके लिए उन्हींकी दृष्टिसे कल्पित है। उसी सत्संगमें गणेशजीको एक हँड़िया लिये 'अवधूत' के वेशमें मैंने देखा। विरक्त लोग उनका बहुत आदर करते थे। गौर वर्ण, स्वस्थ शरीर, अपरिग्रह, निर्भय, मुझे बहुत अच्छा लगा। उस समय मेरे मनमें भी वैराग्यकी ऐसी ही रूप-रेखा थी।

मैं झूसीमें आदरणीय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराजके संवत्सर-व्यापी संकीर्तनमें श्रीमद्भागवतकी कथा करता था। गणेशानन्दजी कभी-कभी वहाँ आ जाते

थे। उनके हृदयमें मेरे प्रति आदर, प्रेम और सम्बन्धका भाव भी था। मेरी बात वे मान लिया करते थे। मैंने उनसे कहा कि लंगोटी ढकनेके लिए ऊपरसे एक आच्छादन-वस्त्र धारण करना चाहिए। यह शास्त्रोक्त है। उन्होंने वैसा ही किया। एक दिन मैंने उनसे कहा—'मैं यहाँ भागवतपर प्रवचन करता हूँ, परन्तु मेरे पास कोई टीका नहीं है। उन्होंने किसी गृहस्थको बता दिया और स्वयं मेलेमें जाकर 'वंशीधरी टीका' खरीदकर ले आये। उतना बड़ा बोझ शायद उन्होंने कभी नहीं ढोया होगा। वह स्वयं अपने पास पैसा नहीं रखते थे। परन्तु मेरे लिए ही उन्होंने यह काम किया। जब मैं प्रयागसे गोरखपुर, कल्याण-परिवारमें चला गया, तब उनके साथ सम्पर्क प्रायः टूट गया! वे गंगा-किनारे विचरते थे। कभी गाँवमें, कभी पेड़ोंके नीचे रहा करते थे।'

जब कभी मुझसे मिलना हो तो दो दोहे प्रायः बोला करते—

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछु होअनहार।
अनुभव का दीदार है, अपना रूप अपार॥
पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

उनकी निष्ठा अद्वैत-वेदान्तमें अत्यन्त दृढ़ थी। वे धर्म, भक्ति या योगकी बात पसन्द नहीं करते थे। मैं स्वयं कल्याण-परिवारमें था। भक्ति और भक्तोंकी चर्चामें, उनके लेखन, स्वाध्यायमें मेरा अधिक समय व्यतीत होता। वहाँ भाईजी जैसे भक्त थे। गोस्वामी श्रीचिम्मनलाल जैसे श्रद्धालु विद्वान् थे और उन लोगोंके प्रति मेरे मनमें बहुत आदरका भाव भी था। परन्तु गणेशानन्द इन सब बातोंकी हँसी उड़ाया करते थे। वे कहते थे कि यह सब निरी भावुकता है। बात-बातमें भगवान् आकर दर्शन दे जाते हैं, कैसे भगवान् हैं? भगवान् दृश्य होंगे तो उनका प्रकाश मैं ही तो हूँगा। दृश्य तो ऐसी वस्तु है, जो चेतनके प्रकाशमें और चेतन अधिष्ठानमें ही भासती है। चेतन अपना आत्मा ही है। आप लोग दृश्य भगवान्‌की चर्चा क्यों करते हैं? स्वयंप्रकाश, अधिष्ठानकी चर्चा किया कीजिये।

जब मैं संन्यासी होकर कर्णवासमें रहने लगा, तब गणेशानन्दजी वहाँ आगये। वे अपनी हँड़ियामें भिक्षा माँगकर लाते, खाते। कभी-कभी भिक्षा देनेवालेके दरवाजेपर ही खड़े-खड़े खा लेते। यह बात जरूर थी कि जब मैं भोजन करने बैठता तब मेरी थालीके पास आकर बैठ जाते और जब मैं खाता तो वहीं माँगने लगते थे और मैं न दूँ तो ऊँ-ऊँ करके हाथ-पाँव पीटने लगते। लोग समझते थे कि ये स्वादु भोजनके लिए ऐसा करते हैं—किन्तु वह उनकी बालवत् चेष्टा होती थी। उनको भिक्षाकी सूखी रोटी खानेमें बहुत मजा आया करता था।

जब मैं वृन्दावनमें रहने लगा तो वे आकर मेरे पास रहने लगे। भोजनका क्रम वही था। एक बार वे मुझसे कहने लगे कि तीर्थमें जाना-आना तो तमोगुणी है। देवी भागवतका एक श्लोक बोलते थे—

इदं तीर्थ इदं तीर्थं भ्राम्यन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्ष शृणु प्रिये॥

शंकरजी कहते हैं कि हे पार्वती! तमोगुणी लोग यहाँ तीर्थ है, वहाँ तीर्थ है, यह तीर्थ है, इस प्रकारकी भ्रान्तिसे भटकते रहते हैं, तीर्थ तो केवल अपना आत्मा है, उसको वे पहचानते नहीं। जब ये दृश्यमें ही आसक्त हैं, तब उन्हें दृश्यसे मुक्ति कैसे मिलेगी! मैंने उनसे कहा कि वृन्दावनमें ऐसा कहोगे तो लोग तुमको मारेंगे। वे बोले—'मारेंगे तो मार डालेंगे, किन्तु हम तो सच बोल रहे हैं।' मैं नाराज हुआ? वे बोले—'अच्छा! आपको यह अच्छा नहीं लगा। जो आज्ञा कीजिये, सो कहूँ।' मैंने कहा कि तुम बद्रीनाथ हो आओ। हँड़िया उठायी और चल पड़े। पैदल बद्रीनाथ गये और पूरी यात्रा करके लौट आये। मैंने उनसे पूछा—'वहाँ अलकनन्दामें स्नान किया?' वे बोले—'नहीं।' मैंने पूछा—'गरम कुण्डका स्नान किया कि नहीं? बद्रीनाथका दर्शन किया?' वे बोले—'नहीं।' आपने तो केवल बद्रीनाथ जानेको कहा था। मैं गया और लौट आया। बद्रीनाथ तो मैं ही हूँ।

हमलोग एक बार हरिद्वारसे वृन्दावन पैदल आये। साथमें कई स्वस्थ, सुन्दर, तगड़े साधु थे। सिला हुआ कपड़ा कोई नहीं पहनता था। गाँवमें भिक्षा माँगकर खा लेते थे। आनन्दमें भरे हुए 'अवधूत' गणेशानन्द हँसते-हँसाते खेलते-खिलाते साथ-साथ चलते थे। नहरका किनारा, वृक्षावली सम्पन्न गाँव देख-देखकर मन प्रसन्न होता था। एक गृहस्थ सामनेसे आ रहा था। उसने पूछा—'बाबाजी आपलोग किस खेतका गेहूँ खाते हैं?' 'अवधूत' गणेशानन्द बोले—'हमलोग बेफिक्रीका गेहूँ खाते हैं।' उसने पूछा—'आज कहाँ धावा है?' 'अवधूत' ने कहा—'आज तुम्हारे घरपर ही धावा है।' सचमुच वह गृहस्थ बड़े प्रेमसे हमलोगोंको अपने निवास-स्थान पर ले गया। पूछ-पूछकर उसने सबकी रुचिका भोजन बनाया। रातके समय सोनेकी व्यवस्था कर दी। साधुओंके प्रति उसके हृदयमें श्रद्धाका उदय हो गया।

अवधूतजी नहरके किनारे खूब विचरे हुए थे। अतः कहीं-कहीं उनके प्रति श्रद्धा रखनेवाले लोग भी रहा करते थे। एक दिन वे बोले—'आपलोग अगले डाक बँगलेपर रुक जाना। मैं वहीं आकर मिलूँगा। वे आगे बढ़ गये। जब हमलोग डाक-बँगलेपर पहुँचे तो कुछ गृहस्थोंको लेकर आये। उन्होंने मुझे साष्टांग

दण्डवत् किया। गृहस्थोंसे बोले—'ये मेरे गुरु हैं। बड़े महात्मा हैं। तुमलोग जूता दूर निकालकर साष्टांग प्रणाम करो। आज यहाँ भिक्षाके लिए प्रार्थना करो। उन्होंने वैसा ही किया। हमारे साथियोंमें-से कुछ ऐसे थे जो केवल ब्राह्मणोंके घरसे ही भिक्षा लेते थे। अतः तय हुआ कि एक ब्राह्मणके घरमें सबके लिए भोजन बनवाया जाय। वैसा ही हुआ। गाँवसे सत्संग करनेके लिए लोग इकट्ठे हुए। गणेशजीने मुझसे कहा—'यहाँ कुछ लीपा-पोतीकी बात मत करना। यहाँ खरा वेदान्त चलता है। गंगातटके विलक्षण अद्वैत-निष्ठ महात्मा श्रीउग्रानन्दजी महाराज यहाँ रहा करते थे।' मैंने कहा—'आप ही सुनाओ।' उन्होंने विचार-सागरका दोहा बोल दिया—

जो सुख नित्य प्रकाश विभु नाम रूप आधार।
मति न लखे जेहि मति लखे सो मैं शुद्ध अपार॥
जा कृपालु सर्वज्ञ को हिय धारत मुनि ध्यान।
ताकों होत उपाधि तें मो में मिथ्या भान॥
बोध चाहि जाको सुकृति भजत राम निष्काम।
सो हे मेरी आत्मा काको करूँ प्रणाम॥

गणेशानन्दजीको अद्वैत सिद्धान्तके सिवाय और कुछ भी भाता नहीं था।

एक दिन कहीं नहरके किनारे खिचड़ी पक रही थी। श्रीछोटेजी ब्रह्मचारी ब्राह्मणका घर न मिलनेपर स्वयं पका लिया करते थे। हँड़ियामें खिचड़ी पक रही थी कि इतनेमें वर्षा आ गयी। एक अनजान व्यक्तिने आकर हँड़िया उठा ली और छायामें रख दी। उस विचारेको मालूम नहीं था कि ये मेरा स्पर्श किया हुआ नहीं खायेंगे। ब्रह्मचारी छोटेजी जिनका नाम लीलानन्द है, भूखे रह गये और गणेशजी उन्हें दिखा-दिखाकर खिचड़ी खा गये। उनके मनमें जाति-पाँतिका कोई भेद नहीं था। श्रीउग्रानन्दजीकी रहनीका प्रभाव, स्पष्ट देखनेमें आता था। मैं कभी-कभी हँसीमें पूछ लेता—'अवधूतजी! सृष्टि कैसे हुई?' हमेशा एक ही उत्तर होता—'सृष्टि बिलकुल है ही नहीं, कभी हुई ही नहीं, कभी होगी भी नहीं। एक शुद्ध-बुद्ध मुक्त आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है।' इतने मौजी थे कि एक बार उनकी हँड़िया अमृतसरमें टूट गयी, तो दूसरी लेनेके लिए चुनार आये। उन्हें चुनारकी हँड़िया बहुत पसन्द थी।

वे मस्तमौला इतने थे कि क्षणमें हँसें, क्षणमें रोयें। क्षणमें आदर करें तो क्षणमें ललकार दें। वे कभी मठीय, मण्डलीय, महात्माओंको भला-बुरा कहने लगते कि ये संग्रही-परग्रही, रागी-द्वेषी, वेदान्तसे अनभिज्ञ हैं; तो कभी भिक्षु शंकरानन्दजीपर भी बरस पड़ते कि वे मठेश्वरों, महन्तोंकी निन्दा क्यों करते हैं।

जिसकी जैसे मर्जी हो रहे। किसीका कोई ठेका है। इस मिथ्या प्रपञ्चमें क्या अच्छा, क्या बुरा!

हमलोगोंमें-से कभी कोई ध्यान-भजनके लिए बैठ जाता। वे तो जोरसे हँसकर 'अष्टावक्र'का श्लोक बोलते थे—

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र, मा किञ्चिद् हृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥

छोड़ो ध्यान, तुम स्वयं मुक्त हो।

अयमेव हि ते बन्धः, समाधिमनुतिष्ठसि।

अपने स्वरूपपर आस्था न होकर किसी साधन-साध्य पर, ध्यान-समाधिपर आस्था होना भी बन्धन ही है।

किसीने कहा—'अवधूतजी चलिये; आज द्वैत-अद्वैतका शास्त्रार्थ हो रहा है। बड़े-बड़े विद्वान इकट्ठे हुए हैं।' अवधूतजी बोलते—

अद्वैतं केचिद् इच्छन्ति, द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति, द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

द्वैत-अद्वैत भी मतवाद ही हैं। जो द्वैत-अद्वैत दोनों मतोंका प्रकाशक, स्वयं-प्रकाश अधिष्ठान है, वही सत्य है, वही आत्मा है।

एक बार उनके पुत्र श्रीहरिप्रसाद रस्तोगी धानापुरसे वृन्दावन आये। अवधूतजीने उनकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। १०-५ दिन आश्रममें रहे। फिर किसीसे कहकर उन्होंने दूधका प्रबन्ध कर दिया कि वह अवधूतजीके लिए रोज दूध दे दिया करे। कुछ दिन तक यह क्रम चला। परन्तु जब अवधूतजीको मालूम पड़ा तो मुझपर बहुत बिगड़े। दूध तो बन्द ही कर दिया। स्वयं कुछ दिनोंके लिए वृन्दावन छोड़कर चले गये। इसका फल यह हुआ कि उनके परिवारके लोगोंने फिरसे उनके साथ सम्पर्क रखनेका कोई प्रयास नहीं किया। उनका भाव था कि लोग नहीं आवेंगे तो वे स्वामीजीके पास वृन्दावन तो रहेंगे। उनके परिवारके लोग धानापुर गाँवमें प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न हैं।

अवधूतजी इस ढंगसे रहते थे कि कोई उनके विशेष सम्पर्कमें न आये। वे भोजनके समय मेरे साथ बहुत छेड़छाड़ करते थे। आकर पास बैठ जाते और कहते कि अपनी थालीमें-से ही मुझे खानेको दो। प्रेमानन्द 'दादा'को यह बात पसन्द नहीं थी। श्रीछोटेजी ब्रह्मचारी उन्हें इसलिए नापसन्द करते थे कि वे कर्मकाण्डके अनुसार स्पृश्यास्पृश्य नहीं मानते थे। दूसरे लोग उनके द्वारा भक्ति-भगवन्तकी उपेक्षा-सी होती देखकर अलग रहा करते थे। श्रीउड़िया बाबा एवं

श्रीहरि बाबा महाराजके भक्त यह देखकर उनसे बातचीत नहीं करते थे कि वे दोनोंको प्रणाम नहीं करते थे। प्रणाम तो वे मेरे सिवाय और किसीको करते ही नहीं थे। हाथ नहीं जोड़ते थे। ॐ नमो नारायणाय भी नहीं बोलते थे। उनका कहना था कि आत्मा ही आत्मा है, आत्माके सिवाय और सब मिथ्या प्रतीति है। कौन किसको प्रणाम करे!

मैं संन्यास लेनेसे पूर्व ही 'कल्याण'का सम्पादन विभाग छोड़ आया था। परन्तु मेरे द्वारा जो श्रीमद्भागवतका अनुवाद हुआ था और उसपर शोधपूर्ण प्रबन्ध लिखे गये थे; उनका प्रकाशन तो भागवतांकके रूपमें हो चुका था, परन्तु वह पाठकोंको इतना पसन्द आया था कि उसको श्लोकोंके साथ प्रकाशित करना उपयुक्त समझा गया। मुझे वृन्दावनसे वे लोग ले गये। साथ-साथ अवधूतजी भी वहाँ गये। वे वहाँ भी भिक्षा-माँगकर खा लेते थे। दिन भर चुपचाप अपनी मौजमें रहते। कभी-कभी खेलते भी थे। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीके दौहित्र चि० सूर्यकान्त एवं चन्द्रकान्तको अपने पास बुला लेते। छोटे-छोटे बच्चोंसे कहते—'पद्मासन लगाओ। पीठकी रीढ़ सीधी करो। हाथ घुटनोंपर रखो। अधखुली आँखसे बैठे रहो। हिलना मत, देखना मत।' बच्चे इसका मजा लेते। अवधूतजी बच्चोंसे कहते—'इसका नाम समाधि है।' जब बच्चे अपनी माँ या नानीके पास जाते और कोई पूछता कि वे क्या कर रहे थे? बच्चे जवाब देते कि वे समाधि लगवा रहे थे। सबलोग हँसते थे, परन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति यह समझते थे कि समाधि एवं विक्षेप इसी प्रकारके अध्यारोप हैं। वहाँके लोग अवधूतजीको हाथ जोड़ते तो वे जोरसे बोल देते—'शिवोऽहम् शिवोऽहम्'। किसीसे वहाँ भी उनका मेल-जोल नहीं हुआ।

वे स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी रहे। कुटिया नहीं थी। पैसा नहीं था। शिष्य-शिष्या नहीं थे। उम्र लगभग ८५ वर्ष की हो चुकी थी। फिर भी वे अपना सब काम स्वयं करते थे। वृन्दावनके लोग उनमें कोई रुचि नहीं लेते थे। मुजफ्फरनगरके श्रीपरमेश्वर दयाल, श्रीहरीशचन्द्र सेवा करनेकी दृष्टिसे उन्हें अपने सत्संग-भवनमें ले गये। फिर वे बरसोंतक वहीं रहे। परन्तु मृत्युपर्यन्त यही बोलते रहे कि दृश्य कहाँ है? देह कहाँ है? शरीरमें रोग एवं अशक्ति आ जानेपर भी वे यही कहते—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्'। सत्संगियोंने आग्रह कर-करके पूछा कि आपको क्या तकलीफ है? वे बोलते कि तकलीफकी सत्ता ही नहीं है। किसीने पूछा—'आपके शरीरका अन्तिम संस्कार कैसे किया जाय? उन्होंने कह दिया—'संस्कार, विकार कुछ नहीं, शिवोऽहम्। नाम-रूप टूट गये। तत्त्व तो तत्त्व है ही।'

❋

परमहंस श्रीजगन्नाथपुरीजी : नेपाली बाबा

मनकी गति-कैसे ? कहाँ ?

कलाकारने मेरा रेखा-चित्र बनाया। कुछ ही क्षण लगे होंगे, मेरे हाथोंमें दे दिया। उसे देखकर मुझे अपने पिताजीकी मुखाकृतिका स्मरण हुआ। वर्षों पूर्वकी बात। मैंने उनको सात वर्षकी उम्रतक देखा था। उनकी आकृति और मेरी आकृति मिलती-जुलती है, इस ओर कभी ध्यान नहीं गया था।

अब मनमें पिताजीकी पूरी मूर्ति उभरने लगी। गौर-वर्ण, स्वस्थ-सुन्दर शरीर, चौकीपर बैठकर शंकरजीकी पूजा करते हुए। शिवलिंगपर बेलपत्रोंका ढेर, भींगे हुए अक्षत एवं गुड़का भोग। घंटी बजी, मैं प्रसाद लेनेके लिए दौड़ गया। उन्होंने प्यारसे प्रसाद दिया।

उसी समय नेपाली बाबा आ गये। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। स्वास्थ्य उत्तम, शरीर सुन्दर, गम्भीर गति। पिताजी उठकर खड़े हुए, हाथ जोड़ा। परमहंसजीको बैठाया। स्वागत-सत्कार हुआ। परमहंसजीने अपना झोला खोला। उसमें-से नारियल गोला, दुशाला और नेपाली सिक्के निकाले। 'तुम्हारी पुत्रीका विवाह है न! लो बिदाईके साथ दे देना।' नेपाली बाबाका यह प्रेम था। उसी वर्ष पिताजीके बड़े पुत्र राममनोरथ द्विवेदी, जो कि उनके विवाहित पञ्चदश-वर्षीय पुत्र थे, का एकाएक निधन हो गया था। कन्याका विवाह करना भी आवश्यक था। किसीके मनमें उत्साह या हर्ष नहीं था। नेपाली बाबाके मंगलमय प्रसादका प्रभाव कुछ अवश्य हुआ।

नेपाली बाबा अथवा परमहंसजी, नेपाली शासकोंमें-से, पाँच-सरकारके सदस्य थे। उनकी उम्र पिताजीसे बड़ी एवं पितामहसे छोटी थी। गाँवसे दो-मील दूर खड़ान एवं कन्हरपुरकी सीमापर उनके लिए कुटी बनी हुई थी। वे तो प्राय: उस विशाल वट-वृक्षके नीचे छप्परकी बनी कुटियामें ही रहा करते थे। दोनों गाँवोंमें-से लोग बारी-बारीसे पकी-पकायी भिक्षा दे जाया करते थे। और वह शान्त, सौम्य आनन्दमें मग्न महात्मा बाँसकी बनी चौकीपर मस्त रहा करते थे। दोनों गाँवके लोग मेरी परम्पराके शिष्य हैं। मैं अपने पितामहके साथ जाता। नेपाली बाबा उठकर खड़े हो जाते। बड़े प्रेम-से मेरा स्पर्श करते। बाबाजी-बाबाजी, बोलकर मुझे अपने बराबर बैठा लेते। दूसरे सब लोग नीचे बैठते। ऐसा बार-बार होता था।

परमहंसजीके छप्परसे थोड़ी दूर पर एक अघोरी साधु रहते थे। उनकी धूनी जलती रहती थी। किसीके पास जाना या बात करना उनको भाता नहीं था। कहींसे, किसीसे कुछ भी खानेको मिल जाता, वह खा लेते थे। हाँ, उनके जीवनमें भी एक बात नियमित देखी गयी। वे वहाँसे अपनी माटीकी हंडिया लिये हुए तीन मील दूर धानापुरकी छावनीपर अवश्य जाया करते थे। 'रोज-रोज वे क्यों जाते थे?' यह पूछने पर बताते थे। 'वहाँ मुझे श्रीरामचन्द्र भगवान्‌का दर्शन हुआ है। राज्याभिषेक हो रहा था। सब भाई थे। श्रीसीता-रामचन्द्र सिंहासनपर विराजमान थे। ओ हो, अब भी जाता हूँ तो वही झाँकी! वही छबि! वही छलकती हुई छटा! बड़ा आनन्द आता है।' उनका नियम कभी नहीं टूटा। कहा करते थे कि गोमती तटसे स्वामी अचलानन्दजी, प्रतिदिन आकाशमार्गसे वहाँ दर्शनके लिए आते हैं। उनका नाम रिखईराम था। अपनी धुनके पक्के। बीसों वर्षसे उनकी रहनीमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था।

कान्हरपुर एवं खड़ान गाँवमें, तालके पानीके प्रश्नपर परस्पर कुछ खिंचाव रहता था। नेपाली बाबाके पास दोनों गाँवोंके लोग श्रद्धासे सेवामें तत्पर रहते थे। एक बार किसी जमीनके प्रश्न पर कान्हरपुरके ठाकुर सीतारामसिंह एवं पटवारी जुगल किशोरलालपर केस चल गया। छोटी अदालतने दोनोंकी सजाका फैसला दे दिया। ठाकुर साहबकी इज्जतका प्रश्न था। वे बड़े प्रभावशाली, प्रतिष्ठित एवं शानदार व्यक्ति थे। रातके समय उनका पूरा परिवार नेपाली बाबाकी कुटियापर पहुँच गया। बाबाका पाँव पकड़कर सब लोग रोने लगे— 'बाबा, हम सब लोग यहीं मर जायेंगे।' बाबाने डाँटा, फटकारा, मौन हो गये; परन्तु लोगोंका रोना-पीटना जारी रहा। बाबाने कहा—'अच्छा सुनो! जिस दिन

जजकी अदालतमें तुम्हारा मुकदमा होगा, एक फक्कड़ साधु आयेगा। उसपर विश्वास करके जो वह कहे सो करना। वह कोई कठिन काम नहीं बतायेगा। परन्तु, डरना मत। हिचकना मत। ठाकुर साहब छूट जायेंगे। उस फक्कड़ फकीरने कुछ मामूली-सा काम करवाया। जज साहब पहले दिन तो ठाकुर साहबके बहुत विरुद्ध थे, परन्तु फैसला लिखते समय पेटमें पीड़ाके कारण, उनकी कलम हाथसे गिर गयी। अन्तमें हारकर उन्होंने ठाकुर साहबको यह कहते हुए मुक्त कर दिया कि इनका कोई अपराध सिद्ध नहीं हुआ है। हाँ, पटवारीका अपराध सिद्ध हो गया है, उसे सजा दी जाती है। क्या चमत्कार हुआ—किसीकी समझमें यह नहीं आया। किन्तु चमत्कार तो बहुत-से देखे-सुने हैं ही। जो घटनाको जानते हैं वे अब भी महात्माओंपर श्रद्धा करते हैं। उनके परिवारमें तो श्रद्धा है ही, कभी ठाकुर श्यामनारायण सिंहका मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ गया तो मोकलपुरके बाबाके अनुग्रहसे तत्काल ठीक हो गया। श्रद्धामें आश्चर्यजनक शक्ति है।

खड़ान गाँवमें वयोवृद्ध ठाकुर माधवसिंह रहते थे। वे लोगोंके विवादमें फैसला करनेका काम किया करते थे। परमहंसजीपर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। सत्तर-पचहत्तर आदमियोंके परिवारका पालन-पोषण करते थे। वे घरके छोटे-से-छोटे सदस्यको खिलाकर खाते थे। उनका कहना था—'जीवनकी चालका पता नहीं चलता। अच्छेसे बुरा और बुरेसे अच्छा हो जाता है। किसीकी बहुत सराहना नहीं करनी चाहिए, कभी निन्दा करनी पड़ेगी। बहुत निन्दा भी नहीं करनी चाहिए, कभी सराहना करनी पड़ेगी।' उनका सिद्धान्त था कि यदि कोई प्रतिज्ञा कर ली जाये तो उसका पालन अवश्य करना चाहिए। किसीकी सहायताके लिए 'हाँ' करके फिर 'ना' कभी नहीं करना चाहिए। 'ना' करके यदि 'हाँ' करें तो कोई हानि नहीं है। नेपाली बाबाका प्रभाव था।

खड़ान गाँवमें ठाकुर लक्ष्मण सिंह, हरगेन्द सिंह, दीपनारायण सिंह, बड़े ही शानदार एवं प्रतापी पुरुष थे। उनके वंशमें भी दो पीढ़ीतक परमहंसजीकी भक्ति बनी रही। ठाकुर गिरिजा सिंहको गोस्वामी तुलसीदासजीके बारहों ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। विनय पत्रिकाके पद बोलते-बोलते उनकी आँखोंसे आँसू गिरने लगते। भावावेश हो जाता। भगवान् रामके प्रेमी थे। वहाँके वातावरणमें एक निर्मल प्रभाव दृष्टिगोचर होता था।

एक ही वटवृक्षका पेड़ अपने बरोहों और जटाओंके द्वारा चारों ओर फैल गया था। उसकी छायामें हजारों लोग बैठ सकते थे। अत: कभी-कभी सभा भी

हुआ करती। दूसरे गाँवके लोग भी आते थे। प्राय: सभी परमहंसजीका दर्शन करते। इस दिव्य मानुषके दर्शनसे भला किसको आनन्द नहीं होता। कादिराबादके ठाकुर साहब श्रीप्रसिद्धनारायण सिंह सरल व्यवहारके इतने पक्षपाती हो गये थे कि उन्हें इस गुणके कारण राजनीतिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक कार्योंमें भी सफलता-ही-सफलता मिलती थी। परमहंसजीके प्रभावसे कवँईके ठाकुर दशरथ सिंह एक सत्पुरुष हो गये थे। भदाहूँके ठाकुर जुगलकिशोर सिंह इतने उदार हो गये थे कि दूसरोंको खिलाकर भूखे रह जानेमें सुख मानते थे। कहनेका अभिप्राय यह है कि परमहंसजीके यहाँ विराजनेसे एक विशाल भूमि-खण्डपर उनके सद्‌गुणों एवं सद्भावोंका वातावरण बन गया था। लोग गाँव-गाँवमें ठाँव-ठाँवमें इकट्ठे होकर रामायणका पाठ करने लगते थे। नेपाली बाबाकी कुटियापर आकर भी रामायण-गान करते, भण्डारा करते। परमहंसजीके प्रभावसे चौधरी बेनीप्रसाद, हरिनन्दनजी इतने सज्जन एवं सौम्य हो गये थे कि उनके प्रत्येक व्यवहारमें श्रद्धा एवं सेवाका भाव टपकता रहता था। एकके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह दूसरे सम्बन्धियोंका भी स्मारक होता है। मन कहाँ-से-कहाँ छलांग मार जाता है और सम्बन्धपर सम्बन्ध जोड़ने लगता है। यह तो आप पढ़ ही रहे हैं।

मैं अपने विद्याध्ययनके लिए महराई गाँवसे काशी चला गया। बीचमें अपने गाँव आता-जाता रहा। परमहंसजी भी कभी नेपाल चले जाते तो कभी कहीं अन्यत्र भी। मिलना-जुलना कम हो गया। काशीसे लौटनेके बाद एक दिन प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्तमें मैं चौकीपर बैठकर माला फेर रहा था। अधिक-से-अधिक संख्यामें जप हो जाय, ऐसा प्रयास कर रहा था। इस बीच परमहंसजी बोल पड़े—'कहीं ऐसे जप किया जाता है!' मेरी आँख खुली। नमस्कार करनेको उठा। उन्होंने हृदयसे लगा लिया। शान्तिसे बैठा लिया और समझाया कि मन्त्र भगवान्‌का नाम है। चाहे कोई भी मन्त्र हो। इष्टकी मूर्ति भगवान् है, चाहे कोई भी हो। मन्त्र-जपमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। सत्कारके साथ धीर-गम्भीर भावसे मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए। जैसे 'राम'का उच्चारण करना है तो इतनी गहराईसे 'रा'का उच्चारण करें कि 'म' तक पहुँचनेमें कुछ समय लगे राम, राम इस तरह। इससे मनमें संकल्प नहीं होगा। जब मन खाली होगा तब उसमें इष्टदेवका प्रकाश होगा। उन्होंने स्वयं दो-चार बार बोलकर बताया और बोले बिना ही मुझे जपका आदेश दिया। यथाशक्ति वैसा जप करनेका प्रयास करने लगा, फिर कहीं चले गये।

में, ब्रह्मसलिला भगवती भागीरथीमें अवगाहन करके बाहर आया। दूर-दूर तक इस पार और उस पार भी विशाल बालुकामय पुलिन फैला हुआ था। गंगाजीके उस पार रेतीमें एक फूसका छप्पर पड़ा हुआ था। पूछनेपर मालूम हुआ, आजकल इसमें स्वामी श्रीकृष्णानन्द सरस्वती रह रहे हैं। बड़े प्रभावी। बरैनीके पास जागतानन्द उनका आश्रम है। विद्वान् तो हैं ही, शांकर अद्वैतमें पूर्ण निष्ठा है अनुभवी हैं। उनके पास अद्वैतका बाजार गर्म रहता है। भक्तिकी चर्चा नहीं होती। मनमें आया ऐसा क्या वेदान्त जिसमें भक्तिका विरोध भरा हो। उधरसे मनको मोड़ लिया। पास ही फैले हुए पलाशके वनमें घुस गया। एक बरसाती सूखे नालेमें आसन जमाया। संक्षेपसे सन्ध्या-वन्दन, गायत्री जप करके, कृष्ण, कृष्णका लम्बा उच्चारण करने लगा। मन, इष्टदेवके ध्यानमें लगने लगा। तन्मयता आ गयी। एक चमत्कार-सा हुआ। ऐसा लगता था कि मैं जैसे बैठा था, वैसे ही बैठा हूँ। आँखें खुली हैं। सामने प्रकाश-पुंज है, उसमें एक गौरवर्ण मूर्ति है। श्वेत पुष्पोंका मुकुट, हार, केयूर, कङ्कण, करधनी नूपुर सब कुछ था, परन्तु सब पुष्पोंका ही था। वस्त्र भी पुष्पों हीके थे। झूला नहीं था परन्तु वह मूर्ति झूलेकी गतिसे ही दोनों ओर ऊपर जाती थी और बीचमें नीचे आती थी,—धरतीसे कुछ ऊपर अधरोंपर मन्द-मन्द मुस्कान। नासिकामें श्वेत पुष्पकी ही बुलाक। नेत्रोंमें प्रेम भरी चितवन। भौहैंमें अनुग्रह। प्रश्न उठा—'यह बाँसुरीवाला कृष्ण होना चाहिए, तब गौर क्यों है?' आवाज आयी—'मैं ही गौर, मैं ही कृष्ण। रूप-रंगके भेदसे कोई भेद नहीं होता। भले ही नाम अलग-अलग रख लो।' उस समय देश, काल, अपना शरीर, नाम आदि कुछ भी स्फुरित नहीं हुआ। मनका उस समय वही रूप था, जो मैं देख रहा था। कुछ समय बाद सावधान हुआ। परमहंसजी 'नेपाली बाबा' सामने खड़े हँस रहे थे। वे बोले—'भक्ति सबको भगवान्-मय बनाती है। मन-भगवान्, मनका विषय भी भगवान्।'

कल्याण-परिवार, गोरखपुरमें जानेके बाद कभी-कभी घर जाना होता था। परमहंसजीके समाचार मिल जाया करते थे। एक दिन खड़ान गाँवसे कोई सज्जन आये। 'परमहंसजीकी हालत अच्छी नहीं है। सम्भव है अब शरीर न रहे। आप चलिये।' —उसने कहा। मै तुरन्त चल पड़ा। परमहंसजीकी आँखें बन्द थीं। साँस चल रही थी। मुखपर शान्त-सौम्य मुद्रा थी। निःसंकल्प, निर्भार। कभी-कभी होठ हिल जाते थे। ऐसा लगता मानो 'ॐ, ॐ'का उच्चारण कर रहे हैं।

गाँवके लोगोंको पता नहीं था कि संन्यासीकी मृत्युके समय क्या करना चाहिए। उन लोगोंने गोदान करवाया। वहाँ एकत्रित लोगोंने मुझसे परमहंसजीकी

झोली खुलवायी, उसमें एक-दो रुद्राक्षके दाने थे। गंडकी शिला थी। चार-पाँच नेपाली सिक्के थे। भस्म थी और था एक कागज जिसमें, वे नेपाल पाँच सरकारके सदस्य हैं, इस आशयका प्रमाण-पत्र था और उसमें महावाक्य लिखे हुए थे। लोगोंने मुझसे कहा कि यह आप ले लीजिये। मैंने कहा कि जब वे मुझे दे नहीं गये हैं, मैं कैसे ले सकता हूँ। अन्ततोगत्वा वह सब उनके शरीरके साथ ही गंगाजीमें प्रवाहित कर दिया गया। सभी नाम-रूप अपने मूल तत्त्वसे पृथक् नहीं होते। घट, तरंग, ज्वाला, प्राण, छिद्र क्या पञ्चभूतोंसे अलग होते हैं। चेतनसे अलग चेतन नहीं होता। यह एकता ही अन्तिम सत्य है।

हाँ, तो अब वही पुराने रिखईराम बाबा—वे परमहंसजीके आनेके पहले भी वहीं रहते थे और बादमें भी वहीं रहे। वही धूनी और नित्य धानापुर आना-जाना। यह सन् ३८की बात है। वे मेरे घर पर आये थे। तीन दिन रहे। धूनी जलती रही। शामको धानापुर हो आते थे। जब जाने लगे तब बोले—'बाबाजी, यहाँ आओ!' मुझे सब लोग बाबाजी कहा करते थे। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। वे बोले—'देखो, पृथिवी अघोर है, मलमूत्र विसर्जन करो या पूजा करो, कभी बुरा नहीं मानती है। जल, अग्नि, वायु एवं आकाश भी अघोर हैं। कभी अच्छे-बुरेका भेद नहीं करते। सबको समान-रूपसे मिलते हैं। मन अघोर है। अच्छे-बुरे मनमें आते-जाते रहते हैं। आत्मा अघोर है। वह अच्छे-बुरेमें एक है। अच्छाई, बुराई संस्कार-विकारसे बनती है। वह किसी भी तत्त्वमें नहीं होती। तब आत्मा परमात्मामें कहाँसे होगी? अघोर शिव है, आत्मा है, परमात्मा है, ब्रह्म है। अब मैं जाता हूँ। फिर नहीं आऊँगा। और वे कभी नहीं मिले। अब चलो और आगे।'

कान्हरपुर, खड़ान गाँव अब भी हैं। छिन्न-भिन्न वटवृक्ष भी है। कुटियाके विशाल प्रांगणमें स्कूल बन गया है। अब भी शानदार क्षत्रिय वहाँ रहते हैं। परन्तु न परमहंसजी हैं और न रिखईराम। दुनिया बदल गयी, शरीर और मन भी बदल गया। मैं तो वही हूँ। साधु और गृहस्थ, पिता तथा पुत्र, बुड्ढे और नौजवान सब कहने भरके हैं। मनके रूप हैं। मनके निर्माण हैं। मेरे रेखाचित्रमें-से यह सब निकल आया। अपने मनको देख-देखकर आनन्दित होते हैं। उपलब्धि ही आनन्द है!

स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज

दूरसे समझते थे अग्नि, पास जानेपर निकला रत्न। भ्रम था पाषाण होनेका, स्पर्श करनेपर गुलाबका फूल मिला। लोगोंका कहना था यह वज्र है, मिलनेपर अनुभव हुआ आश्चर्य! यह तो आस्वाद्य नवतीतका कोमल-पिण्ड है। वस्तुतः ऐसे ही थे स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज। उनके क्रोधमें भी हितभावना रहती थी। उनके झिड़कनेमें भी एक स्नेह रहता था। उनकी कठोरतामें भी एक द्रवता, माधुर्य, गुप्त रहता था। जब उनके हृदयसे अपना हृदय एक हुआ, तब उनके सम्बन्धमें सुनी-सुनायी जितनी भ्रांतियाँ थीं, सब कपूरकी तरह उड़कर न जाने कहाँ लुप्त हो गयीं। वे सचमुच एक विलक्षण एवं विचक्षण महापुरुष थे। वे क्षण-भरमें ही परीक्षण एवं समीक्षण दोनों ही कर लेते थे।

स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज तत्त्व-साक्षात्कारके लिए हिमालयमें विचरण कर रहे थे। विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति तथा तीव्र मुमुक्षा पहलेसे ही थी। सद्गुरु श्रीप्रकाशानन्द पुरीजीसे वेदान्तका पूर्ण श्रवण होनेपर भी आवरण-भङ्ग नहीं हुआ था। उपनिषदोंके प्रामाण्य एवं प्रमेय ब्रह्मात्मैक्यके सम्बन्धमें कोई संशय नहीं था। फिर भी मनन, निदिध्यासन करते थे। 'वह कौन-सा प्रतिबन्ध है जिसके कारण अनुभवमें स्पष्टता एवं स्फुटता नहीं आ रही है?' इसके चिन्तनसे वे व्याकुल हो उठते थे। प्रभा हो यथार्थ परमार्थकी; परिच्छिन्नताका, संसारका भ्रम निवृत्त हो जाय—इस उत्कण्ठाके कारण निद्रा नहीं आती थी। सबसे बड़ा दुःख अज्ञान है। क्योंकि अज्ञानमें ही अन्धकार एवं मृत्युका निवास है। इसी अज्ञानसे मुक्ति प्राप्त करनेमें जब दीर्घकाल तक सफलता नहीं मिली, तब स्वामीजीने यह निश्चय किया कि ऐसे शरीरको रखनेसे क्या लाभ—जिसमें न पूर्ण आनन्द है, न पूर्ण ज्ञानका प्रकाश है। इसका गङ्गाजीमें विर्सजन क्यों न कर दें? इस सङ्कल्पसे वे आदिब्रद्रीके पास गङ्गा तटपर बैठ गये और निश्चय किया कि आवेग, उद्वेग, अथवा भावावेशमें आकर शरीरका त्याग करना उचित नहीं है—तीन दिनतक उपवास करके, तब इस शरीरका गङ्गाजीमें समर्पण कर देंगे।

तीसरे दिन उनके पास एक कषायवस्त्र-धारिणी वृद्ध माता आयीं। उनके मुखपर तेज था। कल्याणमयी वाणीमें प्रभाव था। गम्भीर स्वरसे पूछा—'आप यहाँ

क्यों बैठे हैं?' स्वामीजी निष्कपट भावसे बोले, जो कि उनका स्वभाव था—'मैं बन्धनसे मुक्त होनेके लिए देहका परित्याग करना चाहता हूँ।' माताजी हँस पड़ीं—'अच्छा! यह बात है। त्याग! देहका त्याग, तादात्म्यके त्यागसे होता है। जान-बूझकर मरनेसे तो तादात्म्य और दृढ़ होता है। अच्छा, स्वामीजी! आप विचार करके बताइये कि आपको बन्धन क्या है? धन, स्त्री, पुत्र, परिवार—इनका बन्धन है? बन्धनमें विशेष रूपसे दो पदार्थ होते हैं—'बन्धु' और 'धन'। आप इन सबका परित्याग करके आये हैं। अच्छा ठीक हैं, आपको मुक्तिका अनुभव नहीं होता है। आप एक-दो दिन चिन्तन कर लीजिये। मैं आपके पास पुनः आऊँगी। आप मुझे अपना बन्धन दिखा देना। यदि बन्धन दृश्य हो गया, तो मैं उसका अत्यन्ताभाव आपमें ही दिखा दूँगी। और जब आपमें ही बन्धनका अत्यन्ताभाव दीख जायेगा, तो आपको पहलेसे ही ज्ञात है—जिस अधिकरणमें जिस वस्तुका अत्यन्ताभाव रहता है, उसीमें वह वस्तु दिखे तो वह मिथ्या होती है। बन्धन मिथ्या है। आत्मा अबाध्य सत्य है। मुक्ति कहींसे आती है या मिलती है या उसके आनेमें कुछ देर है यह सब तो तब हो, जब मुक्ति कोई दूसरी वस्तु हो, दूर हो, देरसे मिले। वस्तुतः बन्धनके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित आत्मा ही मुक्ति है। मैं फिर आऊँगी। तुम बन्धन दिखाना। मैं मुक्ति दिखा दूँगी। आप ही आप हैं। मुक्ति-बन्धनका भेद मिथ्या, कल्पित है।' माता अदृश्य हो गयीं।

स्वामीजीकी आँखें खुल गयीं। उन्हें एक अनुशिष्ट स्पष्ट तथा स्फुट प्रकाशका दर्शन होने लगा। वह क्लिष्ट था न श्लिष्ट। अविनाशी इष्ट एवं मिष्ट था। स्वामीजीने अनुभव किया कि बन्धन-मुक्तिका भेद भी अज्ञान-मूलक ही है। अज्ञानकी निवृत्ति महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे होती है। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर, स्वतःसिद्ध, स्वयंप्रकाश अविनाशी आत्मतत्त्व ही है। उसमें कुछ करना-कराना, बनना-बनाना नहीं है।

स्वामीजीसे दूर-दूरसे मिलना-जुलना तो एक-दो बार पहले भी हुआ था। वे आयुमें मुझसे ३० वर्ष बड़े थे। महामण्डलेश्वर रह चुके थे। यह भी सुन रखा था कि कभी-कभी लोगोंको बहुत डाँटते-फटकारते थे। अतएव उनके निकट आनेमें संकोच करता था। जब दैवी-सम्पद् महामण्डलकी तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन, दक्षिण भारतसे लौटकर बम्बई आयी, तब प्रेम-कुटीरके सत्संग-प्रेमियोंने हम लोगोंको आमंत्रित किया। उनमें हरिकिशन दास, बच्चूभाई ड्रेसवाला आदि मुख्य थे। स्वामीजी स्वयं भी स्टेशनपर गये थे। हमलोग बड़ी प्रसन्नतासे प्रेम-कुटीर आये। प्रवचन हुए।

मैंने शांकर-वेदान्तकी रीतिसे तत्त्व-ज्ञानका प्रतिपादन किया। वह यह था कि तत्त्व एक यथार्थ वस्तु है। अत: उसका साक्षात्कार केवल प्रमाणसे ही हो सकता है। प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणसे ही होती है। यदि तत्त्वका निर्माण करना होता, तो उसमें कर्म, उपासना या योग साक्षात् साधनहो सकते थे। परन्तु तत्त्व तो स्वत: सिद्ध साक्षात् अपरोक्ष अपनी स्वयंता ही है। अतएव तद्विषयक अविद्या-मात्रकी निवृत्ति ही अपेक्षित है। वह महावाक्यजन्य प्रमासे होती है। प्रमा, न पूर्व-जन्मके कर्मसे, न इस जन्मके कर्मसे पैदा होती है। वह वेदान्त-प्रमाणसे ही होती है। अविद्याकी निवृत्ति होनेपर प्रयोजनकी पूर्ति हो गयी। इसलिए कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं रही। अतएव तत्त्वज्ञान न कर्मजन्य है, न कर्म-जनक। यह संस्कारक नहीं है, संस्कारका बाधक है। यह कर्म उपासना आदिका उपकारक अंग भी नहीं है।

मेरे बादके वक्ता महाशयने मेरे प्रवचनपर कटाक्ष करते हुए कुछ ऐसा कहा कि तत्त्व-ज्ञानके अनन्तर निष्काम-भावसे कर्म अवश्य कर्त्तव्य है। उन्होंने गीताका पर्याप्त आश्रय भी लिया। वैसे उन वक्ता महाशयसे हमारा बहुत प्रेम था। हम लोग महीनों तक साथ-साथ रहते थे। प्रवचनके समय एककी प्रधानतासे मैं बोलता तो दूसरेकी प्रधानतासे वे बोल देते। हमलोग आपसमें इसी प्रकार खण्डन-मण्डन करते रहते थे। भिन्न-भिन्न अधिकारियोंको दोनोंकी बात अच्छी लगती थी। परन्तु स्वामी प्रेमपुरीजीको हमारे साथीकी बातें अच्छी नहीं लगीं। उन्होंने भरी सभामें अपने अध्यक्षीय प्रवचनमें उनका खण्डन किया। और मुझे उनका वेदान्त-सम्बन्धी गम्भीर चिन्तन एवं स्पष्ट-भाषिता बहुत अच्छी लगी। बस, यहींसे हमारी उनकी घनिष्ठता आरम्भ हो गयी।

स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराजकी प्रेरणा एवं अनुमतिसे बम्बईमें वेदान्त-सम्मेलनके आयोजनका निश्चय हुआ। स्वामीजी महाराजने मुझे बुला लानेके लिए, प्रवीण नानावटीको मेरे पास वृन्दावन भेजा। सम्मेलन हुआ। देशके बड़े-बड़े वेदान्ती महात्मा, गृहमंत्री श्रीगुलजारीलाल नन्दा आदि पधारे। स्वामीजी प्रत्येक बातमें मुझे आगे रखनेका प्रयास करते। उनकी आँखोंमें मेरे प्रति स्नेह की झलक थी। जब मुस्कराके मुझसे बात करते, उनके बिना दाँतोंके मुख-मण्डलपर एक विशेष प्रकारकी छटा झलकने लगती। सम्मेलनके पश्चात् भी उन्होंने मुझे रोक लिया और मैं प्रेमकुटीरमें तथा किसी-किसी सेठके घरमें व्यक्तिगत रूपसे प्रवचन करने लगा। लोगोंने स्वामीजीसे निवेदन किया कि ये (मेरे लिए) श्रीमद्भागवतके अच्छे ज्ञाता हैं, गीताप्रेससे इनका अनुवाद प्रकाशित हुआ है। बहुत अच्छी कथा करते हैं। आप इनसे कथा करवाइये। स्वामीजीको वेदान्तके अतिरिक्त और किसी

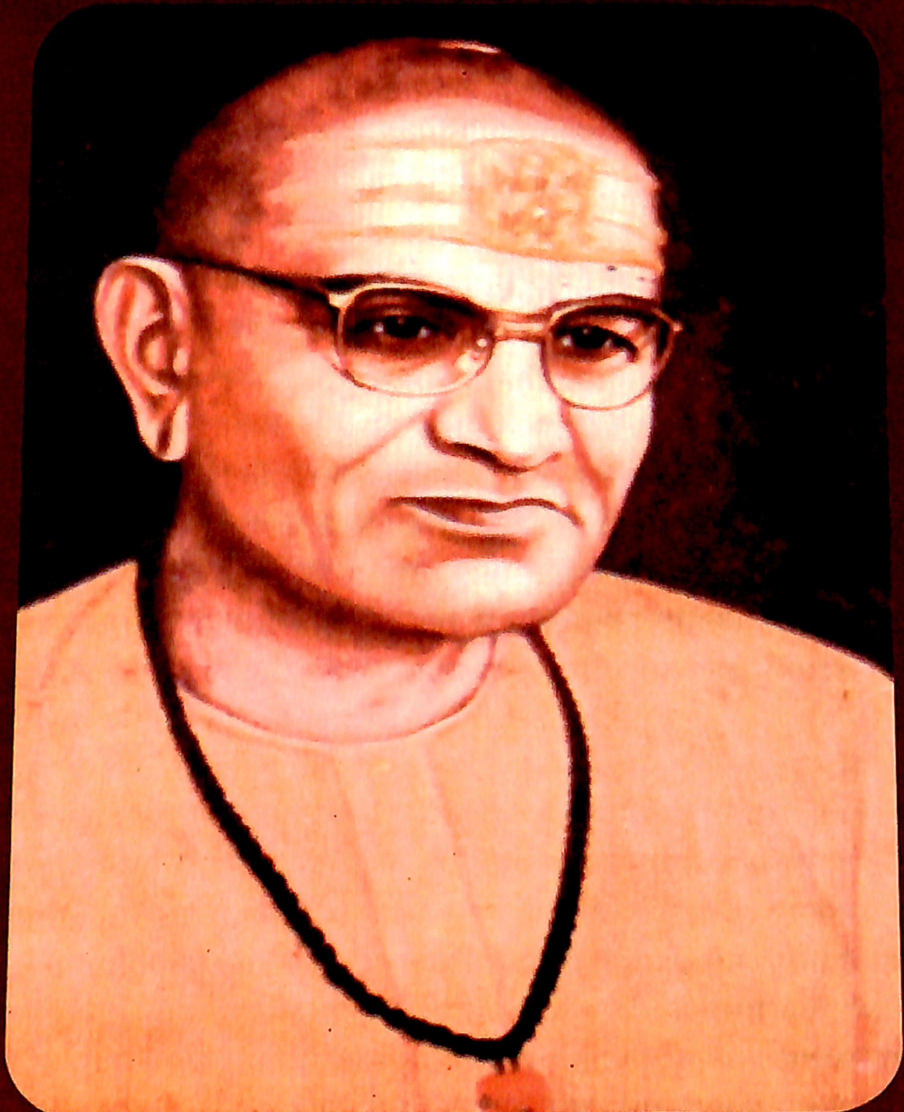

स्वामीश्री प्रेमपुरीजी महाराज

चर्चामें रुचि नहीं थी। परन्तु मुझपर उनका बहुत स्नेह था। अत: स्वीकार तो कर लिया, परन्तु प्रेमकुटीरके वेदान्ती हालमें नहीं, अपने ऊपरके फ्लैटके हालमें। सायंकाल उसमें सौके लगभग श्रोता आ जाते थे। पहले ही दिन चमत्कार हुआ। स्वामीजीकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिरने लगे। जैसे कोई बालक स्निग्ध-मुग्धभावसे कहानी सुने, वैसे स्वामीजी बड़े प्रेमसे श्रीकृष्ण-लीला सुनने लगे।

कथा-प्रसंगके बीच-बीचमें वेदान्तकी चर्चा कर दिया करता था। मेरा कहना था कि अधिकांश वेदान्ती देहादिरूप दृश्यसे अपने द्रष्टा आत्माका विवेक तो कर लेते हैं और महावाक्यजन्य चरमावृत्तिसे आत्माको ब्रह्म भी जान लेते हैं। परन्तु अपवादका संस्कार उनकी बुद्धिमें इतना प्रबल हो जाता है कि अन्वयकी दृष्टि स्फुट नहीं हो पाती। विवेकके समय व्यतिरेककी प्रधानता रहनी चाहिए। परन्तु बोधके अनन्तर अन्वय दृष्टि स्वयं ही हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि घट, कुण्डलादिसे मृत्तिका, स्वर्ण विलक्षण अवश्य है; परन्तु मृत्तिका स्वर्णादिसे पृथक् घट, कुण्डलादिका कोई अस्तित्त्व नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्मात्मैक्य-बोध हो जानेपर जगत्की सत्ता, स्फूर्ति भी अधिष्ठान चैतन्य-स्वरूप ही है। अतएव बोधवान्को दृश्यकी प्रतीतिसे द्वेष करनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत दृश्य भी उसका आत्मा ही है। इसीसे उपनिषदोंमें 'स', 'आत्मा', 'ब्रह्म', एवं 'अहं'—इन चारों शब्दोंका प्रयोग करके ऊपर-नीचे, सामने-पीछे सबको ब्रह्म कहा गया है। यह उपासना श्रुति नहीं है। तत्त्वज्ञकी दृष्टिका अनुवाद ही है। अतएव 'संक्षेप शारीरककार' ने साधारणबुद्धिसे परिणाम, शुद्ध-बुद्धिसे विवर्त और ब्रह्म-बुद्धिसे प्रपञ्चको अपना स्वरूप ही बताया है।

इस दृष्टिसे भी प्रतिपादन करता—आकृतिहीन सत्ता, चित्स्वरूपसे पृथक् नहीं हो सकती। भोग्यहीन आनन्द भी चित्स्वरूपसे पृथक् नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि चित्स्वरूप ही समग्र दृश्य एवं रसके रूपमें स्फुरित हो रहा है। सत्की प्रधानतासे शान्ति, समाधि आदि नाम होता है। चित्की प्रधानतासे द्रष्टा, आत्मादि नाम होता है। आनन्दकी प्रधानतासे रस, सुख आदि नाम होता है। सत्में शान्ति-समाधि, चित्में दृश्य-द्रष्टाका विवेक एवं आनन्दमें जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख, भक्ति-भाव। बोध होनेपर आभास, अवच्छेदादिकी प्रक्रिया अथवा प्रमाण, प्रमेयके विचारका कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह सब केवल जिज्ञासुओंको समझाने मात्रके लिए उपयोगी हैं। उपदेशकी एक शैलीमात्र है। स्वामीजी महाराज वेदान्तके चूड़ान्त विद्वान् थे। उन्हें इन बातोंमें बहुत आनन्द आया करता था।

प्रात:काल प्रेमकुटीर में माण्डूक्य उपनिषद् एवं कारिकाओंपर प्रवचन

चलता रहा। उस समयमें स्पष्ट रूपसे भिन्न-भिन्न मतवादोंका निराकरण करके ब्रह्मकी अद्वितीयता एवं आत्मरूपता-निरूपण करता। मेरे प्रतिपादनकी शैली उन्हें पसन्द आती थी। आत्मासे भिन्न जो कुछ भी होगा—वह दृश्य अथवा अदृश्य परोक्ष एवं कल्पित होगा। दृश्य जड़ होता है। कल्पित अध्यारोप मात्र होता है। यदि परमात्मा मुझसे अन्य होगा तो जड़ कादाचित्क कल्पित तथा मिथ्या हो जायेगा। वह अचेतन अर्थात् बेहोश भी होगा। यदि मैं परमार्थ सत्य अद्वितीय ब्रह्मसे पृथक् होऊँगा, तो मिथ्या, कल्पित एवं परिच्छिन्न हो जाऊँगा। सबसे उत्तम, निरुत्तर आनन्द-मंगल यही है कि वह मुझसे एक रहकर चेतन हो और मैं उससे एक होकर अद्वितीय ब्रह्म होऊँ। इसी स्वत: सत्यका बोध उपनिषद् देती है। स्वामीजीके सामने उपनिषदोंका विवेचन करनेमें जो आनन्द आता था, वह अवर्णनीय है।

बीच-बीचमें वृन्दावन जाना-आना भी होता रहता था। स्वामीजी जानेके दिन भरी सभामें स्वयं रो जाते थे, श्रोताओंको रुला देते थे और मुझसे भी शीघ्र लौट आनेकी प्रतिज्ञा करवा लेते थे। एकबार सभामें बोले—'जाओ, ऐसा मैं कह नहीं सकता। मत जाओ, कहनेसे संकल्पमें बाधा पड़ेगी। साथ चल नहीं सकते। रोक सकते नहीं। वियोगमें दु:ख होगा—यह कहना तुम्हें दु:खी करना होगा। मैं मर जाऊँगा—यह कहना झूठ होगा। अब तुम्हीं बतलाओ प्यारे! तुम्हारे जानेके समय मैं क्या कहूँ? आँसू रुक नहीं सकते और आँसू गिराना अपशकुन है। स्वामीजी सबसे मेरी प्रशंसा करते। श्री हेमलता रतनसी भाईसे उन्होंने कहा कि मैं ५० वर्षसे सत्संग करता रहा हूँ, परन्तु सत्संगका रस तो अब आया है। कोई दोपहरको आ जाता, मैं विश्राम कर रहा होता तो मेरे सेवकको कहते, जगा दो। उनका कहना था कि एकान्तमें रहना था तो बम्बई क्यों आये? गंगातटपर रहते। काकू भाई जो ईश्वर-कृपासे अभी जीवित हैं, उनकी चार-पाँच लड़कियाँ हो चुकी थीं। स्वामीजी मेरे लिए बोले—'ये सिद्ध-पुरुष हैं। इनसे आशीर्वाद लो। तुम्हारे पुत्र हो जायेगा'। स्वामीजीके आशीर्वादसे वृद्धावस्थामें उनके दो पुत्र हुए। एकका नाम जिज्ञासु है, दूसरे का नाम धर्मसुख। नाम स्वामीजीके रखे हुए हैं। उन्होंने अपने आशीर्वादको मेरा आशीर्वाद कर दिया। मोहनलालके बारेमें भी ऐसा ही हुआ। मेरा नाम लेकर स्वामीजीने उनको पुत्रका आशीर्वाद दिया था। अब वे पुत्र-पौत्रादिसे सम्पन्न हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारसे वे मेरी महिमा बढ़ानेका प्रयास करते थे।

उनके स्वभावमें परिवर्तन देखकर तो मुझे भी आश्चर्य होता था। एक बार हमलोग मोटरमें चल रहे थे। पीछेसे टैक्सी आयी। सड़कका पानी-कीचड़ उछलकर हमारी मोटरमें आगया। कुछ अंश मुखपर भी पड़ गया। हमारी मोटरका

ड्राइवर नाराज हुआ—'अच्छा, मैं टैक्सीवालेको मजा चखाता हूँ।' 'स्वामीजी बोले'—'अरे भाई! ठाकुरजीका चरणामृत तो बहुत बार मिला है, आज मोटर भगवान्‌का चरणामृत मिल गया।' कहकर हँस पड़े। हमलोग भी हँसने लग गये।

कभी-कभी भोजनमें बाल निकल आता था। मुझे बाल्यावस्थासे ही भोजनमें बाल देखकर वमनका भाव आने लगता था। मैंने मनुस्मृतिका वह श्लोक भी याद रखा था कि कि भोजनमें बाल निकलने पर, थोड़ी-सी शुद्ध मृत्तिका डाल देनेपर उसका दोष दूर हो जाता है। फिर भी मुझे कुछ उद्वेग तो हो ही जाता। स्वामीजी बोल पड़ते—देखो तो बाल काला है या सफेद?'यदि सफेद है तो बसन्त बहिनका, काला है तो जसु बहिनका।' दोनों दौड़ जातीं। एक दूसरेसे कहती-मेरा नहीं, तुम्हारा। स्वामीजी हँसने लगते। मैं भी हँस जाता। मेरी भोजनकी थाली बदल दी जाती।

दैवी-सम्पद् मण्डल तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेनकी सफलताके पश्चात् स्वामीजीके भक्तोंने भी निश्चय किया कि ट्रेन निकाली जाय। पूरी तैयारी हो गयी। मार्ग, डिब्बे, यात्री, क्रम—सब निश्चित हो गये। संयोगवश मुझे एक स्वप्न आया कि हमारी तीर्थयात्राकी बस एक नालेमें उलटकर गिर गयी है। सब जगह ट्रेन जाती थी, परन्तु हिमालयकी यात्रा बसमें होनी थी। वह स्थान कहीं धौली गंगाके आसपास था। मैंने स्वामीजीको स्वप्न बताया तो उन्होंने तुरन्त यात्रा स्थगित करनेका आदेश दे दिया। मुझे तो स्वप्नका इतना महत्त्व नहीं था, परन्तु स्वामीजीने मेरे स्वप्नका इतना आदर किया कि अनेक लोगोंको असुविधा होनेपर भी उन्होंने तीर्थ-यात्रा स्थगित ही कर दी। थोड़े दिनोंके बाद उन्होंने पाँच-सात भक्तोंको लेकर तीर्थ-यात्रा की। अब मुझे उनके साथ गये भक्तोंके नाम याद नहीं हैं—इतना अवश्य याद है कि मैंने श्रीओंकारानन्दजीको स्वामीजीकी सेवाके लिए उनके साथ भेजा था। ओंकारानन्द महीनोंतक स्वामीजीके साथ रहे। स्वामी प्रेमपुरीजी महाराजके शील-स्वभाव, आचार-विचारसे ओंकारानन्द बहुत प्रभावित हुए और उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हो गये। स्वामीजी इस बीच दो बार वृन्दावन आये। वृन्दावनमें स्वामीजी प्रवचन नहीं करते थे। मेरा प्रवचन सुनते थे। वृद्धावस्थामें भी स्वामीजीका व्यक्तित्व अक्षुण्ण प्रभावशाली एवं दूसरोंके हृदयमें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न करनेवाला था। हाँ, हृदय-पीड़ाके कारण चढ़ने-उतरनेमें उनको अत्यन्त कष्ट होता था। बम्बईमें श्रीहरिकिशनदास, श्रीहरिलाल बच्चूभाई ड्रेसवाला, दादा लोकूमल आदि बड़े प्रेमसे उनकी सेवा-शूश्रूषा करते थे।

बम्बईके सत्संगियोंके आग्रहसे एक सत्संग-भवन बनानेका निश्चय हुआ। मुम्बादेवीके पास मैदानमें विशाल आयोजन किया गया। यद्यपि मैं धनके उद्देश्यसे

कभी श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह नहीं करता था; फिर भी स्वामीजी महाराजकी संकल्पकी पूर्तिके लिए मैंने सप्ताहका वाचन किया। बड़ी भीड़ हुई। धन भी एकत्र हुआ। परन्तु उनके जीवन-कालमें सत्संग-भवन नहीं बन सका। वल्लभदास मरीवाले, कामदार, रतनसी भाई आदि सभी भक्तोंका सहयोग रहा, परन्तु वह संकल्प तो उनके ब्रह्मलीन होनेके बाद ही पूरा हुआ।

मैं जब गृहस्थ-आश्रममें था, तब मेरे मित्र श्रीझगरूसिंह कानूनगोने दूसरोंसे धन लेना बन्द कर दिया था। मेरे मनपर उसका इतना प्रभाव पड़ा कि मैंने भी अपनी परम्पराके शिष्योंसे प्रतिग्रह लेना छोड़ दिया। गृहस्थाश्रममें त्याग करनेके बाद संन्यासाश्रम ग्रहण करनेपर धन लेना पड़े; यह मुझे पसन्द नहीं था। मैंने प्रेमकुटीरमें भेंट-पूजा चढ़ानेके लिए मना किया। स्वामीश्री प्रेमपुरीजी महाराजने कहा कि तुम मत लो, मेरा आदमी उठा लिया करेगा, परन्तु रोकना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न महात्माओंके प्रवचन होते हैं। लोग भेंट चढ़ाना बन्द कर देंगे तो उनकी हानि होगी। साथ ही जो लेते हैं, उनपर अश्रद्धा होगी। अत: चुप रहो, बोलो मत। जब पहले-पहल यहाँसे मेरे वृन्दावन जानेका समय आया, तब उन्होंने देवीदयाल स्टील वाले श्रीहरकिशन दासजी और श्रीबच्चूभाई ड्रेसवालासे सलाह करके मुझे तीन हजार रुपये दिये। बस यहींसे मेरी भेंट-पूजा प्रारम्भ हो गयी। भागवतपर प्रवचन करके भगवद्भक्तिके अतिरिक्त किसी भौतिक वस्तुकी प्राप्तिका संकल्प रखना मुझे सर्वथा अनुचित लगता था। परन्तु स्वामीजीकी प्रसन्नता के लिए मैंने अपने नियम छोड़ दिये।

स्वामीजी महाराज, त्याग-वैराग्यकी महिमाको भली-भाँति जानते थे। उनके पूर्वज ध्रोल राज्यका परित्याग करके इसी कारण राजकोटमें आ बसे थे कि उन्हें वहाँ राजाका पौरोहित्य न करना पड़े। वे शुक्ल वंशके ब्राह्मण थे। उनके पितामह संन्यासी होकर काशीमें निवास करते थे। आठ वर्षतक स्वामीजी उनकी सेवामें रहे तथा साथ-ही-साथ विद्याभ्यास भी चालू रखा। अपने पितामहके शरीरपातके पश्चात् विवाह, पत्नी और पुत्रकी मृत्युके पश्चात् जड़ेश्वर महादेवमें एकान्तवास करते रहे। उन दिनोंकी मनोदशाका मार्मिक चित्रण उन्होंने स्वयं किया है जो उनकी पुस्तक ब्रह्मास्मि-मालाके आरम्भमें प्रकाशित हुआ है। पुन: काशीमें अध्ययन, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राममें कारागारमें एकान्त निवास, ब्रह्मचिन्तन, ऋषिकेशके कैलाशाश्रममें श्रीप्रकाशानन्दपुरीजी महाराजसे अद्वैत-वेदान्तका गहन ज्ञान, वहाँका महामण्डलेश्वर होना—ये सब उनके विवेक-वैराग्य आदि साधन-सम्पदाके सूचक हैं। महामण्डलेश्वर पदपर रहते हुए ही गुप्त रूपसे आदि बद्री जाना, वहाँ ब्रह्मात्मैक्यका दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार करना, वहाँके लोगोंमें स्वामीजीकी ख्याति-

प्रतिष्ठा, विद्यालय, चिकित्सालय आदिका निर्माण, उसका भी त्याग कर देना, ये सब स्वामीजीके राग-द्वेषरहित भावकी अभिव्यक्ति है। स्वामीजी महाराजने कई भक्तोंसे कहा था कि तुम इनसे (मुझसे) वेदान्त सीखना, भागवत सुनना इत्यादि। मुझे तो ऐसा लगता था कि वे स्वयं अपने लिए कुछ नहीं करते हैं, सब कुछ मेरे लिए करते हैं। उनके स्निग्ध व्यवहारसे मैं तो मुग्ध ही हो गया था।

स्वामीजीके भक्तोंमें एक सिन्धी सज्जन थे—लोकूमल 'दादा'। उनका जीवन पौरुषका आदर्श था। पहले उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं थी। प्रात:काल एक व्यापारीसे कपड़े लेकर खजूरकी चटाई बिछाकर एक जगह बैठ जाया करते थे। दिन भरमें जो बिक्री होती उसका हिसाब सायंकाल व्यापारीको चुका देते और बचे हुए कपड़े भी उसीके पास रख दिया करते थे। ईश्वरकी कृपासे उन्होंने इतनी उन्नति की कि उनका व्यापार विदेश तक पहुँच गया। उन्होंने लाखों रुपये, धर्मके काममें लगाये। लोकूमल 'दादा' ने जीवनकालमें तो स्वामीजीकी सेवा की ही; शरीर-त्यागके अनन्तर भी मुम्बादेवीके मैदानमें बहुत बड़े रूपमें श्रीमद्भागवतका आयोजन किया और लोकहित-कुटीरके नामसे एक विशाल महल और हाल, खार (बम्बई) में बनवाया। वहाँ नित्य सत्संग चलता है और श्रीजसु बहिनजी, आनन्दपुरी होकर वहाँ विराजती हैं। स्वामीजीने लोकूमल 'दादा' को और जसु बहिनको मेरे प्रति श्रद्धालु बना दिया था।

स्वामीजी महाराजके विचार बड़े ही उदार थे। उनकी सभामें पादरी, मौलवी, दस्तूर, ग्रन्थी सभीका आदर था। सब उनके पास आते थे। सबसे विचार विनिमय करते थे। सभी पन्थोंमें जो सदाचार, सद्‌भाव, सद्‌विचार हैं, उनको महत्त्व देते थे। परन्तु उनकी निष्ठा औपनिषद सिद्धान्तमें ही थी। यदि कोई वक्ता शांकर-सिद्धान्तके विरुद्ध बोलता तो उसको रोक देते थे। वेददर्शनाचार्य-महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजीसे उनकी बहुत मित्रता थी। दोनों प्राय: समवयस्क थे। जिन दिनों 'पञ्चदेव महायाग'का आयोजन हुआ, स्वामीजीने कहा—'प्रेम-कुटीरका सत्संग बन्द नहीं होगा।' उन दिनों वहाँ मेरा प्रवचन होता था। स्वामी श्रीसर्वानन्दजी महाराजने उनको मनाया तो इस शर्तपर बात तय हुई कि 'पञ्चदेव महायाग' के विशाल पण्डालमें पहले घण्टेभर मेरा प्रवचन हो लेगा, उसके बाद दूसरोंका होगा। स्वामी प्रेमपुरीजीके विचार और निश्चय बहुत दृढ़ थे। निर्भयता तो ऐसी थी कि वैसी कहीं विरल हो देखनेको मिलती है।

वेदान्तकी दृष्टिसे तत्त्वज्ञानी पुरुषमें तीन बातोंका होना—बिना प्रयत्नके ही देखा जाता है।

(अ) 'एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान'—इसका अर्थ यही है कि वह विश्वके प्रत्येक नाम, रूप एवं क्रियाको जानता है। इसका अर्थ है कि स्वयं प्रकाश, अधिष्ठान-स्वरूप ब्रह्मात्माके बोधसे अन्य पदार्थ बाधित हो जाते हैं। यही निरुत्तर तथा निरतिशय वैदुष्य है।

(ब) सर्वत्यागका सामर्थ्य होना—क्योंकि अधिष्ठानमें अध्यस्त वस्तुकी सत्ता ही नहीं है तो वह नितान्त परित्यक्त ही है।

(स) अभयकी प्रतिष्ठा होना—उसे लोक-परलोक, भाव-अभाव, सुख-दुःख, राग-वैराग्य, जीव-ईश्वर, बन्धन-मोक्ष आदिके ह्रास-विकासका कोई भय नहीं होता।

मेरी दृष्टिसे प्रेमपुरीजी महाराजमें ये तीनों बातें थीं और वे एक तत्त्वज्ञ महापुरुष थे।

स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज बड़े मौजी महात्मा थे। कभी हास-विलास करते, कभी डाँटते-फटकारते, कभी गम्भीर विचार-विनिमय करते, तो कभी शान्त हो जाते। उनके जीवनमें सबके लिए अनुज्ञा थी। क्योंकि उनका सर्वात्म-बोध अत्यन्त दृढ़ था। दूसरी ओर उनके जीवनमें सर्वका निषेध भी था। क्योंकि सर्व आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मा एक है। सर्व अनेकताका समूह है। आत्मा चेतन है। सर्व दृश्य है। आत्मा एकरस है, सर्व परिवर्तनशील है। अतएव आत्मा परमानन्द-स्वरूप सत्य है; सर्व दुःख, जड़, विनश्वर है। आत्मा अबाधित सत्य है; सर्व अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान चेतनमें प्रतीयमान होनेके कारण बाधित अतएव मिथ्या है। सर्वात्म भावका वास्तविक स्वरूप यही है। इसी यथार्थ-परमार्थका साक्षात्कार औपनिषद ज्ञानसे होता है।

जीवनमुक्त पुरुषका जीवन 'दग्ध-रथ न्याय' से ही रहता है। जैसे अर्जुनका रथ कर्णके अग्नि-बाणसे दग्ध हो चुका था, परन्तु श्रीकृष्णके द्वारा अधिष्ठित होनेसे अपना काम कर रहा था। युद्ध समाप्त होते ही पहले अर्जुन और फिर श्रीकृष्णके उतर जानेके बाद: न रथ, न घोड़े, न चाबुक, न बागडोर। वही तत्त्वज्ञानी शरीरकी स्थिति है। वह तत्त्वज्ञानसे तत्काल भस्म हो जाता है। परन्तु, आरब्ध कर्मके वेगसे चलता रहता है। 'आरब्ध' कर्मकी समाप्तिपर वह शान्त हो जाता है।

❁

अज्ञातनामा भक्त

एक सन्तने गाया है, 'तू प्रभु जीवे, मैं मर जाऊँ।' यह प्रसिद्ध है कि प्रेमकी गलीमें 'मैं' और 'हरि' दोनों नहीं चल सकते। जब मैं है तब हरि नहीं, जब हरि है तब मैं नाहीं। कैसी विचित्र बात है कि जैसे नदियाँ समुद्रसे मिलकर अपना नाम-रूप खो बैठती हैं, वैसे ही भक्त भी भगवान्‌से एक होकर अपना नाम-रूप खो बैठता है। अपना यश, नाम, रूप, पूजा-प्रतिष्ठा, ख्याति-लाभ, जबतक अभीष्ट होंगे, तबतक भगवान्‌के सामने एक पर्दा ही रहेगा; पुजारी अपनेको ही देखेगा, देवताको नहीं। यही कारण है कि अनेक ऐसे भक्त हो गये हैं जो लोगोंके सामने भक्तके रूपमें कभी प्रकट नहीं हुए। श्रीवृन्दावनधाममें ऐसे अनेक भक्त हुए हैं—उनमें-से एक भक्तकी चर्चा मैं कर रहा हूँ। उनकी बार-बार स्मृति हो आती है।

पूर्ण ब्रह्मके देदीप्यमान, मूर्तस्वरूप श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजकी छत्रच्छायामें, जे० के० ग्रुपकी ओरसे कैलासेश्वर एवं पद्मविहारी भगवान्‌के मन्दिर बन रहे थे। उसीके प्रांगणमें मेरे लिए निवास-स्थान बन चुका था। वह स्थान श्रीवृन्दावनधाममें दावानलकुण्डके पास है। जब मैं रातके समय छतपर सोता तो एक व्यक्ति, जो कभी दिनमें देखा नहीं गया, मेरे पास आजाता। दुबला-पतला, काला-कलूटा; कमरमें फटे चीथड़ेकी लँगोटी—सिरपर उलझे हुए बाल। वह आकर मेरे तख्तके पास बैठ जाता और मेरी छातीपर अपना सिर रख देता। उसकी आँखोंसे अजस्र अश्रुपात होता रहता। मैं लेटा रहता। वह कुछ बोलता नहीं था। उन दिनों मेरी सेवामें मुख्य रूपसे श्रीलीलानन्द (छोटेजी) ब्रह्मचारी और

श्रीप्रेमानन्द ब्रह्मचारी (दादा) रहा करते थे। जब उन दोनोंने यह दृश्य देखा, तब वे उस व्यक्तिको मना करने लगे। समझाया-बुझाया, डाँटा-डपटा, परन्तु उसपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। कुछ दिनोंके बाद तो तीनों ब्रह्मचारी उस दुबले-पतले आदमीको नीचे-ऊपरसे पकड़कर बाहर फेंक आते थे। परन्तु वह ऐसा हठी था कि किसी-न-किसी प्रकार लोगोंकी आँख बचाकर मेरे पास पहुँच ही जाता था। मेरा ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। मैंने उससे पूछा कि वह कौन है, क्या चाहता है और मेरे पास क्यों आता है? वह मौन रहता था, उसकी बोली अबतक मैंने नहीं सुनी थी। मेरे पूछनेपर उसने अपना मौन तोड़ दिया और कहा—'मैं रैदासी अर्थात् चमार हूँ।' तब तक 'हरिजन' शब्द प्रचलित हो गया था। मैंने पूछा—'वृन्दावनमें कबसे रहते हो?' उसने जवाब दिया—'वर्षों हो गये।' 'कहाँ रहते हो?' उसने बताया—'कहीं भी सो जाता हूँ, कहीं भी खा लेता हूँ, वर्षा होनेपर दावानल-कुण्डके पक्के घाटपर जो बड़ा-सा आला बना है, उसमें बैठकर भजन करता हूँ; सो भी लेता हूँ। लोगोंके सामने नहीं आता हूँ। यथाशक्ति किसीको भी छूता नहीं। आपको देखकर मेरे मनमें प्रेमका भाव आता है इसलिए आ जाता हूँ।'

मेरे मनमें त्यागी, विरक्त अवधूतोंके प्रति आस्था तो पहलेसे ही थी, परन्तु इस व्यक्तिकी निरपेक्ष रहनीने मुझे मोह लिया। सचमुच उसके मैले-कुचैले शरीरमें भी कोई मधुरता-भरी हुई थी। मैंने छोटेजी और दादाजीको मना किया कि इसको रोको मत। इससे दुर्व्यवहार मत करो। परन्तु, उन लोगोंने मेरी बातपर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्हें एक अस्पृश्यके प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। यह बात सन् १९५०के लगभगकी है। श्रीउड़ियाबाबीजी महाराजका शरीर तब पूरा हो चुका था।

सम्भव है आचारी लोगोंको यह अच्छा न लगे कि हरिजन मेरी छातीपर अपना सिर रख दिया करता था। परन्तु मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि बाल्यावस्थासे ही मेरे मनमें हरिजनोंके प्रति कोई घृणा, द्वेष या ग्लानिका भाव नहीं रहा है। मेरे पितामह अपने हलवाहेको 'दु:खुवा' कहकर पुकारा करते थे। सात-आठ वर्षकी उम्रमें मैंने पितामहके देखा-देखी उसको 'दु:खुवा' कहकर पुकारा, इसपर मुझे डाँटा गया—'तुम बच्चे हो, तुम्हें ऐसे नहीं बोलना चाहिए।' पितामहने मुझसे कहा—'बेटा, तुम दुक्खू काका कहा करो। वह मुझसे छोटा है इसलिए मैं दु:खुवा बोलता हूँ। परन्तु तुम उससे छोटे हो। उस समयसे मैं सदा सावधान रहता था। दुक्खू काकाके चार पुत्र थे—ईश्वरी, सहदेव, महादेव, बच्चन। चारों मुझे 'भैया' कहकर बुलाते थे। खेती-गृहस्थीके काममें वे सदा साथ रहा करते थे। मेरे

मनमें कोई भेदभाव नहीं था। दुक्खू काकाके घरमें एक बार आग लगी तो मैं बुझाने पहुँच गया। गाँवके अन्य ब्राह्मण नहीं आये। दुक्खू काकाने अपने धरमें-से वेदकी पुस्तक निकाली और बड़े सङ्कोचके साथ मुझे दे दी कि यह कहींसे चोरीमें मेरे पास आ गयी थी। यह सब इसलिए लिखवा रहा हूँ कि पाठक मेरी मनोवृत्तिको ठीक-ठीक समझ सकें।'

वह अज्ञातनामा भक्त कभी-कभी आकर मेरे पास बैठ जाता और अपनी जटामें-से एक छोटी-सी पुस्तक निकालता। उस पुस्तकमें सन्त रैदासजीके कुछ पद लिखे हुए थे। उनका अर्थ मुझसे पूछता। वे पद तो अब सब 'वाणी'के नामसे प्रकाशित हो चुके हैं। मैं आपके सम्मुख उनका सार संक्षेपमें प्रस्तुत कर रहा हूँ।

(१)

भाइयो! अब मैं हार चुका हूँ। संसारके हालचाल, लोक-वेद, प्रशंसा, गाना-नाचना; सेवा-पूजासे थक चुका हूँ। काम-क्रोधने देहको थका दिया है। और कहूँ तो क्या कहूँ! मैं न तो भगवान्‌का भक्त हूँ और न तो कहलाना चाहता हूँ। मैं किसी देवका पाँव भी अब नहीं पकड़ता। क्योंकि जो कुछ मैं करता हूँ, वह उलटकर मुझे बाँध लेता है। इसीसे मैं किसी भेद-भावको अपने पास फटकने नहीं देता। पहले मैंने ज्ञानकी चाँदनी अर्थात् प्रकाश किया था। परन्तु पीछे दीपक बुझा दिया। शून्य सेजपर पहुँचकर मैंने दोनों छोड़ दिये— न राम कहता हूँ न खुदा। मैंने स्नान सन्ध्या, पूजा, जप, तर्पण तथा होम छोड़ दिये हैं। सेवा करता नहीं। ज्ञान-ध्यान छूट गया। जहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ थक जाती हैं, वहाँ मेरी स्थिति हो गयी है। जिसके लिए मैं इधर-उधर भटक रहा था, वह अब मुझे घटमें ही मिल गया है। मेरी पाँचों प्राण-वृत्तियाँ एवं मनोवृत्तियाँ ही सखी-सहेली हैं। उन्होंने मुझे वह खजाना दिखा दिया है। मन प्रफुल्लित है। संसारसे लौटकर अपने स्वरूपमें समा गया है। वह चलते-चलते थक चुका है, अब चला नहीं जाता। वह तो सहज, साक्षात् अपरोक्ष, नित्य प्राप्त है, उसकी महिमा क्या गाऊँ?

अब मैं हार्‌यो रे भाई।
थकित भयौ सब हाल चाल तैं, लौगन वेद बड़ाई॥ टेक॥
थकित भयौ गायन अरु नाचन, थाकी सेवा-पूजा।
काम-क्रोध तै देह थकित भई, कहौं कहाँ लौं दूजा॥ १॥
राम जन होऊँ न भगत कहाऊँ, चरन पखालूं न देवा।
जोई-जोई करौं उलटि मोहि बाँधे, तातैं, निकट न भेवा॥ २॥

पहलै ग्यान का किया चाँदिना, पीछै दीया बुझाई।
सूनि सहज मैं दोऊ त्यागै, राम कहौं न खुदाई॥ ३॥
दूरि बसै षट क्रम सकल, अरु दुरिउ कीन्हैं सेउ।
ग्यान ध्यान दोऊ दूरिउ कीन्है, दूरिउ छाँडै तेउ॥ ४॥
पाँचू थकित भयै जहाँ-तहाँ, जहाँ-तहाँ थिति पाई।
जा कारनि मैं दोर्‌यौ फिरतौ, सो अब घट मैं आई॥ ५॥
पाँचू मेरी सखी सहेली, तिन निधि दई दिखाई।
अब मन फूलि भयौ जग महियाँ, उलटि आप महँ समाई॥ ६॥
चलत-चलत मेरो निजमन थाक्यो, अब मो पै चल्यो न जाई।
सोई सहजि मिल्यौ सोई सनमुख, कहै 'रविदास' बड़ाई॥ ७॥

(२)

कोई-कोई सुहागिन पतिव्रता ही मिलनका रस अनुभव करती है। वह अभिमान छोड़कर परमानन्द स्वरूप परमात्मासे एकमेक हो जाती है। वह अपने और परमात्माके बीचमें तन-मनका किञ्चित् भेद नहीं रखती। वह अन्यको न देखती है, न सुनती है। द्वैत उसको नहीं भाता है। वह भला परायी पीड़ा क्या जानेगा जिसके हृदयमें कभी पीड़ा नहीं हुई। अभिप्राय यह है कि बिना उस सुखके, अनुभवके वह जाना नहीं जा सकता। जिसने निरन्तर अपने पति परमात्माकी भक्ति नहीं की है वह अभागिनी पक्ष-हीन पक्षीके समान दुःखी है। परमात्माके साथ रतिका पथ बहुत कठिन है। वहाँ कोई सङ्गी-साथी नहीं होता। अकेले ही गमन करना पड़ता है। दुःखी, दर्दी द्वारपर आता है। बहुत प्यास होनेपर भी उत्तर नहीं मिलता है। रविदास भक्त कहता है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, तुम जो ठीक समझो मेरी वही गति कर दो।

सह की सार सुहागिन जानै, तजि अभिमानु सुख रलीआ मानै।
तनु मनु देई न अन्तरु राखै, अवरा देखि न सुनै न भाखै॥ १॥
सो कत जानै पीर पराई, जाकै अन्तरि दरदु न पाई॥ २॥
दुखी दुहागनि दुइ पख-हीनी, जिनि नाह निरन्तरि भगति न कीनी।
पुरस लात का पन्थ दुहेला, संगि न साथी गवनु इकेला॥ ३॥
दुखिआ दरदबंदु दरि आइया, बहुतु पिआस जबाबु न पाइआ।
कहि रविदास सरन प्रभु तेरी, जिउ जानहु तिउ करु गति मेरी॥ ४॥

(३)

जब मैं-मैं हो रहा था, तब तुम्हारा अनुभव नहीं होता था। अब तुम्हीं तुम

हो; मैं नहीं हूँ। जैसे महासमुद्रमें लहर-ही-लहर होती है, बड़वानल दिखायी पड़ता है, वहाँ दूसरी कोई वस्तु नहीं है। केवल जल है, लहर अलग नहीं है। हे माधव! क्या कहूँ, भ्रमका स्वरूप ऐसा है कि जैसा मानते हैं वैसा नहीं है। एक राजा सिंहासनपर सोया स्वप्नमें भिखारी हो गया। उसका राज्य ज्यों-का-त्यों है, फिर भी राज्य खोनेका दुःख वह भोग रहा है। वही गति मेरी हो गयी है। जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम होता है, वैसे ही यह संसार दीख रहा है। अब इसका मर्म मालूम पड़ा है। जैसे सोनेमें कड़ा मालूम पड़ता है, वैसे ही आत्मामें यह अनिर्वचनीय प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है। इस अनेक सर्वरूपमें एक ही सत्य है— वही सबमें प्रकाशक है। रैदास भक्त कहते हैं कि वह तो सहज भावसे मिला-मिलाया है। प्रतीतिमें जो होता है सो होने दो।

जब हम होते तब तू नाहीं, अब तू ही मैं नाहीं।
अनल अगम जैसे लहरि महोदधि, जल केवल जल माँहीं॥ १॥
माधव, किआ कहीयै भ्रमु ऐसा, जैसा मानीयै होइ न तैसा॥ २॥
नरपति एकु सिंघासनि सोइआ, सुपने भइया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुख पाइया, सो गति भई हमारी॥ ३॥
राज-भुजंग-प्रसंग जैसे इहि, अब कछु मरमु जनाइआ।
कनिक कटक जैसे भूलि परे, अब कहते कहनु न आइआ॥ ४॥
सरबे एकु अनेकै सुआमी, सम घट भोगवै सोई।
कहि रविदासु हाथ पैने रे, सहजे होइ सु होई॥ ५॥

(४)

तुम्हारे घटमें अर्थात् घटके समान शरीरमें परमात्माका निवास है, तुम कहाँ-कहाँ क्यों ढूँढते फिर रहे हो? मृगकी नाभिमें कस्तूरी रहती है और वह घास-पातमें उनकी सुगन्ध ढूँढ़ता फिरता है, यही तुम्हारी स्थिति है। कालरूप शिकारी तुम्हारा पीछा कर रहा है। क्षण भरमें तुम्हारा प्राण हर लेगा। तुम्हारे शरीरके भीतर ही इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना नाड़ी है, उसमें चित्त क्यों नहीं लगाता। इसी शरीरमें सहस्रार-चक्रमें भँवर-गुफा है, उसमें भँवरेकी गूँज सुनायी पड़ती है। अपना हृदय एक चिन्मय समुद्र है, उसमें बहुमूल्य हीरेके समान विशुद्ध चेतन हीरेका निवास है—यह मनमुखीकी नहीं गुरुमुखकी समझमें आता है। जब गुरुके अनुग्रहसे, उसके संकेतपर ध्यान देते हैं, तब हीरेकी प्राप्ति होती है। रविदास भक्तका कहना है कि सन्तो! इस पदको समझो, यह निर्वाण वाणी है। जो कोई इस रहस्यको ढूँढ़ता और समझता है वह भी ज्ञानी सन्त है।

खोजत किधुँ फिरै तेरे घट मँह सिरजन हार।
कस्तूरी मृग पास है रे, ढूँढत घास फिरै।
पाछ लागो काल पारधी, छिन मँह प्रान हरै॥ १॥
इला पिंगला सुषमण नारी, जा मैं चित्त न धरै।
सहस्त्रार मँह भँवर गुफा है, भँवरा गुंज करै॥ २॥
दिल दरियाव हीरा लाल है, गुरुमुख समझ परै।
मरजी बाकी सैन विचारै, तउ हीरा हाथ परै॥ ३॥
कहि रविदास समुझि रे सन्तो, इहु पर है निरवान।
इहु रहसि कोउ खोजै बुझै, सोउ है सन्त सुजान॥ ४॥

(५)

प्यारे भाइयो! मुकुन्द-मुकुन्दका जप करो। मुकुन्दके बिना यह जीवन नग्न है, अरक्षित है। वह मुकुन्द ही मुक्तिका दाता है, वही मुकुन्द हमारा माता-पिता है। मुकुन्द ही जीवन, मुकुन्द ही मरण। मुकुन्दके सेवकको सदा आनन्द ही आनन्द है। मुकुन्द, केवल मुकुन्द ही हमारे प्राण हैं। मुकुन्दका जप ही हमारी बुद्धिकी सीमा है। मस्तकपर मुकुन्दकी रेखा-तिलक निशानी मुहर लग गयी है। वैराग्यवान् पुरुष मुकुन्दकी सेवा करता है। मुकुन्द ही दुर्बलका बल, दरिद्रका धन और भक्तके लिए सर्वस्व-लाभ है। जब मुकुन्द केवल मुकन्द मेरा हित कर रहा है तो संसार मेरा क्या बिगाड़ सकता है? मेरी जाति, व्यक्ति सब कुछ मुकुन्दकी दरबारी हो चुकी है। हे मुकुन्द! अब तुम्ही मेरे योग-युक्ति हो। ज्ञान प्राप्त हो गया। प्रकाश हो गया। तुमने कृपा करके इस क्रीतदासको स्वीकार किया। रविदासका कहना है कि अब तृष्णा छूट गयी, मकुन्दका जप करके मैं अब उसकी सेवा करता हूँ।

मुकन्द मुकन्द जपहुँ संसार।
बिनु मुकन्द मुकति कै दाता, सोइ मुकन्दु हमरे पितु-माता॥ १॥
जीअत मुकन्दे मरत मुकन्दे, ताके सेवक कउ सदा अनन्दे।
मुकुन्द मुकुन्द हमरे प्रानं, जपि मुकन्द मसतकि नीसानं।
सेव मुकन्द करै बैरागी, सोइ मुकन्दु दुरबल धनुलाधी॥ २॥
एक मुकन्दु करै उपकारू, हमरा कहा करै संसारू।
मेरी जाति हुए दरबारी, तुही मुकन्द जोग जुगतारी॥ ३॥
उपजिओ गिआनु हुआ परगास, करि किरपा लीने कीरदास।
कहु रविदास अब त्रिसना चूकी, जपि मुकन्द सेवा ताहू की॥ ४॥

उस रैदासी भक्तने मुझे अपना नाम-ग्राम कभी नहीं बताया। दिनमें कभी चलते-फिरते दीख जाता तो, रास्ता छोड़कर अलग चला जाता। बोलता तो किसी से था ही नहीं। मुझसे भी कभी लोगोंके सामने बात नहीं की। लोग समझते कोई सनकी है। उसके खाने-पीने-रहनेका कोई ठौर-ठिकाना लोगोंको मालूम नहीं था। वस्तुतः लोग अपने-अपने रङ्गमें मस्त डोलते हैं। कौन किनकी परवाह करता है?

श्रीमद्भागवतमें ऐसे कई वचन मिलते हैं। जिसमें भक्तकी महिमासे श्वपच भी श्रेष्ठतम हो जाता है—ऐसा वर्णन है—'भक्ति प्रारब्धको भी बदल देती है। भक्ति, भक्तिमान श्वपचको बिना यज्ञ किये ही यज्ञका फल मिल जाता है। बाहर गुणोंसे युक्त यदि ब्राह्मण, भक्त न हो तो भक्तियुक्त चाण्डाल भी उससे श्रेष्ठ है। भगवन्नाम जिसकी जीभके अग्रभागपर रहता है, वह श्वपच सबसे श्रेष्ठ है। उसको तपस्या, होम, वेदाध्ययन, वेदानुवचन सबका फल मिल जाता है। भागवत-धर्मका आविर्भाव ही भगवान्‌की सारी सृष्टिके कल्याणके लिए हुआ है। सभी पुत्रोंको पिताकी गोदमें बैठनेका अधिकार है।' वह अज्ञातनामा भक्त सचमुच एक विलक्षण भक्त था! उसकी आँखोंसे प्रेमका रस छलकता था। उसकी वाणीमें मधुरता थी। चेष्टामें कोमलता थी। शरीरसे भक्तिकी एक उन्मुक्त धारा प्रवाहित होती रहती थी। वर्ष-दो-वर्षके बाद, बहुत दिनोंतक उस भक्तके दर्शन नहीं हुए। मैंने सोचा कहीं चला गया होगा या मर गया होगा। लेकिन मैंने बहुत वर्षोंके बाद देखा—वृन्दावनकी गलियोंमें प्रेमोन्मादसे भरकर छलकते हुए आनन्दको बिखेरता हुआ वह गा रहा था, नाच रहा था। उसको कोई नहीं पहचानता था पर, मैं पहचानता था। अब वह कृष्ण-प्रेमके रङ्गमें डूब चुका था। उसे न कहीं मन्दिरमें जानेकी आवश्यकता थी और न किसीसे मिलनेकी। भगवान्‌के सिवाय और किसीको वह पहचानता नहीं था और दूसरा कोई भी उसको पहचानता नहीं था। तीस वर्ष पहलेकी घटना है। अब वह कहीं है या नहीं—इसके बारेमें मैं कुछ नहीं कह सकता।

❋

मथईपुर के बाबा

भोजनके समय उन्होंने भाभीसे नमक माँगा। भाभी खीजकर बोली—'तुम बीस बरसके हो गये, कमाकर कुछ लाते नहीं, जब देखो तब गुड़ या नमक माँग बैठते हो।' युवक प्रताप भोजनपरसे उठकर खड़ा हो गया। बोला—'भाभीजी! अब मैं घरमें भोजन तभी करूँगा जब कमाकर लाऊँगा। उस युवकका गाँव वाराणसीसे तीन कोस दूर था।

अबसे सौ वर्ष पहलेकी बात है। वह युवक वाराणसीसे चल पड़ा। जैसे-कैसे बम्बई पहुँच गया। तब बम्बई अब जैसा गुलजार शहर नहीं था। भूलेश्वरके आस-पास अच्छा बाजार था। उसने दिन भर काम पानेका प्रयास किया। रातको भूखे शिव मन्दिरमें सो गया। एक दिन, दो-दिन। तीसरे दिन रातके समय एक लंगोटी लगाये काला-सा व्यक्ति हाथमें मिठाईका दोना लिए हुए आया और बोला—'तुम भूखे हो, इसे खा लो। कल तुम्हें काम मिल जायेगा। धन मिले तो अपना मत समझना।' वह कोई महात्मा था। चुपचाप वहाँसे कहीं चला गया।'

युवकको एक हलवाईने खाने-पीनेवाले ग्राहकोंको पानी पिलानेके लिए नौकर रख लिया। कुछ ही महीनोंमें युवक पार्टनर हो गया। वर्ष पूरा होते-न-होते वह हलवाईके उत्तराधिकारीके रूपमें मालिक बन गया। हलवाईकी मृत्यु हो गयी। उसका दूसरा कोई न था।

युवकके मनमें आया, अब भाभीजीको कुछ भेजना चाहिए। पाँच-पाँच हजारके दो ड्राफ्ट भेज दिये, परन्तु डाकसे भेजनेके पहले वह बीमार पड़ गया, मरणासन्न हो गया। वही महात्मा दिनमें आये। बोले—'क्यों अपना मान लिया न? संसारकी वस्तुओंको अपनी मानना ही मृत्यु है। वस्तुएँ तो अपनी होती नहीं 'मैं' मर जाता है।' महात्माने आगे कहा—'तुम तीन दिनके भीतर दूकानका सब कुछ

गरीबोंको बाँट दो, नहीं तो मर जाओगे।' युवकने वैसा ही किया। तीसरे दिन लंगोटी लगाकर महात्माजीके साथ-साथ चलने लगा। कटनीके पास वैलोरकी गुफातक यात्रा हुई।

महात्माने युवकको गुफामें बन्द कर दिया। स्नान-भोजन, लघुशंका-शौच सब इसके भीतर करो। जबतक मैं आज्ञा न दूँ, सूर्यका दर्शन नहीं करना। ग्यारह वर्षतक महात्माजी उसे जल-अन्न ले आते, टट्टी बाहर फेंकते। ग्यारह वर्षतक उसको यह भी ज्ञात नहीं हुआ कि मैं इस गुफासे बाहर कभी निकलूँगा भी या नहीं। सारी वासनाएँ मिट गयीं। सङ्कल्प चूर-चूर हो गये। ममताका कोई विषय नहीं था। अहंता गुरुके प्रति शरणागत थी। सारे प्रतिबन्ध नष्ट हो गये। अवरोधके बाँध टूट गये। चिन्तनकी एक प्रबल धारा फूट निकली। उस धारामें इदम्-रूप जगत्का लोप हो गया। अहम्-रूप जीव सब आवरणोंसे मुक्त हो गया। परमात्मासे एक हो गया। विषयका भान नहीं। इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं। वासनाएँ शान्त। वृत्तियाँ अचल। आत्मा परमात्मासे अभिन्न। यह दशा प्राय: बनी रहती।

ग्यारह वर्षके बाद, अनिच्छित ही बाहर निकलनेकी आज्ञा हुई। सूर्य-दर्शन हुए। पेड़-पौधे, पहाड़-झरने यह चलते-फिरते-फुदकते प्राणी आँखोंके सामने आये। महात्माजीने आज्ञा की—'अब विचरण करो।' वे वाराणसीके पास अपनी जन्मभूमिके गाँवमें आये। गाँवके बाहर, कुएँके पास, खपरैलकी एक कुटिया बना दी गयी, उसीमें रहते थे। डेढ़ छटाँक तौलकर प्रतिदिन खाया करते थे। शरीर कृश हो गया था। दस बजे दिनसे छह बजे प्रात: तक कुटिया बन्द रहती थी। न शौच न लघुशंका। प्रात: छह बजेसे दस बजेतक कुटिया खुलती और उसीमें नित्यकर्म, सत्संग और भोजन होता। ऊनकी लंगोटी पहनते थे। कम्बलपर सोते थे। नींद लेनेका अभ्यास छूट गया था। स्वभाव बालक-सरीखा।

जब हमलोग उनका दर्शन करने जाते थे, सर्वथा बालक या ठीक-ठीक कहें तो वानरके जैसा उनका स्वभाव था। बात करते-करते छलांग भरते हुए दौड़ जाते। उछलकर पेड़पर चढ़ जाते, डालपर चढ़कर दोनों पाँव लटका लेते, पत्ते तोड़कर खिलौने बनाते, सीटी बजाते। दर्शनार्थियोंसे खाने-पीने-ठहरनेकी बात नहीं करते। संसारकी चर्चा उन्हें पसन्द नहीं थी। उनके मुखसे सुनी हुई कुछ बातें मैं आपको सुनाता हूँ। 'इच्छाएँ अपने आप होती हैं। उन्हें करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अच्छे संस्कार होंगे तो अच्छी इच्छा और बुरे संस्कार होंगे तो बुरी इच्छा। न कुछ करनेकी स्थितिमें भी इच्छाओंका उदय हो जाता। इसलिए इच्छा साधन नहीं हो सकती। विचार किया जाता है एक विशेष

लक्ष्यको ध्यानमें रखकर। विशेष प्रणालीसे विचार किया जाता है, इसलिए वह साधन होता है। विचारमें लक्ष्यका महत्त्व होता है। किस वस्तुका विचार कर रहे हैं? धनका? जनका? भवनका? यह सब संसारी विचार हैं। भोग्य-विषयका, कर्त्तव्यका, गमनागमनका, यह सब संसारी विचार हैं। विचार घड़ेका नहीं, माटीका होना चाहिए। कार्य जगत्का नहीं, उपादान वस्तुका होना चाहिए। मोती सुन्दर है, उसका अलंकार बनता है। पानी मधुर होता है। दोनोंसे दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं, परन्तु तत्त्व-दृष्टिसे दोनों जल ही हैं। घर जलानेवाली आगसे दुःख होता है, ठंड मिटानेवाली आगसे सुख होता है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे दोनों आग ही हैं। शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु सुखद है, आँधी-तूफानकी तेज वायु दुःखद है, परन्तु तत्त्व-दृष्टिसे दोनों वायु ही है। अपने प्रयोजनके अनुसार वस्तुमें अलगाव करना मिथ्या विकल्प है। अपने स्वार्थ-भोग एवं प्रयोजनकी उपेक्षा करके वस्तुके असली स्वरूपका चिन्तन परमार्थकी ओर ले जाता है। स्त्री-पुरुषके शरीर अलग-अलग हैं, प्रयोजन भी अलग-अलग हैं, परन्तु दोनों पञ्चभूतसे बने हुए हैं, दोनोंका आत्मा एक है। एकत्वका चिन्तन वासनाओंके प्रवाह और वेगको शिथिल कर देता है। 'यह' बदलता रहता है, 'मैं' एक रहता है। 'मैं' सुखी, 'मैं' दुखी यह 'मैं' भी बदलता रहता है; परन्तु 'मैं' का साक्षी एक रहता है। शरीरके भीतर और बाहर भी स्थान बदलते रहते हैं। अवस्थाओंमें बदलते हैं। इन्द्रियोंके विषय भी परिवर्तनशील हैं। देश-काल-वस्तुके परिवर्तनमें भी अपरिवर्तनशील आत्मा एक है। एक भी कैसा? जिससे दो न बने। एक भी कैसा? जिसके अनेक भाग न हो सकें। एकके स्थानपर अद्वय शब्द अधिक उपयुक्त है। अद्वय वस्तु आत्मा ही है। यदि आत्मासे अन्य हो अद्वय तो वह विषय, जड़, प्रत्यक्ष एवं परस्पर विरुद्ध हो जायेगा। अन्यथा परोक्ष कल्पित होगा। अद्वय अपने आत्माके रूपमें ही अद्वय रह सकता है। द्वैत आत्मसत्ताके समान सत्तावान नहीं है। आत्मसत्ता स्वप्रकाश चेतन है—अन्यसत्तापर प्रकाश जड़ है। इस प्रकार आत्मानुकूल चिन्तन करनेसे आत्मज्ञानके सब प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं। यह चिन्तन दस-पाँच मिनटका भी सर्वोत्तम है। घण्टे-दो-घण्टे यह धारा बहती रहे, तब तो कहना ही क्या? समाधि और भावमें अज्ञान-निवृत्तिकी शक्ति नहीं है। समाधिमें वृत्ति नहीं तो निवर्तक कैसे हो? भाव तो भासमान प्रत्यक्षके विरुद्ध होता ही है। इसलिए संसारसे संसार-बन्धनकी मुक्तिके लिए लक्ष्यानुसारी चिन्तनकी धारा प्रवाहित होना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न शब्दोंका या एक शब्दका बार-बार उच्चारण

करना जप है। वह विचार या भावके जागरणमें सहायक होता है। शब्दके अर्थका ज्ञान न हो तो उससे लय होता है, लक्ष्यका साक्षात्कार नहीं। अतः जपमें भी अर्थका चिन्तन होना चाहिए।

उदाहरणार्थ कोई 'ॐ' का जप करे तो जपके समय तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर, तीन देवता, त्रिपुटी इन सबको नीचे छोड़कर ऊपर अमात्रमें स्थित होना पड़ता है। शरीरमें भी तीन प्रणव देखनेमें आते हैं—कमरतक एक प्रणव, कन्धेतक दूसरा प्रणव और भौंहों सहित सिरतक तीसरा प्रणव। पहला दूसरेमें और दूसरा तीसरेमें लय होता है। तीसरेके लयका साक्षी है द्रष्टा। जबतक मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, यह द्रष्टा भी परिच्छिन्न ही रहता है। ॐका जप करें तो उसके अर्थके चिन्तनकी धारा ऐसी बहे कि उच्चारण विस्मृत हो जाये।

वेदान्तकी दृष्टिसे ओंकारके उच्चारण, लयमें परमेश्वरकी भावना मुख्य नहीं है। उसके द्वारा सांकेतिक अर्थका चिन्तन ही प्रधान है। अकार माने जाग्रत् अवस्थाकी उपाधिसे उपहित चेतन। जाग्रत् अवस्था अर्थात् सकारण पाञ्चभौतिक सृष्टि। जितना इसका घेरा है—उतने बड़े चेतनको विश्ववैश्वानर कहते हैं। वस्तुतः वह विराट् चैतन्य ही है। वैश्वानर चैतन्यको विराट् चैतन्यमें लीन नहीं करना है प्रत्युत दोनोंकी एकता समझना है। भ्रमसे भेद है, ज्ञानसे एकता। इसीको अकारके द्वारा समझाया जाता है।

स्वप्नावस्थाकी उपाधिसे उपहित चेतनको तैजसहिरण्यगर्भ कहते हैं। सूक्ष्म समष्टिके बराबर जितना चैतन्य है उसीका वह नाम है। उकारके द्वारा उसीका संकेत किया जाता है। जैसे स्वप्नका दृश्य द्रष्टाकी दृष्टिका विलास है, वैसे ही जाग्रत् सृष्टि जाग्रत् द्रष्टाका विलास है। विलासमें भेद भले हो, द्रष्टामें भेद नहीं है। एक शरीरके जाग्रत्को जाग्रत् नहीं कहते। जिस प्रकार स्वप्नके सारे शरीर, पञ्चभूत, स्वर्ग-नरक, देवता-ईश्वर सब स्वप्न ही हैं, वैसे ही जाग्रदवस्थाके भी दृश्य दृश्य ही हैं, अवस्था चाहे कोई भी हो। द्रष्टा-द्रष्टा ही है, अवस्था चाहे कोई भी हो। यह सब अर्थ उकारके द्वारा संकेतित होता है।

सुषुप्ति अवस्थामें व्यष्टि-समष्टिका भेद प्रतीत नहीं होता। इसलिए सुषुप्ति और महाप्रलयमें कोई भेद नहीं है। सुषुप्तिकी उपाधिसे उपहित जो चैतन्य है, उसे प्राज्ञ ईश्वर कहते हैं। उसमें न विषय है, न कर्म है, न प्रमाण है, न भेद है। उस अवस्थाकी उपाधिसे उपहित चेतनको मकारके द्वारा संकेतित किया जाता है। उपाधियाँ तीन भासती हैं, इसलिए तीन संकेत बना दिये गये हैं। जैसे विषयका विभाजन करनेके लिए अ, ब, स अथवा क, ख, ग की संज्ञा बना दी जाती है, वैसे

ही तत्त्वके काल्पनिक विभाजनके लिए यह संकेत या संज्ञाएँ बना दी गयी हैं। गुरु-शिष्यके परस्पर वार्तालापके लिए यह एक शैली है। इसमें यथार्थता कुछ नहीं है। यह साधन-पाद है, वस्तु-पाद नहीं।

जब औपनिषद ज्ञानके द्वारा अज्ञान भ्रमका निराकरण होकर आत्म-रूपसे परम तत्त्वका अनुभव होता है, तब मात्राओंकी कल्पना नहीं रहती, उनका बाध हो जाता है। चिन्तनकी इस धाराके द्वारा न कुछ बनता है, न कुछ मिटता है। प्रतीति ज्यों-की-त्यों रहती है। जैसी अज्ञानकालमें वैसी ही ज्ञानकालमें। प्रबल वेगवती चिन्तनकी औपनिषद धारा केवल भ्रमको मिटा देती है। कभी पहली तरंगमें ही तो कभी कई तरंगोंकी चोटसे भ्रमकी निवृत्ति होती है। भ्रम-निवृत्तिके सिवाय आत्मतत्त्व या प्रतीतमें कोई परिवर्तन नहीं होता। निर्माण-विभाग सब श्रम है। मानस या ऐन्द्रिय निर्माण-विभाग केवल दृश्य विषयक हैं। महावाक्यसे भी तत्त्व, विषय नहीं हो जाता, केवल भ्रमनिवर्तक होनेसे ही महावाक्यको प्रमाण कहते हैं। प्रमाण विषयज्ञापक नहीं, अविद्या-निवर्तक है, यही वेदान्त विद्याकी विशेषता है।'

महाराज छह बजे प्रात:से दस बजे दिनतक ही मिलते थे। इसीमें उनका स्नान, खान-पान और सत्संग भी सम्मिलित था। कभी हमलोगोंके साथ पेड़की छायामें धरतीपर बैठ जाते, कभी उछलकर पेड़पर चढ़ जाते, दोनों पाँव लटकाकर डालीपर बैठ जाते, वानरोंकी-सी चेष्टा करते। स्वभाव बड़ा खिलाड़ी था, हँसाते भी कम नहीं थे। उनसे मिले अब चालीस वर्षसे अधिक हो चुके हैं। उनके द्वारा सुने हुए एक-दो संस्मरण इस प्रकार हैं।

: १ :

वे पंजाबमें अकेले विचर रहे थे। कमरमें लंगोटीके सिवाय और कोई वस्त्र नहीं था। शरीरकी अवस्था ३५-४० के लगभग थी। एक स्त्रीने भोजनके लिए आमन्त्रित किया। वे भोजनके समय उसके घरपर पहुँच गये। वहाँ दूसरा कोई नहीं था। स्त्रीने बड़े प्रेमसे उन्हें भोजन कराया। कहने लगी—अभी दोपहरका समय है, धूप है, आप विश्राम करके जाइये; परन्तु उन्होंने अकेली स्त्रीके साथ घरमें रहना स्वीकार नहीं किया। उसने भीतरसे घरका द्वार बन्द कर लिया। पहले तो प्रेमसे बहुत अनुनय-विनय किया, बादमें पिस्तौल निकाल लिया। वह कहने लगी—मेरी इच्छा पूरी करो, नहीं तो मैं चिल्ला पड़ूँगी कि ये मेरे साथ बलात्कार करना चाहते हैं। महात्माजी सन्न रह गये। क्षण भर रुककर मुस्कराये। बोले—तुम्हारी इच्छा पूरी हो। जाकर पलंगपर बैठ गये। स्त्रीको कहा—मुझे पीनेके लिए पानी चाहिए। जब

वह पानी लेनेके लिए बाहर गयी, तो उन्होंने दरवाजेपर टट्टी कर दी और अपने शरीरपर लपेट लिया। जब वह पानी लेकर आयी तब शरीरमें गन्दगी लपेटे हुए ही बोले—आओ! उसके हाथसे गिलास छूटकर गिर पड़ा। महात्माजी बोले—अब या तो चिल्लाकर लोगोंको इकट्ठा करो या फिर पिस्तौलसे गोली मार दो। उसने डरकर घरका द्वार खोल दिया। तत्कालकी सूझ-बूझसे काम बन गया। ऐसे व्यक्तिको ही प्रत्युत्पन्नमति कहते हैं।

: २ :

मध्य-प्रदेशमें एक बड़ी रियासत थी। वहाँ एक महात्मा जेलमें डाल दिये गये थे। वे स्वयं तो गाँजा नहीं पीते थे, परन्तु उनके फूलके बगीचेमें गाँजेके पौधे लगे हुए थे, यही उनका अपराध था। जब हमारे महात्माजीको मालूम पड़ा तो वे अकेले ही सैकड़ों मीलकी यात्रा कर वहाँ पहुँच गये। राजाके उद्यानमें जाकर बैठ गये। शरीरपर लँगोटीके सिवाय और कुछ नहीं। धूलसे लथपथ। राजा आये टहलने। उनके साथियोंने जाकर महात्मासे कहा : 'तुम यहाँसे हट जाओ, राजा साबह आ रहे हैं।'

वे वहाँसे हटनेको तैयार नहीं हुए। राजा साबह टहलते हुए पास आ गये।

उन्होंने महात्माजीसे पूछा : 'तुम कौन हो?'

महात्माजी बोले : 'मैं तुम्हें क्या दीखता हूँ?'

राजाने कहा : 'मनुष्य।'

महात्माजी : 'तुम चमार हो।'

राजाके साथियोंको बहुत बुरा लगा। उन्हें वहाँसे निकालने लगे। कुछ आपसमें खींचातानी हुई। महात्माजी गाली देने लगे। पहरेदार पकड़कर थाने ले गये। डिप्टी कलेक्टरके सामने पेश किये गये।

डिप्टी कलेक्टरने पूछा : 'महात्माजी! आपने राजाको चमार क्यों कहा?'

महात्माजी : 'उसने चाम पहचानकर ही तो मुझे मनुष्य कहा था, जो चाम पहचाने सो चमार। शरीर जो 'आत्मा' नहीं है।'

डिप्टीको सत्संगका संस्कार था। उसने कुर्सीपर बैठा लिया और प्रश्नोत्तर करना प्रारम्भ कर दिया। अन्तमें उसने पूछा।

'महात्माजी यह सब गड़बड़ आप क्यों कर रहे हैं? क्या चाहते हैं?'

महात्माजीने कहा : 'एक अच्छा साधु जेलमें पड़ा हुआ है, मैं उससे मिलना चाहता हूँ। मुझे जेल भेज दो तो उसके साथ कुछ दिन रह जाऊँगा।'

डिप्टीने राजासे कहकर साधुको जेलसे छुड़ा दिया। दोनों महात्मा मौजसे

हँसते हुए चले आये। अपने मित्रको जेलखानेसे छुड़ाने और उससे मिलनेके लिए उन्होंने कितना कष्ट उठाया।

वे कहा करते थे—

प्रत्येक हड्डी शिवलिंग-रूप है। हड्डियोंसे ही शरीरकी संघटना हुई है। अत: यह शरीर भी शिवमय ही है। जैसे पिता, गुरु, पति आदिमें परमेश्वर-बुद्धि करके उनकी सेवा करता है, सुश्रूषा की जाती है, अपने शरीरमें भी शिव-बुद्धि करके इसको पवित्र जल-फल-फूल-मूल अर्पण करना चाहिए। इसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। शरीर न केवल शिवकी अभिव्यक्तिका स्थल है, प्रत्युत शिवरूप ही है। हड्डीका प्रत्येक टुकड़ा श्वेतवर्ण लम्बा शिवलिंग ही है। सिर आदि अवयव भी शिवरूप ही हैं। वस्तुत: समग्र सृष्टि शिवात्मक है।

यदि ध्यानपूर्वक देखें तो शरीरके अवयवोंका प्रत्येक मोड़ 'रेफ' रूप है। जहाँ-जहाँसे शरीर मुड़ता है, वहाँ-वहाँ 'र' अक्षर बन जाता है। यह 'राम' का 'र' है। देदीप्यमान अग्नि-बीज 'र' का समूह है। इसमें पाप-तापके संहारकी सम्पूर्ण शक्ति है। इसमें हीन-बुद्धि न करके मन्त्र-मूर्ति ही समझना चाहिए।

पाप और पुण्यका विभाग प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं होता। यह शास्त्रैकगम्य है। उनकी निवृत्ति भी शास्त्रगम्य ही है। कोई भगवान्‌का नामोच्चारण करता है तो शास्त्रके अनुसार प्राप्त पापकी शास्त्रके अनुसार निवृत्ति हो जाती है। शास्त्रके अनुसार भगवन्नामोच्चारणसे पापकी निवृत्ति हो जानेपर भी अथवा आत्माकी निष्पापताका ज्ञान हो जानेपर भी अपनेमें पापीपनेका अभिमान धारण करना अविश्वास और भ्रमकी प्रबलताका ही लक्षण है। एक बार अपने स्वरूप अथवा भगवान्‌की ओर उन्मुख होनेपर अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दु:खी या स्वर्गीय-नाटकीय माननेका कोई कारण नहीं रह जाता। जो वस्तु तृण-कणसे भी क्षुद्र है और क्षणमात्रमें ही निवृत्त होने योग्य है, उसका पहाड़के समान बोझ अपने सिरपर बनाये रखना उचित नहीं है। केवल अविचारमें ही अशान्ति है, विचारकी धारा बह निकलनेपर सारी अशान्ति मिट जाती है।

❋

मोकलपुरके बाबा

मैं केवल एक अर्थमें भाग्यवान् हूँ। जबसे होश सँभाला तबसे मैं किसी-न-किसी सन्तकी छत्रच्छायामें ही रहता आया हूँ। सन्तोंकी मुझपर कृपा रही है। उन्होंने मुझे अपना समझा है। आज जिस सन्तके सम्बन्धमें मैं लिखने जा रहा हूँ उनका मुझपर बड़ा स्नेह रहा है और मैं बहुत दिनोंतक उनके सम्पर्कमें रहा हूँ। यह ठीक है कि मैं उनके संगसे बहुत अधिक लाभ नहीं उठा सका, फिर भी मेरे हृदयमें उनकी जो पवित्र स्मृति है, वह एक-न-एक दिन मुझे पवित्र बना देगी, इसमें सन्देह नहीं।

सन् ३०के लगभगकी बात है। मैंने सुना, काशीमें ६-७ कोसकी दूरीपर गंगाकिनारे एक सिद्धपुरुष रहते हैं, उनकी कुटिया जिस स्थानपर है, उसे गंगाजी चारों ओरसे घेरे रहती हैं। वे किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। कोई दुखिया, रुग्ण उनके पास आता है तो उसके लिए कुछ खरपात उठाकर दे देते हैं और वह भला चंगा हो जाता है। यद्यपि उन दिनों मेरे मनमें सिद्धियोंके प्रति कोई आस्था नहीं थी, फिर भी उनकी सिद्धियोंकी बात सुनकर मैं आकर्षित हुआ और अपने एक मित्रके साथ दर्शनार्थ यात्रा की। पहली बार वे अपनी कुटियापर नहीं मिले। कई गाँवोंमें घूमनेके बाद गंगाकिनारे एकान्त स्थानमें बैठे हुए वे मिले। उनकी बातोंसे मालूम हुआ कि वे हमारी परेशानी देख रहे थे और हमें दर्शन देनेके लिए ही वहाँ ठहर गये थे। उन्होंने ग्राम्य भाषामें हमसे कहा—'भगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है। देखो! इस शरीरको कहाँ-से-कहाँ लाकर पटक दिया। तुम्हें भी न जाने कितना घुमाकर मेरे पास पहुँचाया। क्या तुम सीधे मेरे पास नहीं आ सकते थे?' इसमें भी कुछ रहस्य होगा, इसमें

भी उनकी कुछ लीला होगी! उस दिन वहीं कुछ किसान दही लेकर आ गये और बाबाने हम दोनोंको खूब दही खिलाया। यह उनका पहला स्वागत था। उन्होंने कहा—'अच्छा अब जाओ, कभी फिर मिलेंगे!'

दूसरी बार हम तीन मित्र गये। रास्तेमें मेरे मनमें अनेकों प्रकारके विचार उठ रहे थे। मैं सोचता जा रहा था कि मुझे सिद्धियोंकी आवश्यकता है नहीं और बाबा उपदेश करते नहीं, तो फिर उनके पास जानेकी मुझे क्या आवश्यकता है? परन्तु यह सोचनेके समय भी बाबाका ज्योतिर्मय मुखमण्डल और सौम्य स्वभाव मेरी आँखोंके सामने नाच जाता। मैं किसी दिव्य आकर्षणसे खिंचा हुआ-सा उनकी ओर चल रहा था।

इस बार बाबाने जाते ही उपदेश शुरू किया। उन्होंने कहा—'तुम भगवान्‌को निराकार मानो तो निराकार, साकार मानो तो साकार। निराकारके संकल्पसे एक बूँद जलकी सृष्टि हुई अथवा साकारके पसीनेसे एक बूँद जल निकला। उसीसे सारे संसारकी सृष्टि हुई। उसे कोई 'मूल प्रकृति' कहते हैं, कोई 'कारणवारि' कहते हैं और मैं 'गंगाजी' कहता हूँ। वह जल स्वयं कफ है, उसमें जो गति है वह बात है और उसका थक्का ही पित्त है। इन्हीं तीनों धातुओंसे इस सृष्टिका निर्माण हुआ है। वास्तवमें तो यह सब नाम-रूप गंगाजीके ही हैं।'

'गंगाजीमें ही घास और मांस और दोनोंकी सृष्टि हो रही है। गंगाजी ही मिट्टीसे घास बनती हैं और घास, वनस्पति, औषधियोंके द्वारा मांस बनता है। मांसमय सब शरीर हैं, मांस गलकर मिट्टी बन जाता और मिट्टी पुन: घासके रूपमें परिणत हो जाती है। यह क्रम बहुत दिनोंसे चल रहा है, यह सब गंगाजीमें गंगाजी ही बनती हैं और वह 'बाँगर' अलग बैठकर यह सब खेल देखता रहता है. बाबाजी प्राय: ईश्वरको 'बाँगर' कहा करते थे। वे इसकी व्याख्या भी करते थे। कहते थे—'जो अपने-आपमें अपने-आप ही सन्तुष्ट है उसे उतनी उपाधि बनानेकी क्या आवश्यकता थी? बिना मतलब इतना जंजाल बढ़ा लेना उसका बाँगरपन है।' वे हँसकर पूछते—'क्या मेरा बाँगर कहना अनुचित है? यह सब जो कुछ दीख रहा है सब गंगाजी ही हैं, ये भिन्नताएँ गंगाजीकी बनायी हुई हैं। इन्हें गंगाजीसे पृथक् देखना अज्ञान है। हम सब गंगाजीमें ही पैदा होते हैं, गंगाजीमें ही रहते हैं, खेलते-खाते हैं। गंगाजीकी गोदमें सो जाते हैं—समा जाते हैं। तुम गंगाजीको सोचो, गंगाजीको जानो, फिर अपनेको जान जाओगे और सबको जान जाओगे।'

'रोज देखते हो, पञ्चभूतोंकी सृष्टि कैसे होती है? तुम एक आसनपर शान्त बैठे हो। मैं इसे आकाशका रूपक देता हूँ। अब तुम किसी अनिवार्य कारणसे दौड़

पड़ो। इसे हम वायु कहेंगे, दौड़नेसे जो गर्मी होगी वह अग्नि है। गर्मीसे जो पसीना होगा वह जल जमकर मैल बन जायेगा—मिट्टी बन जायेगा। यह तुम्हारा रोजमर्राका अनुभव है। परन्तु तुम कभी सोचते नहीं, ऊपर-ही-ऊपर तैरते रहते हो। देखो तो सही, तुम सृष्टिका रहस्य चुटकी बजाते-बजाते समझ जाओगे।'

उनके उपदेशकी भाषा विलक्षण ही होती थी। गाँवकी गँवार भाषामें ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वकी बात कह डालते थे। उनकी भाषाके व्याकरणमें मध्यम और उत्तम पुरुषके लिए स्थान नहीं था, केवल अन्य पुरुषका प्रयोग करते थे। कभी कोई बात जोर देकर कहनी होती तो खड़ी भाषा भी बोल जाते थे। परन्तु वही अन्य पुरुष वहाँ भी रहता था, 'मैं करता है, तुम बोलता है' ऐसा ही प्रयोग करते थे। वास्तवमें उनके लिए संसारके सब क्रिया-कलाप, कर्त्ता-भोक्ता अन्य हो गये थे अथवा आत्मा हो गये थे, जहाँ केवल एक ही प्रकारसे बोला जा सकता था।

हम लोग बार-बार उनके पास जाते रहे और वे हर बार प्राय: कुछ-न-कुछ उपदेश करते रहे। कभी हमारे सिरपर फूल चढ़ाकर हाथ जोड़ते, तो कभी इतना तिरस्कार करते कि एक क्षण भी कुटियापर बैठनेके लिए स्थान न मिलता। हम ऐसा अनुभव करते कि उनका हमपर अपार स्नेह है।

कभी-कभी वहाँ बैठे-बैठे मनमें भोजनकी बात आ जाती है और यदि वह वस्तु उस ऋतुमें मिलने योग्य न होती तो भी कोई-न-कोई लेकर उसी समय आ जाता और वह हमें मिल जाती। यह मेरा निजी अनुभव है।

एक बार बाबाने कहा—'तुम लोग बार-बार मेरे पास आते हो, मैं भी तुम्हारे यहाँ चलूँगा।' दिन निश्चित हो गया, नावपर सवार होकर बाबा हमारे यहाँ आये और लगभग एक महीनेतक बराबर वहीं गंगातट पर रहे। हम सब भी रातदिन प्राय: वहीं रहते। हजार-हजार नर-नारियोंकी भीड़ होती, बाबा हँस-हँसकर घूमते और सबकी मनोकामना पूरी करते। उपदेशोंका तो ताँता लग गया था। कहते—'इस बार मैं बकासुर होकर आया हूँ, मुझसे चाहे जितना बकवा लो।' बड़े-बड़े विद्वान्, जमींदार, रईस आते, बाबाका सबके साथ समान व्यवहार होता। कोई फल-फूल लाकर रख जाता तो तुरन्त दर्शनार्थियोंमें बाँट दिया जाता। वे कहा करते थे—'आत्मा या परमात्मा जो कुछ है सो तो है ही, उसे पाना नहीं है। सोचो, यदि प्रयत्न करके बन्धन काटा जाय तो फिर बन्धन हो जायेगा। यदि साधन करके संसारको मिटाया जाय तो वह फिर पैदा हो जायेगा जब कुछ नहीं था, तो इतना प्रपञ्च फैला गया, जब तुम कुछ करोगे तब तो कभी मिटाये न मिटेगा। इसका बखेड़ा और भी बढ़ जायेगा। केवल जो तुमने अज्ञानवश संसारका

बन्धन बना रखा है उसे ज्ञानके द्वारा काट डालो। अज्ञानका ध्वंस होते ही ज्ञान भी अनावश्यक हो जायेगा। और तब तुम जान जाओगे कि बिना बन्धनके ही मैं अपनेको बद्ध मान रहा था। संसार और बन्धन तुम्हारी कल्पनाके भूत हैं। इन्हें रखकर चाहे इनसे डरते रहो, चाहे मुक्त हो जाओ।'

'भगवान् किसीसे दूर थोड़े ही हैं। वे सबके अपने हैं, सबको गोदमें लिये हुए हैं और सबकी गोदमें बैठे हुए हैं। जबतक तुम उन्हें पहचानोगे नहीं, उनसे अनजान बने रहोगे, तबतक उनके पास रहनेपर भी तुम उन्हें नहीं पा सकोगे। जब जान लोगे तब देखोगे कि वे प्रतिदिन नहीं, प्रतिक्षण हजारों रूप धारण करके तुम्हारे पास आते हैं और तुमसे खेलते हैं। क्या तुम भगवान्‌को पानेके लिए किसी घोर जंगल या पर्वतपर जाना चाहते हो? यदि तुम उन्हें यहाँ नहीं पहचानोगे तो वहाँ पहचान लोगे, इसकी कल्पना कैसे की जाय? पहले हृदयके मन्दिरमें उनका दर्शन करो, पीछे सब उनका हृदय ही हो जायेगा।'

भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना चाहिए। परन्तु क्या यह आत्मा भगवान्‌को समर्पित नहीं है? सम्पूर्ण प्रकृति, सम्पूर्ण प्रकृतिके विकार और सम्पूर्ण जीव भगवान्‌को समर्पित हैं। उनकी इच्छा, उनकी शक्ति और उनकी प्रेरणाके बिना एक तिनका भी नहीं हिल सकता। सब उन्हींके नचाये नाच रहे हैं। तब आत्मसमर्पणका अर्थ क्या है? बस, आत्मसमर्पणका इतना ही अर्थ है कि मैं असमर्पित हूँ—इस भावनाको समूल उखाड़ फेंका जाये। नाचते तो हैं भगवान्‌के नचाये, परन्तु मानते हैं कि हम स्वतंत्रतासे नाच रहे हैं। इस मान्यताको नष्ट करना होगा। यह मान्यता संसारके स्वरूपपर—अपने जीवनके स्वरूपपर विचार न करनेके कारण है। इसको समझे बिना निस्तार नहीं हो सकता। चाहे यह बात सद्गुरुसे समझी जाय या भगवान् स्वयं समझायें।

इस बार जो उपदेश बाबाने दिये थे वे किसी भी आध्यात्मिक साधकके लिए पूर्ण थे। न यहाँ उन बातोंके लिए स्थान है और न मुझे वे सब बातें पूर्णत: स्मरण ही हैं। उन दिनों वहाँ बहुत-सी आश्चर्यजनक घटनाएँ भी घटीं। मेरे गाँवके पासके ही मेरे एक मित्र, जो अभी जीवित और स्वस्थ हैं, उन दिनों पागल हो गये थे। लोग उन्हें पकड़कर ले आये और बाबाके सामने आते ही पाँच मिनटमें स्वस्थ हो गये। यह मेरी आँखों देखी घटना है। एक दिन अवर्षण होनेके कारण बहुत लोगोंने हठ करके बाबाको घाममें बैठा दिया और कहा कि जबतक वर्षा न होगी उठने नहीं देंगे। हम लोगोंने उनसे बहुत कुछ कहा, रोकनेकी चेष्टा की; परन्तु हमारी एक न चली। बाबा भी बैठ गये। एक घण्टेमें

ही सारे आकाशमें बादल छा गये और घमासान वर्षा हुई। एक दिन मुझसे कुछ अपराध हो गया था। उस बातको मेरे सिवा और कोई नहीं जानता था। जब मैं बाबाके सामने आया, उन्होंने खोलकर सब बातें कह दीं और मुझे तुरन्त गंगा-स्नान करके अघमर्षण करनेके लिए भेज दिया।

वे मोकलपुरमें ४० वर्षोंसे रहते थे। परन्तु किसीको पता नहीं रहा कि ये किस जातिके हैं? कहाँके रहनेवाले हैं? इनका आश्रम कहाँ है और नाम क्या है? जब बाबा मेरे गाँवके पास गंगातटपर ठहरे हुए थे तब हमारी जातिके एक प्रतिष्ठित वैद्य और दो-तीन शास्त्रियोंने उनसे यह बात जाननेका बड़ा आग्रह किया। यह बात थी कि मैं था ब्राह्मण, ये लोग यह नहीं देख सकते थे कि मैं किसी अब्राह्मणकी सेवा करूँ। परन्तु बाबाकी जाति-पाँतिका पता तो था नहीं, लोग तरह-तरहकी बातें करते थे। हम लोगोंने भी आग्रह किया कि बाबा अपने जीवनकी कुछ बातें बतायें।

बाबाने कहा—'इस विशाल सृष्टिमें एक व्यक्तिके जीवनका क्या महत्त्व है? रोज अगणित कीड़े-पतंगे पैदा होते हैं और मर जाते हैं। कईके तो एक ही दिनमें कई जन्म हो जाते हैं। वैसा ही एक कीड़ा मैं भी हूँ। मेरा जन्म और जीवन कोई वस्तु नहीं। मेरी कोई जाति-पाँति नहीं; मैं भगवान्‌का हूँ, सब भगवान्‌के हैं, जो सबकी जाति-पाँति है वही मेरी भी है। सबकी एक जाति है, सबकी एक पाँति है। मुझे ब्राह्मण-क्षत्रिय बनकर क्या करना है? जो तुम्हारी मौज हो समझो।' परन्तु इतनेसे किसीको सन्तोष नहीं हुआ। बहुत-से लोग पीछे पड़ गये। बाबाने हँसते हुए कहा—'अच्छा भाई आज यही सही, सुन लो इस कीड़ेकी जीवनी। यद्यपि शास्त्रोंमें 'आत्मचरितं न प्रकाशयेत्' कहकर ऐसा करनेका निषेध किया है, तथापि जब तुम लोग यही सुनना चाहते हो तो सुनो! बाबा बोलने लगे।

'विन्ध्याचल और प्रयागके बीच किसी गाँवमें मेरे माँ-बापकी जन्मभूमि थी। मेरे पिता सीधे और भगवद्भक्त थे। घरवालोंने उन्हें हिस्सा नहीं दिया, पागल समझकर घरसे निकाल दिया। मेरी माँ भी उन्हींके साथ चल पड़ीं। वे विन्ध्याचलकी धर्मशालामें रहते और भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करते। ब्राह्मण होनेके कारण वे किसीकी नौकरी करना ठीक नहीं समझते थे। कुछ दिनोंके बाद विन्ध्याचलकी धर्मशालामें ही मेरा जन्म हुआ। बारह वर्षतक उन्होंने भीख माँग-माँगकर मुझे पाला और फिर वे दोनों एक साथ ही इस संसारसे चल बसे। सांसारिक दृष्टिसे मैं अकेला—अनाथ होगया। भगवान्‌के अतिरिक्त मेरा कोई और रक्षक नहीं रह गया। भीखसे पला होनेपर भी मैं भीख माँगना बुरा समझता था।

विन्ध्याचलमें बहुत-से यात्री आते, मैं उनकी गठरी ढोकर पहुँचा देता, वे मुझे कुछ दे देते थे। इस प्रकार वर्षों बीत गये। एक दिन मैंने देखा कि साधुओंकी एक जमात काँवरमें जल भरकर रामेश्वरकी ओर जा रही है। उन दिनों रेल थी नहीं, सब पैदल ही जाते थे। मेरे मनमें भी इच्छा हुई कि चलूँ, रामेश्वर दर्शन कर आऊँ। परिवारका मोह तो था ही नहीं, लौटने-न-लौटनेका प्रश्न क्यों उठता? मैंने भी एक काँवर गंगाजल लिया और उनके स्थान चल पड़ा।'

'उनके साथ रामेश्वर आदि तीर्थोंमें वर्षोंतक घूमता रहा। एक बार नर्मदाकी परिक्रमा करते समय एक वृद्ध ब्रह्मचारीके दर्शन हुए। उन्होंने मुझे कृपा करके अपने पास रख लिया और विद्याध्ययनके साथ ही योगाभ्यास कराया। मैंने थोड़े ही दिनोंमें कुछ हिन्दी और संस्कृतकी योग्यता प्राप्त कर ली। निरन्तर जप होने लगा। विचारकी प्रवृत्ति बढ़ी और एकान्तमें मेरी वृत्तियाँ निरुद्ध रहने लगीं। सोलह वर्षतक अभ्यास करनेके पश्चात्‌श्रीब्रह्मचारीजीनेमुझे विचरण करनेकी आज्ञा दे दी। मैं भारतवर्षके प्राय: समस्त तीर्थोंमें घूम आया। इस यात्रामें मुझे अनेक प्रकारके अनुभव हुए। पापी-पुण्यात्मा, दुरात्मा-महात्मा, देवता-दानव—सभी प्रकारके लोग मिले। सबसे मैंने कुछ-न-कुछ सीखा। एक बार मुझे भगवती गंगाके दर्शन हुए; तबसे मैं पागल-सा हो गया और दिन-रात गंगा-गंगा चिल्लाता रहता। शरीरपर कपड़े हैं या नहीं इस बातकी मुझे सुधि नहीं रहती। ऐसा मालूम होता कि आद्याशक्ति जगन्माता भगवती गंगा ही हैं। मैं गंगाके किनारे स्मरण-ध्यानमें मस्त हो गया और उन्हींकी शरणमें विचरने लगा।'

'मोकलपुरका स्थान मुझे बहुत अच्छा लगा। वह चारो ओरसे गंगाके गर्भमें है। मुझे अपनी माँकी गोदमें रहना ही पसन्द आया और मैं चालीस-पचास वर्षोंसे मोकलपुरमें ही रह रहा हूँ। यहाँ आनेपर सन्त कच्चा बाबाकी मुझपर बड़ी कृपा हुई और अब मैं जैसा हूँ, जो हूँ, तुम लोगोंके सामने हूँ। भगवान्‌की सृष्टिमें जैसे अनेक प्राणी हैं वैसे ही एक मैं भी हूँ। जब तुम ऊँची चौकीपर बैठा देते हो तब मैं उसपर बैठ जाता हूँ। नहीं तो नीचे पड़ा रहता हूँ। मेरा अनुभव क्या है, यह सब भगवान्‌की ही लीला है, भगवान्‌की ही कृपा है। सब भगवान्-ही-भगवान् हैं।'

जब भीड़ अधिक बढ़ने लगी तब प्राय: बाबा जंगलमें भाग जाते थे और घण्टों विचरते रहते। बादमें तो भीड़से घबड़ाकर वे हमारे यहाँसे चले ही गये। अस्सी वर्षके लगभग अवस्था होनेपर भी उनके शरीरमें इतना बल था कि बड़े-बड़े नौजवान लड़के दौड़कर उन्हें छू नहीं सकते थे। उनका जीवन इतना नियमित था कि बिना घड़ीके ही सब काम समयसे होते रहते थे। शौच होकर वे विष्ठाको

मिट्टीसे ढँक देते थे। दोनों समय स्नान करते और जिधरसे हवा आती उधर ही बैठते। किसीके शरीरकी हवा अपने शरीरमें नहीं लगने देते थे। कोई बीमार आता तो उसकी चिकित्सा भी विलक्षण ही करते। कह देते कि अमुक-अमुक पाँच पेड़ोंको प्रणाम कर लो, अच्छे हो जाओगे। अमुक देवताकी सात बार परिक्रमा कर लो और अपने पुरोहितको ठूँस-ठूँसकर खिला दो, तुम्हारा रोग भाग जायेगा। किसीको कह देते कि पाप तो तुमने किया है, भोगेगा कौन?

एक मास्टर साहब अभी जीवित हैं। उन्हें दमाका इतना भयङ्कर रोग था कि वे बोल नहीं सकते थे। शरीर सूख गया था। चलने-फिरनेकी शक्ति नहीं थी। एक दिन वे किसी प्रकार बाबाके पास गये। बाबाने कहा कि 'अमरूद खाओ'। वे डर गये, काँपने लगे। बाबाने बलात् दो सेर अमरूद खिला दिये और उसके ऊपर बहुत-सा दही खिलाकर डण्डा लेकर उठे कि यहाँसे डेढ़ कोस तक दौड़ते हुए जाओ, नहीं तो तुम्हारे जानकी खैर नहीं है। उसी दिनसे उनका दमाका रोग भाग गया, वे आज भी स्वस्थ और एक स्कूलके मास्टर हैं और बाबाके गुण गाते रहते हैं। ऐसे अनेक प्राणियोंका कल्याण बाबाके द्वारा हुआ है।

एक बार बाबा हमारे यहाँ आये। इस बारका आना अंतिम आना था, फिर दूसरी बार आनेका मौका नहीं मिला। बाबा बार-बार मुझसे कहा करते थे कि उपदेशक नहीं बनना। मैंने एक पुस्तक लिखी थी संस्कृतमें। दो-ढाई सौ श्लोक थे, उसका नाम था 'तत्त्व-रसायन।' बाबाकी आँख उसपर पड़ी। बाबाने कहा—'इतने ग्रन्थ पड़े हैं उन्हें पढ़नेवाला कोई नहीं, अब यह नया भार क्यों बढ़ा रहे हो? तुम्हें कागज काला करनेका शौक तो नहीं है?' मैंने वह पुस्तक गंगाजीमें डाल दी और निश्चय किया कि अब कभी न लिखूँगा। परन्तु मेरे निश्चयसे क्या होता है, निश्चय तो किसी दूसरेका काम करता है। कौन जानता था कि मुझे ही बाबाके संस्मरण लिखने पड़ेंगे।

बाबाके पास बड़े-बड़े नेता, जैसे कि मालवीयजी, बड़े-बड़े विद्वान् जैसे कि कविराज गोपीनाथजी और बड़े-बड़े राजा-रईस दर्शनोंके लिए आया करते थे। सन् १९३७ के दिसम्बरकी बात है, बाबाने कहा—'एक यज्ञ होगा, पाँच दिनतक लगातार हवन होता रहेगा। बीचमें चाहे कोई भी विघ्न पड़ जाय, यज्ञ बन्द न होगा। यज्ञमें जो बचेगा, वह हिन्दू विश्व विद्यालय, काशीको दान दे दिया जायेगा और यदि मैं मर जाऊँगा तो कच्चाबाबाकी समाधिके पास ही मेरी समाधि दे दी जायेगी। यज्ञ प्रारम्भ हुआ, उसके दूसरे दिन बाबा सो गये और फिर नहीं उठे।'

अन्तिम दिनोंमें बाबा संकीर्तनपर बड़ा जोर देते थे। जाल्हूपुर परगनेके लोगोंको इकट्ठा करके कीर्तन करवाते थे और परिक्रमा भी करवाते थे। वे कहते थे कि कलियुगके जीवोंसे ध्यान-समाधि तो बननेकी नहीं, केवल भगवान्‌के नामके आश्रयसे ही वे कल्याण-साधन कर सकते हैं। और वे कच्चाबाबाको विश्वनाथ स्वरूप मानते थे। कच्चाबाबाने एक बार कहा था कि ये मुझसे तनिक भी कम नहीं हैं। संतोंमें बड़ा-छोटा होनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, उसकी लीला वही जान सकते हैं।

काशीके एक प्रसिद्ध सन्तने, जिनपर हम सभी श्रद्धा-विश्वास रखते हैं, कहा था कि 'मोकलपुरके बाबा कारक पुरुष हैं। इनके कारण संसारमें बड़ी शान्ति और सुखका विस्तार हो रहा है। काशीके ईशान कोणपर रहकर वे काशीकी रक्षा करते हैं। मैंने यहाँ उनकी बातोंका भावमात्र ही लिखा है। काशीके सन्तोंमें उनका स्थान बहुत ऊँचा है। बाबाके शब्द मुझे ठीक स्मरण नहीं हैं। यह मैंने देखा था कि कोई कहीं दु:खी होता तो बाबा इसके लिए व्याकुल हो उठते थे। दैवी शक्तियोंसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और हर जगहकी सूचना उन्हें मिलती रहती थी। जिन दिनों मैं भूत, प्रेत और पितर योनियोंपर विश्वास नहीं करता था; बाबाने अपने जीवनकी कई घटनाएँ बतलाकर मुझे समझाया था। सन् १९१६ में गंगाजीमें भयानक बाढ़ आनेवाली थी, उन्होंने दो-तीन दिन पहले ही गाँववालोंको बाढ़के क्षेत्रसे अलग कर दिया था। जब बिहारका भूकम्प आया था तब उन्होंने लोगोंसे कह-कहकर चन्दा भिजवाया था। बाढ़के बारेमें पूछनेपर उन्होंने मुझसे कहा था, श्रीगंगाजी आकर स्वयं श्रीमुखसे मुझसे कह गयी थीं।' उनके हृदयमें अपार करुणा थी। जीवोंपर स्वाभाविक कृपा थी और यही सन्तोंका विशेष गुण है। यद्यपि उनकी कृपा हम लोगोंपर निरन्तर बरस रही है, तथापि वे हमपर और विशेष कृपा करके ऐसी योग्यता प्रदान करें कि हम शुद्धान्त:करण होकर उनकी कृपाका अधिकाधिक लाभ उठायें और उनकी छत्रच्छायाका निरन्तर अनुभव कर सकें।

सन्त स्वयं भगवान् हैं। सन्त भगवान्‌से भी बड़े हैं।

बोलो सन्त भगवान्‌की जय!

❃

समर्थ स्वामी श्रीयोगानन्द पुरी

उन्होंने कहा—'पण्डित! तुम वेदान्त-श्रवणके अधिकारी हो। मैं तुम्हें औपनिषद अद्वैत सिद्धान्तका उपदेश करूँगा।' मैंने विनयसे हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामीजी! मेरा संकल्प ऐसा है कि—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥

पहले मुझे इन्हीं नेत्रोंसे सगुण-साकार भगवान्‌का दर्शन होना चाहिए। इष्ट-साक्षात्कार-पर्यन्त उपासना करके फिर वेदान्त-श्रवण करूँगा।'

उन्होंने समझाया—'आत्म-साक्षात्कार ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा परमार्थ सत्य है। उपासनामें जिस साकार-निराकार रूपकी भावना की जाती है, वह गुरु, शास्त्रके प्रति श्रद्धासे बनती है। अत: तुम पुन: विचार करके अपना निश्चय दृढ़ कर लो।'

मैंने पुन: साकार-उपासनाके प्रति अपनी श्रद्धा दोहरायी। उन्होंने मुस्कराकर स्वीकृति दी और कहा कि सबसे पहले गायत्री-पुरश्चरण करो। यज्ञोपवीतके समय आचार्यने जो मन्त्र दिया है, उसका विधिपूर्वक अनुष्ठान न किया जाय तो हम अपने कर्त्तव्यसे च्युत होते हैं एवं दूसरे मन्त्र तथा देवताका प्रसाद पाना भी कठिन हो जाता है। श्रीशंकराचार्यकी गायत्री-पुरश्चरण पद्धतिके अनुसार संक्षेपमें मुझे पुरश्चरणकी प्रक्रिया बता दी। एक समय अन्नाहार, दूसरे समय दुग्धपान। जप-अनुष्ठान करनेमें प्राय: छ: घण्टे प्रतिदिन लग जाते। मनमें प्रसन्नता नहीं थी। कुछ भी करनेका उत्साह नहीं था। संसारके व्यवहारमें रुचि नहीं थी। जप करते-करते मन ठप्प हो जाता था। मैंने उनसे कहा—'स्वामीजी! मन तो लगता नहीं। बस, जीभ हिलती रहती है। माला फिरती रहती है।' उन्होंने कहा—'मन्त्रका जप जिह्वासे किया जाता है। उसमें मन लगने, न लगनेकी कोई विधि नहीं है। मनसे ध्यान होता है, वाक्‌से जप। मन्त्रमें जो अक्षर हैं, उनमें अचिन्त्य शक्ति है। उनके उच्चारणसे शरीरकी एक-एक नाड़ी चैतन्य हो जाती है, जाग जाती है। अन्तरंग नाड़ियाँ किसी भौतिक यन्त्रसे जगायी नहीं जा सकतीं। उनके लिए

शास्त्रोक्त शब्दोंकी ध्वनि ही परिवर्तन करनेवाली होती है। शब्दोंका सूक्ष्म स्पन्दन, रग-रगमें एक ऐसी रासायनिक प्रक्रिया उत्पन्न कर देता है, जिससे शरीरमें एक दिव्यता आने लगती है। प्राण स्थिर होने लगते हैं। मन प्रसाद एवं उल्लाससे परिपूर्ण हो जाता है। जप साधन है। प्रसाद अवान्तर फल है। भगवान्का अनुग्रह परम फल है। पहले फल मत चाहो, साधन करो। मन लगनेसे जप नहीं होता। जप करनेसे मन लगता है।'

जपके समय भूमि, आसन, शरीर एवं धारण किये हुए वस्त्र पवित्र होने चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, सिले, जले तथा पराये वस्त्र नहीं हों। अनुष्ठानके आरम्भमें ही पीपलके पत्तेपर रखकर मालाका संस्कार कर लेना चाहिए। जपकी गणना रखनी चाहिए। जैसे संग्रही पुरुष जितना-जितना धन एकत्र होता है उतना-ही-उतना गौरवका अनुभव करता है—उसी प्रकार जापकको भी अपनी हीनताके भावोंको मिटानेके लिए ठीक-ठीक जप होनेपर हर्षका अनुभव करना चाहिए। किसी प्रकारकी उतावली नहीं करनी चाहिए और यथासम्भव विज्ञापनसे बचना चाहिए। अपनी माला औरोंको न दिखावे। किसीके सामने मन्त्रका उच्चारण न करे। यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, सत्कार आदि लौकिक वस्तुकी इच्छा न करे। इष्टदेवतापर विश्वास रखे। यदि स्वप्न-दर्शन, एकाग्रता, तन्मयता न हो, तो ऐसा समझना चाहिए कि मन्त्रका प्रभाव अन्तर्देशमें गम्भीरतासे सञ्चित हो रहा है। छोटी-छोटी लहरें नहीं छलकती हैं। एकाएक इसका उत्तम परिणाम होनेवाला है।

गायत्री-पुरश्चरण पूरा हुआ। इससे स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। अब उन्होंने मुझे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा प्रदानकी। 'दीक्षा' शब्दका अर्थ है—'दान' और 'क्षेप'। गुरुका अनुग्रह और शिष्यकी श्रद्धाके मिलनका नाम ही दीक्षा है। दीक्षाके अनेक प्रकार हैं—मानसी, स्पार्शी, चाक्षुषी, क्रियावती आदि। स्वामीजीने मुझपर सब प्रकारसे अनुग्रह किया और मैं श्रीकृष्ण-मन्त्रका सविधि अनुष्ठान करने लगा। भूत-शुद्धि, न्यास, धारणाके प्रयोग चलने लगे। भोजन, शयन नियमित था। मैं अपने गाँवसे लगभग पाँच मील दूर उनकी कुटियापर प्रातःकाल ही पहुँच जाता। कुटियाकी सफाई करता। फूल-पौधोंको सींचता। स्वामीजी अपने गुरुदेवके चित्रमें ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि सबकी पूजा कर लेते। दो बजेके लगभग सहेपुर गाँवसे उनके लिए भिक्षा आती। वे भोजन करते। ब्राह्मण, क्षत्रियोंके घरसे एक-एक दिन बँधे हुए थे। नियत समयपर लोग अपने आप भिक्षा पहुँचा जाते थे। मैं कभी-कभी स्वामीजी की आज्ञासे गाँवमें यदुनन्दन पण्डितके घर भोजन कर आता। क्षत्रियोंके घरमें

केवल पक्की रसोई खाता था। परन्तु, ऐसा महीनेमें कभी-कभी हो जाता। अन्यथा मैं अपने घर लौट आता।

यथाशक्ति श्रद्धा एवं विधिसे अनुष्ठान चलता रहा। एक पूरा हुआ, दूसरा आरम्भ किया। तीसरा-चौथा भी सम्पन्न हुआ। स्वामीजीकी आज्ञा थी कि कलियुगमें जपकी संख्या चतुर्गुण होनी चाहिए। स्वामीजीसे सीखकर, मैं सब विधि-विधान भली भाँति करने लगा था।

जब मैं उदास, निराश एवं विषादका ग्रास होने लगता, तब स्वामीजी बड़े वात्सल्यसे मुझे उत्तेजित करते। 'क्लैब्यं मा स्म गमः' नपुंसक मत बनो। कोई सफलता नहीं दिखती इससे क्या? साधनकी घनघोर अन्धकारमयी निशाका अब अवसान होने ही वाला है। यह मत समझो कि यह अन्धकार अविनाशी है। अब थोड़ा-सा शेष है। रात बीत गयी—दो घड़ी बाकी रही। सूर्योदय होगा। हृदय-कमल खिलेगा।

एक बार स्वामीजीकी कुटियासे गंगाके किनारे-किनारे अपने गाँवके लिए चला तो मार्ग लम्बा हो जानेसे विलम्ब हो गया। अन्धेरेमें गंगास्नान करनेके लिए उतरा। गड्ढा था। तैरना आता नहीं था। डूबने लगा। अन्धकारमें ऐसा अनुभव हुआ कि गंगाजीमें डूबते समय, किसीने आकर मेरी गर्दन पकड़ी और निकालकर बाहर बालूमें रख दिया। वहाँ कौन था? कोई अदृश्य शक्ति रही होगी। मैं उसे देख नहीं सका।

स्वामीजीका नाम श्रीयोगानन्दपुरी था। एक बार वे कर्णवासमें चातुर्मास्य करनेके लिए गये। मैं भी उनके साथ वहाँ गया। वे पक्के घाटके श्रीराधाकृष्ण मन्दिरके ऊपरी तल्लेमें रहते थे। उनकी भिक्षा कहींसे आती थी। मैं अपने लिए प्रायः अँगीठीपर खिचड़ी बना लेता। दाल, चावल, आलू, घी—बराबर-बराबर, उचित जलमें पका लेता। ऊपरसे नमकके सिवाय और कुछ नहीं डालता। खिचड़ी पकती रहती, मैं जप करता रहता। वहाँ मैं जब जप करने बैठता तो ऐसा लगता कि मेरी माताजी एवं पत्नी मेरे सामने खड़ी हैं। उनकी आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं और मेरे लिए अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। मैंने स्वामीजीसे निवेदन किया। इसपर स्वामीजीने कहा—'यह सब अनुष्ठानका विघ्न है।' जब साधक सिद्धि-लाभके निकट पहुँचता है, तब देवता लोग, माता, पत्नी, पुत्र आदिका वेश धारण करके विघ्न डालने लगते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए। वे लोग अपने घरमें सुखी हैं। तुम उनकी चिन्ता मत करो। बहुत समझाने-बुझानेपर भी मेरा मन मानता नहीं था।

उन दिनों, पक्के घाटपर ही, शिवजीके मन्दिरके ऊपरी भागमें, स्वामी

श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज रहते थे। बगलमें ही स्वामी विवेकानन्दजीका भी निवास था। मैं कभी-कभी स्वामी निर्मलानन्दजीके पास जाता। वे भावके विकासकी बात समझाते। वे कहते—'जैसे तुम अपने साढ़े तीन हाथके शरीरको; शान्तनु द्विवेदी, सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हो, वैसे ही यदि तुम सारे भारतवर्षको अपना स्वरूप मानो, तो भावमें परिवर्तन हो जायेगा। हिमालय सिर है। कन्याकुमारी पाँव, कराँची और दार्जिलिङ्ग तुम्हारे दोनों हाथ हैं। व्रज तुम्हारा हृदय है। वहीं श्रीकृष्णकी लीला हो रही है।' परिच्छिन्न देहमें 'मैं' भाव तोड़नेके लिए वे ऐसी बातें बताया करते थे। स्वामी विवेकानन्दजीके साथ गहन वेदान्त-चर्चा होती थी। मेरे स्वामीजी भी कभी-कभी उसमें सम्मिलित हो जाते थे। स्वामी निर्मलानन्दजी, मेरे स्वामीजीको अपने गुरु-तुल्य मानते थे।

मेरा मन कर्णवाससे उचटने लगा। एक संकल्प आया कि यहाँसे अपने घर चलें। मार्गमें रामघाट चलकर श्रीउड़ियाबाबाजीका दर्शन भी कर लें। स्वामीजी मेरे मनकी स्थिति समझ गये। उनका ऐसा अभिप्राय था कि साकार-दर्शनका अनुष्ठान करते समय वेदान्तियोंके साथ ज्यादा हिलना-मिलना, संसर्ग-आलाप नहीं रखना चाहिए। क्योंकि यदि वे इष्टदेव या आराधनाके सम्बन्धमें मिथ्यात्वका संस्कार डाल देंगे तो जप-तप सब शिथिल हो जायेगा। स्वामीजीने मुझे कोई ऐसी वस्तु दी जिसको परसों ले जाकर काशीमें माताजीको देना आवश्यक था। ये माताजी वही थीं जिनकी मैंने 'चन्द्रमा पण्डित' के संस्मरणमें चर्चा की है। अस्तु; रामघाट जाकर श्रीउड़ियाबाबाजीके दर्शन करनेका कार्यक्रम कट गया। वहाँसे सीधे काशी आना पड़ा। निश्चय ही उनका यह अनुग्रह था—वेदान्त-चर्चासे बचानेके लिए।

अपने गाँवमें पहुँचनेपर मैंने देखा कि घरके लोग बड़े सुखी, स्वस्थ एवं प्रसन्न थे। मैं कहाँ जा रहा हूँ, यह बताकर नहीं गया था। घरके सभी लोगोंने यह कल्पना कर ली थी कि मैं अपने परम्परागत शिष्य, महाकवि शीतल सिंह, जयप्रकाश सिंह, परमेश्वर सिंह आदिके पास गया - जिलेमें इमामगंज चला गया हूँ। वहाँसे लौटूँगा तो बहुत-सा सामान व दक्षिणा भी मेरे साथ होगी। जब मैं खाली हाथ लौटा और लोगोंको ज्ञात हुआ कि मैं तो साधन करनेके लिए स्वामीजीके साथ, गंगातटपर कर्णवास गया था, तो घरके सभी लोग दु:खी हो गये एवं रोने-पीटने लगे। मेरे जानेका उन्हें किञ्चित् भी दु:ख नहीं था। खाली हाथ लौटनेका दु:ख था। इस घटनाका मेरे मनपर गहरा असर पड़ा। मुझसे किसीका प्रेम नहीं है। ये लोग, धन-दौलतसे ही प्रेम करते हैं। मनमें वैराग्यका सञ्चार हुआ। संसारके सब सम्बन्ध स्वार्थके हैं। प्रीति करने योग्य तो केवल भगवान् ही हैं।

निष्काम अनुष्ठानका फल वैराग्य एवं भगवत्प्रेमकी वृद्धि ही है। परन्तु, उस समय भगवान्‌की यह कृपा अनुभवमें नहीं आती थी। दिन-दिन उदासी बढ़ती जाती थी। परन्तु, अनुष्ठान बराबर चलता रहा। घरके काम-काजकी सँभाल या देखभाल में नहीं करता था। हाँ, अध्ययनके लिए काशी जाता और कुछ दिन रहकर लौट आता। हमारे स्टेशनसे काशीका केवल छ: आने किराया था। अध्ययन करनेपर भी मेरे अनुष्ठानमें कोई बाधा नहीं पड़ती थी। घर आनेपर स्वामीजीके पास जाया करता था।

काशीके जिन विद्वानोंसे मैं अध्ययन करता था, उनमें-से अधिकांश अनुष्ठानके प्रेमी थे। पण्डित रामभवन उपाध्याय, बलिया जिलेके सुखपुरा गाँवके निवासी थे। अन्नपूर्णाके अनन्य उपासक थे। वाराणसेय संस्कृत विद्यालय (जो अब सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालयके नामसे प्रसिद्ध है) के वरिष्ठ प्राध्यापक थे। बड़ी पियरी और गोविन्दपुरा दोनोंमें मैं उनके साथ ही रहा करता था। वे दो बजे रातसे आठ बजेतक सविधि पूजा, जप, पाठ करके तब पढ़ानेके लिए तैयार होते थे। उनकी विद्या देखकर, अनुष्ठानकी उपयोगितामें अधिकाधिक श्रद्धा बढ़ती जाती थी। पण्डित श्रीरामपरीक्षण शास्त्री, बस्ती जिलेके थे। काशीमें ईश्वरगंगीमें रहते थे। वे कोई पचास वर्षतक अपनी देहरीसे बाहर नहीं निकले। उनकी विद्या, अनुष्ठानजन्य थी। वे आककी चौकीपर बैठकर किसी भी शास्त्रको पढ़ा सकते थे। बड़े-बड़े धुरन्धर, देशी-विदेशी विद्वान्, अपने समाधानके लिए उनके पास आया करते थे। मैं उनके यहाँ, कुएँसे पानी भरता। शौचालय साफ करता। वे पढ़ाते तो थे ही, शास्त्रोंका अभिप्राय हृदयंगम करानेमें बड़े निपुण थे। उन्होंने मुझसे लिखनेका काम लिया। वे बोलते जाते थे, मैं लिखता जाता। प्राय: न्याय, सांख्य, वेदान्त-दर्शनोंमें स्वीकृत सभी पदार्थोंपर उन्होंने अलग-अलग सूत्रग्रन्थ लिखवाये थे। जैसे—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी आदिके सम्बन्धमें परमाणु-दर्शन, प्रकृति दर्शन, आत्म-दर्शन। ४२ विषयोंकी गणना हो गयी थी। एक काव्यके भी कुछ सर्ग लिखाये थे। उनकी यह सिद्धि देखकर भी, अनुष्ठानपर श्रद्धाकी वृद्धि हुई। अनुष्ठान चलता ही रहा।

मैंने अपनी नानीके गुरु, स्वामी श्रीमनीषानन्द सरस्वतीजीसे योग-भाष्य तथा याज्ञवल्क्य स्मृतिकी मिताक्षरा (व्यवहाराध्याय मात्र) पढ़ी थी। वे प्राय: नग्न ही रहते थे। टेढ़ी नीम मोहल्लेमें शिवहर राजाके शून्य महलमें रहते थे। उन्हें देखकर त्याग-वैराग्यकी शिक्षा मिलती थी। श्रीशंकर चैतन्य भारतीजी महाराजकी श्रीविद्या भी बहुत प्रसिद्ध हो रही थी।

मेरे गुरु पण्डित श्रीरामभवनोपाध्यायने स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीके पास जानेको मना कर दिया था। उनका कहना था कि सिद्धिके चक्करमें फँस जाओगे तो पढ़ाई नष्ट हो जायेगी। उन्होंने और भी कई अन्य विद्वानोंके पास, इसी कारणसे जानेको मना कर दिया था। वे अनुष्ठानके लिए उत्साहित किया करते थे।

मैं घरपर ही बैठकर, रात्रिके समय अनुष्ठानमें संलग्न था। प्राय: स्वस्तिक आसनसे बैठता। पीठकी रीढ़ सीधी होती। कुम्भकी प्रधानतासे थोड़ा-सा प्राणायाम करके, जपके समय सुविधाके अनुसार खुली, अधखुली या बन्द आँख रखता। बीच-बीचमें श्रीकृष्णका स्मरण होता। परन्तु ध्यान नहीं लगता। एकाएक शरीरमें एक विशिष्ट स्पन्दन-सा हुआ। ऐसे लगा जैसे कोई चरण, कटि, नाभि, हृदय, हाथ, गर्दनमें-से प्राणोंको ऊपर खींच रहा है। सारा शरीर शून्य हो गया। केवल शिरोभागमें एक ज्योतिश्चक्र बनने लगा। प्रकाश-ही-प्रकाश! पहले तो मृत्युका भय लगा। पीछे शरीरका विस्मरण हो गया और मैं एक दिव्य-प्रकाशके लोकमें खो गया। कुछ समयके बाद सारे शरीरमें जीवन और प्राणोंका पूर्ववत् सञ्चार हो गया। जब यह स्थिति, पुन:-पुन: होने लगी तो सारा भय मिट गया। और यह एक साधनकी स्थिति है, ऐसा अनुभव होने लगा। इससे उठनेके बाद जब यह ध्यान आता—हाय, हाय, यह प्रकाश तो है परन्तु इसमें अपने प्यारे इष्टदेवका दर्शन नहीं होता, यह कितने दु:खकी बात है। कभी-कभी दु:ख बढ़ जाता। कभी रो लेता। कभी प्रार्थना करता कि हे प्रभो! अब आपके दर्शनके बिना रहा नहीं जाता। इसी भावके श्लोक या पदका उच्चारण करने लगता। कभी अपनी दीनता-हीनता, असमर्थता देखकर ग्लानि होती। श्रीचैतन्य महाप्रभुका वह श्लोक याद आता जिसमें कहा गया है कि सर्व-त्यागके बिना पूर्णरूपसे भजन होना शक्य नहीं है। भगवत्प्राप्तिकी लालसामें अहंकार, ममकार भी बाधक हैं। अन्ततोगत्वा त्यागका ही निश्चय हुआ।

जिस दिन चतुर्थ अनुष्ठान पूर्ण हो रहा था, मैं उस दिन गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिए दम्भारी (डँभारी) घाट गया। कपड़े और माला तटपर रखकर जब स्नान करने लगा तो कौआ माला उठाकर ले गया, बीच गंगामें डाल दिया। मनमें आया अब अनुष्ठानकी पूर्णाहुतिमें भी त्याग, वैराग्यके बिना काम नहीं चलेगा। तीव्र वैराग्यके बिना अब तक किसीको भी भगवत्प्राप्ति नहीं हुई है।

दूसरे दिन प्रात:काल चार बजे उठा। नित्यकर्म करके घरसे निकल पड़ा। धोती-कुर्ता पहने हुए था। सिर-पाँव नंगे थे। हाथमें एक लोटा और जेबमें पाँच आने पैसे। चलते-चलते दोपहर हो गया। मैं लगभग बीस मील दूर शिवपुर पहुँच

गया। काशी पार कर गया था। धूप तेज थी। भूख-प्यास लग गयी थी। मार्गमें किसान लोग अपने खेतोंमें पानी देनेके लिए पूर चला रहे थे। जाकर वृक्षके नीचे विश्राम किया। हाथ-पैर धोये। पानी पीकर ज्यों-ही आगे चलनेको हुआ, त्यों-ही मेरे गाँवके पढ़े-लिखे एक सज्जन जो कि चाचा लगते थे, वहाँ आ पहुँचे। वे वर्मा-शैलके कोई अधिकारी थे। बनारसी इक्केपर कहीं जा रहे थे। मुझे देखकर बोले—'तुम यहाँ कैसे? सिर-पाँव नंगे! कन्धेपर चादर भी नहीं। कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने अपनी आगेकी यात्रा स्थगित कर दी। मुझे इक्केपर बैठाकर बनारस ले आये। स्नान, भोजनकी व्यवस्था की। जूते, कपड़े खरीद कर दिये। रातको बाँसफाटकके पास एक सिनेमा था, उसमें ले गये। उन दिनों बोलनेवाले चित्रपट नहीं थे। 'शीरी-फरहाद' चल रहा था। शीरीको पानेके लिए फरहादने अपने हाथों एक पहाड़ तोड़ा था और उससे दूधका झरना बहा था। यह सिनेमा देखकर मेरे मनमें दो प्रकारके भाव आये। एक तो अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए कितना पौरुष-प्रयत्न होना चाहिए। दूसरा यह कि मैं जितना कर सकता हूँ, इससे अधिक तो कर ही नहीं सकता।

सिनेमासे लौटनेपर उन्होंने अपनी पत्नीको मेरे पास भेज दिया कि ये इतना पैदल चलकर थक गये हैं, इनके पाँव दबा दो। मैं रोने लगा कि चले थे भगवान्‌का दर्शन करनेके लिए कि हिमालयमें जाकर तप करूँगा। यह सब क्या हो रहा है? क्या मेरे किये कुछ नहीं होता!

दूसरे दिन उन्होंने मुझे मेरे घर पहुँचा दिया और मैं अपनी बैठक चारो ओरसे बन्द करके विचार करने लगा—अब मैं क्या करूँ? जप, उपवास, अनुष्ठान यथाशक्ति करता रहा। त्याग-वैराग्यका प्रयास किया तो यह गति हुई! साधन इससे अधिक हो ही नहीं सकता। ऐसा लगता है कि यह शरीर भगवत्प्राप्तिके योग्य नहीं है। तब क्या इसे छोड़ देना ठीक रहेगा? शरीरको पकड़ना या छोड़ना, दोनोंमें ही गाढ़ ममत्व परिलक्षित होता है। उपाय! उपायमें बल कहाँसे आवेगा? मैं क्या अपने बलसे भगवान्‌को प्राप्त कर सकूँगा? एक बार 'मैं' का साधन, उपाय, युक्तिका बल चकनाचूर हो गया। मेरा 'मैं' भूल गया। जैसे कोई अपने 'मैं' को मनुष्य बनाये रखे और आत्मा, ब्रह्मकी एकताका साक्षात्कार करनेका दावा करे तो यह मिथ्याभिमान है; इसी प्रकार अंश अपने बलका पृथक् रूपसे प्रयोग करता रहे और अंशीके साक्षात्कारका दम्भ भरे, तो वह केवल कल्पनामात्र है। मेरी युक्ति, उक्ति, प्रयुक्ति बस! बस!! अब मुझसे कुछ नहीं होता। निस्साधन एवं निरभिमान स्थिति होते ही उस घोर

अन्धकारमय गृहमें एक महान् प्रकाशका आविर्भाव हुआ। उसमें धरती, घर, खपरैल, खाट एवं शरीरका लोप हो गया। बिना किसी वस्तुके, बिना किसी साधनके, बिना वृत्तिके, बिना किसी कारणके, अनुभवमें आनेवाला यह प्रकाश क्या? कुछ आश्चर्य और भी हुआ मैं जैसे आनन्दमें मतवाला हो गया। मैं न हाथ जोड़ सका, न सिर झुका सका, न दण्डवत कर सका। हाँ, एक प्रेरणा मिली और वह थी अद्वैत सिद्धान्तके लिए जिज्ञासा एवं मननको उन्मुख करनेकी। वहाँ कुछ नहीं था। फिर वही अन्धकार!

आनन्दमें भरा-भरा बाहर निकला। सबसे पहले माताजी मिलीं। 'बस, मेरा काम हो गया।' उन्होंने मेरे पाँव छू लिये। पण्डित अक्षयवर तिवारी मिले। उन्होंने मेरी मस्ती देखकर स्वयं पाँव छू लिये। जब 'मैं' और 'मेरे' का बल टूट गया, उपाय निष्फल हुए, तब उस 'निर्' में-से उपेयका आविर्भाव हो गया।

स्वामीजी श्रीयोगानन्दजी महाराजके पास जाना-आना होता ही रहा। कभी जेठकी दोपहरीमें नंगे पाँव, नंगे सिर चले जाते, तो वे हँसकर बोलते—'बाहर गर्मी है, भीतर आ जाओ। यहाँ शीतलता ही शीतलता है।' हँसकर भीतर बुला लेते। कभी गम्भीर शास्त्र-चर्चा करते। शिवरात्रि आदिका दिन होता, तो पूजा-पाठमें ही लगा देते। कभी भागवतकी वह प्राञ्जल एवं प्रसाद-माधुर्यसे परिपूर्ण कथा सुनाते कि जगत्‌की विस्मृति हो जाती। उनकी ओजमयी वाणी आज भी कानोंमें गूँज जाती है और हृदयको प्रकाश देती है।

मेरे गाँवसे थोड़ी-ही दूर, ५ मीलपर एक सहेपुर गाँव है, वहीं वे रहते और स्वाध्याय, जप, पूजा, ध्यान, चिन्तनमें अपना समय व्यतीत करते। कभी कोई आजाता तो उससे सत्संगकी चर्चा भी हो जाती। एक दिन कादिराबादके ठाकुरसाहब प्रसिद्धनारायण सिंह, जो उन दिनों एक प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते थे तथा अनेक ग्रन्थोंके लेखक थे, अनेक राज्योंके दीवान रह चुके थे, वे मेरे साथ वहाँ गये। स्वामीजीसे वेदान्त-सम्बन्धी समाधान पाकर ठाकुर साहब बोल पड़े—'ठसाठस ठोस प्रज्ञानघन!' सहेपुरमें वैसे तो स्वामी योगानन्दजीके अनेक भक्त थे, परन्तु उनके परम श्रद्धालु शिष्य रजिस्ट्रार साहब श्रीउदितनारायण सिंह एवं उनके परिवारके तथा जातिके लोग थे। वे ही, वहाँ स्वामीजीको ले आये थे। सेवा तो सभी लोग करते थे। उन्हीं रजिस्ट्रारके मित्र थे भदाहूँके ठाकुर साहब लालबिहारी सिंह। वे ही मुझे पहले-पहल स्वामीजीके पास ले गये थे। स्वामीजीने मुझे अपने अनेक ग्रन्थ भी दिये थे, जिनमें श्रीपार्थसारथी मिश्रकी

'शास्त्रदीपिका' एवं पञ्चदशीकी 'श्रीपूर्णानन्देन्दु टीका' मुख्य थीं। वे सभी शास्त्रोंको बोलचालकी भाषामें सरल-से-सरल करके समझा देते थे।

एक बार मैं वाराणसीके काशीदेवी मठमें उनके साथ गया हुआ था। वहाँ स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजी जो उनके गुरुभाई थे, मिले। दोनोंके गुरु स्वामी श्रीनित्यानन्दजी महाराज थे। ज्योतिर्मयानन्दजीको योग-साधनाका अच्छा अभ्यास था। उन्होंने मुझसे कहा था—'यदि संसारमें कुछ करना, भोगना हो तो पूरा कर लो। इधरसे निश्चिन्त होकर केवल मेरे पास आजाना। चुटकी बजाते ही तत्त्वज्ञान हो जायेगा।' वहीं कनखलके महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज आये हुए थे। व्याकरणाचार्य स्वामी श्रीरामानन्दजी महाराज तो थे ही। मैं श्रीदयालपुरीजी महाराजके पास अधिक बैठा करता था। उनसे वेदान्तकी गम्भीर चर्चा होती और वेदान्त दर्शनके सूत्रोंपर घण्टोंतक ऊहापोह चलता रहता। स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजने वहींसे पत्र लिखकर मुझे कनखल भेज दिया था, जहाँ मैं वेदान्तका अध्ययन करता-कराता था। कनखलमें ही महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्दजीके संकेतपर भिक्षु शंकरानन्दजी महाराजका सत्संग कैसे प्राप्त हुआ, यह श्रीभिक्षुजीके संस्मरणमें देखिये।

स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजके गुरु श्रीस्वामी नित्यानन्दजी एवं उनके गुरु परमहंस श्रीस्वामी नित्यानन्दजी एवं उनके गुरु परमहंस श्रीरामकृष्ण थे। परमहंस रामकृष्ण स्वामी तोतापुरीजीको अपना गुरु मानते थे। वैसे श्रीरामकृष्ण मिशनमें गुरुशिष्यकी परम्परा पूर्णतः स्वीकृत नहीं है, परन्तु, साधना बिना गुरु-शिष्य परम्पराके हो भी नहीं सकती। पूर्व बंगमें बरीसाल नगरमें श्रीयोगानन्द आश्रम था। वहींसे श्री योगानन्दजी पहाराज, उत्तर प्रदेशमें आये थे। बादमें वृद्ध माताजी भी आगयी थीं, जिनकी चर्चा मैंने 'चन्द्रमा पण्डित' के संस्मरणमें की है।

स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजकी शिक्षा, दीक्षा, प्रेरणा, प्रोत्साहनसे ही मेरी प्रतिभा प्रस्फुटित होती गयी। आज अतिशय कृतज्ञताके साथ मैं उनका स्मरण कर रहा हूँ।

❋

स्वामीश्री शरणानन्दजी महाराज

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रम (वृन्दावन) में बड़े फाटकके ऊपर, छतपर, सत्संग हो रहा था। बाबा चौकीपर बैठे थे, शेष सब नीचे। एक युवा सन्त जो नेत्रहीन थे, बाबाके साथ प्रश्नोत्तर कर रहे थे। इस सम्बन्धमें दोनों एक प्रकारका ही प्रतिपादन कर रहे थे कि भक्ति- भावनामें वेदान्त-विचार और वेदान्त-विचारमें भक्ति-भावनाका मिश्रण नहीं करना चाहिए। बाबा 'विचार' एवं 'भाव' शब्द का प्रयोग करते थे और वे नेत्रहीन सन्त 'विवेक' तथा विश्वास शब्दका। मैं उस समयतक संन्यासी नहीं हुआ था। दोनों के बीचमें कुछ बोलता नहीं था। मैं मन-ही-मन श्रीमधुसूदन सरस्वतीके 'श्री-भक्तिरसायन' के उस प्रसंगसे तुलना कर रहा था जिसमें द्रुत-चित्तके लिए भक्ति-रस एवं अद्रुत-चित्तके लिए वेदान्त-विचारका अधिकार बतलाया गया है। यह वैदिक धर्मकी विशेषता है कि सबके लिए एक इष्ट, एक मंत्र, एक गुरु और एक ही साधन-पद्धति नहीं होनी चाहिए; अपनी-अपनी योग्यता एवं पात्रता के अनुसार, स्वभाव, रुचि, प्रवृत्ति एवं हृदयमें स्थित पूर्वसिद्ध उपासनाकी, वासनाके अनुसार भेद होना चाहिए। यह एक ऐसी विलक्षण बात है जिसे विचक्षण लोग ही समझ सकते हैं। सबको एक ही पंक्तिमें हाँकना और एक-सा बनानेके प्रयास सर्वथा ही प्रकृतिके विरुद्ध हैं। उन दोनों महात्माओंके विचारमें शास्त्रोक्त भावकी अभिव्यक्तिके लिए एक नयी भाषा, भाव एवं विचार, विवेक एवं विश्वासका नाम दिया और वह मेरे लिए बहुत प्रभावी सिद्ध हुआ। स्वतंत्र चिन्तन की एक दिशा! वे नेत्रहीन सन्त स्वामीश्री शरणानन्दजी महाराज थे। उनके साथ हमारा सम्पर्क वर्षों तक बना रहा।

दूसरी बार एक प्रश्न था कि क्या ईश्वरकी मान्यताके बिना भी सदाचारी एवं जागरूक चिन्तनशील पुरुप यथार्थ रूपमें परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है। उस समय मुझे यह मीमांसा बहुत अटपटी लगी, लोक-व्यवहारके लिए अनुपयुक्त तथा लोक-मानसमें नास्तिकताके प्रति महत्त्व-बुद्धिका आधान करनेवाली। परन्तु, वेदान्तके आभास, प्रतिविम्ब अथवा औपाधिक ईश्वरकी अनिवर्चनीयता निश्चय करनेके लिए चिन्तनका एक नया, प्रशस्त पथ भी अस्पष्ट रूपसे झलकने लगा। दृष्टि-सृष्टिवाद अथवा एक जीवनवादके महत्त्वपूर्ण चिन्तनके लिए जैसे कोई नवीन मार्ग मिल गया हो। हाँ तो, इस विषयमें भी बाबा एवं स्वामी शरणानन्दजीका मत एक-सा ही था। बाबा औपनिषद रीतिसे और स्वामीजी अपने स्वतंत्र चिन्तनकी रीतिसे एक ही निष्कर्षपर पहुँच रहे थे। आस्तिकता एवं नास्तिकता दोनों ही भाव अथवा विश्वास हैं। विचार एवं विवेककी कसौटीपर दोनों ही खरे नहीं उतरते। अपना आत्मा या स्वरूप ही एक ऐसा अखण्ड अबाधित सत्य है, जिसमें विचार एवं विवेकके भाव एवं विश्वासकी समाप्ति हो जाती है। वह प्रमाण अथवा श्रद्धाका विषय नहीं है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, श्रद्धालु, श्रद्धा एवं श्रद्धेय सबका आधारभूत स्वप्रकाश अधिष्ठान है। हाँ तो, वह सत्संग भी बड़ा प्रभावी रहा।

स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज, सेठ श्रीजयदयालजीके सत्संगमें स्वर्गाश्रम आये। उनकी भाषा विलक्षण थी। उसको ग्रहण करनेके लिए पहले-पहल कई दिनतक सुनना पड़ता था। स्वामी श्रीरामसुखदासजीके साथ उनका विचार-विमर्श होता था। वे जब नये-नये शब्दोंका प्रयोग करते तो पहले कुछ अद्भुत-सा लगता बादमें विचार करनेपर प्राचीन शास्त्रोंके साथ उसकी संगति लग जाया करती थी। वे 'अचाह' तथा 'अप्रयत्न' शब्दका प्रयोग किया करते थे। सीधी-सी बात है। 'अचाह' माने 'निष्कामता' । 'अप्रयत्न' अर्थात् 'नैष्कर्म्य।' अचाह अन्तःकरणकी शुद्धि है और अप्रयत्न स्वरूपकी सहज स्थिति। व्यवहारमें यदि अपनी योग्यताका सदुपयोग दूसरोंकी सेवा के लिए न किया जायेगा तो वह केवल अपने सुख, सुविधा एवं भोगका साधन हो जायेगा। श्रीरामसुखदासजीने मुझे बताया कि स्वामी श्रीशरणानन्दजीका चिन्तन बहुत ही सूक्ष्म एवं गम्भीर है। प्रत्येक बातको वे स्वयं चिन्तनके द्वारा अपनी भाषामें अभिव्यक्ति देते हैं। विचार करके देखनेपर वह कहीं भी शास्त्रके विरुद्ध नहीं मिलती। हाँ तो—सेवासे भोग, योग हो जाता है। 'अचाह'से हृदय शुद्ध होता है और 'अप्रयत्न' से सहज स्थिति होती है। बात सोलहों आने यथार्थ

है। यहाँ सेवा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म, निष्कामता एवं सहज स्थितिकी संगति बैठ गयी।

स्वामीजी किसी जाति-पाँति, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम आदिका नाम नहीं लेते थे। वे मानवके लिए मानवताका प्रतिपादन करते थे। मानवमें जो आनुसंगिक विकार आगये हैं, उनके निवारणके लिए प्रयास करना चाहिए एवं सहज मानवताका विकास तथा प्रकाश होना चाहिए। इसके लिए संकीर्ण विचारों एवं भावनाओंका परित्याग तथा उदात्त एवं उदार विचारोंका उल्लास होना चाहिए। इसी अभिप्रायसे उनके मार्गदर्शनमें साधकोंने 'मानव सेवा संघ' नामकी संस्था बनायी। इस संस्थाको स्वामीजीका पूर्ण सहयोग प्राप्त था, परन्तु वृन्दावनके संस्थाके भवनमें तो ठहरते तक नहीं थे। श्रीआनन्दमयी माँके आश्रममें ठहरा करते थे। उनकी निःस्पृहता और त्याग विलक्षण था।

उनका पूर्वाश्रमका नाम, ग्राम या जातिका मुझे पता नहीं है। वे इनकी चर्चा भी नहीं करते थे। हाँ, इतना अवश्य ही ज्ञात है कि वे बीसवीं शताब्दिके आरम्भमें जन्मे थे। और दस वर्षकी आयु होते-होते नेत्रहीन हो गये थे। पहले उन्हें अपनी नेत्रहीनताकी ग्लानि-म्लानि अवश्य हुई, परन्तु बादमें महात्माओंके सत्संगसे वह जाती रही। उनका मन भगवान्के भजनमें लगने लगा। और पढ़ाई-लिखाई न होनेपर भी परमात्माके चिन्तनकी दिशामें उनकी प्रज्ञा स्वतः अग्रसर होने लगी। हमने स्वयं देखा और अपने कानोंसे सुना था कि कोई कैसा भी प्रश्न करे, वे तत्काल उस प्रश्नका निरसन कर देते थे। उनकी सूझ-बूझ इतनी प्रखर थी कि वे प्रश्नके शब्द सुनते ही समझ जाते थे कि प्रश्नकर्ता किस नासमझी या भूलके कारण यह प्रश्न कर रहा है। तत्क्षण वे उस भूलपर चोट करते और प्रश्न ही कट जाया करता था। उनकी बुद्धि तर्क-तर्कश एवं तर्क-कर्कश भी थी। किसीका तर्क-वितर्क उनके समक्ष टिक नहीं पाता था। इसके साथ-ही-साथ उनका हृदय इतना भावपूर्ण एवं कोमल था कि भगवच्चर्चा करते-करते वे भावमग्न हो जाते और नेत्रोंसे अश्रुधाराका प्रवाह एवं कण्ठ गद्गद हो जाया करता था। उनकी वाणीका स्वर भी बदल जाता था।

एकबार मैंने उनके श्रीमुखसे एक कथा सुनी थी। किसी राजपरिवारमें एक माता थी। उसके सगे-सम्बन्धी मृत्युके ग्रास हो गये। माताके पास एक मकान था, एक बैल था। बैलका नाम था 'सर्बू'। माता उसकी सेवा करती और उसीके द्वारा जो खेतीसे अन्न प्राप्त होता उससे निर्वाह करती। परन्तु उनके दूरके सम्बन्धियोंको यह भी सहन नहीं होता था। वे चाहते थे कि यह मकान इससे

छीन लें। किसी दिन वे लोग अपने कर्मचारियोंके साथ माताको मकानसे निकालनेके लिए चढ़ आये। माताका कोई सहायक नहीं था। वह अपने बैल सर्बूके पास जाकर रोने लगी कि चलो सर्बू अब तो रहनेकी जगह भी नहीं रही। बैलकी आँखें क्रोधसे लाल-लाल हो गयीं और बड़े भयंकर रूपमें अपनी सींग आगे करके अखाड़ता और हँकड़ता हुआ उन गुण्डोंपर टूट पड़ा। जबतक वे लोग वहाँसे चले नहीं गये वह मकानकी परिक्रमा करते हुए दौड़ता रहा। किसीको सींघसे, किसीको लातसे, किसीको धक्केसे मार-मारकर भगा दिया एवं घायल कर दिया। फिर तो डरके मारे कोई पास नहीं आया। वह सर्बू बैल नहीं था उसमें सर्वेश्वर भगवान्का आवेश हो गया था। भगवान् एक असहाय, अनाथकी रक्षा कैसे करते हैं, इसका वर्णन करते-करते स्वामीजी भावमग्न हो जाते थे, अश्रुपात होने लगता था। सचमुच विश्वासमें कितनी शक्ति है, इसको साधारण लोग नहीं जानते हैं। विश्वास ही मनुष्य जीवनका आधार-स्तम्भ है।

क्रोध एवं क्षोभकी व्यर्थतापर चर्चाके समय उन्होंने सुनाया था कि वे कहीं अकेले यात्रा कर रहे थे। हाथमें डण्डा था। पीछेसे कोई बैलगाड़ी आयी, धक्का लगा, वे गिर पड़े। मनमें गाड़ीवानके प्रति क्रोध भी आया, क्षोभ भी हुआ कि मैं नहीं देखता हूँ तो क्या हुआ वह तो देखता हैं। गाँवके किसी व्यक्तिने गाड़ीवानको भला-बुरा भी कहा, डाँटा-डपटा भी। परन्तु, जब स्वामीजी आगे बढ़े तो किसी पेड़से टकरा गये और गिर पड़े। कहते थे कि उस समय मनमें आया कि अब करो क्रोध! इस दुर्घटनाका तो कोई विशेष 'कर्ता' ही नहीं है। जो सबका कर्ता है वही इसका कर्ता है। वस्तुतः जो अपनेको कर्त्ता मानता है वही दूसरेको कर्त्ता मानता है। यह सब तो प्रभुकी लीला है—चाहे जो हो जाय, जो किया जाय, जो कहा जाय—सब प्रभुकी ओरसे ही आता है। क्रोध-विरोधका कोई कारण नहीं है।

स्वामीजीने ही सुनाया था—वे अपने कुछ भक्तोंके साथ उत्तराखण्डकी यात्रा कर रहे थे। उन दिनों यात्रा पैदल ही होती थी। मार्गमें स्वामीजीका स्वास्थ्य बिगड़ गया। दो-चार दिनतक तो भक्तगण उनकी सेवामें रहे। फिर धीरे-धीरे एक-एक करके अपनी यात्रा पूरी करनेके लिए चले गये। वे बेचारे पहाड़ी मार्गमें कबतक उनका साथ देते। स्वामीजी अकेले रह गये। थोड़े दिनोंमें उनका स्वास्थ्य अच्छा हो गया; अपना डण्डा और कमण्डलु लेकर उन्होंने अकेले ही यात्रा की। एक नेत्रहीन व्यक्तिका एकाकी हिमालयकी यात्रा करना कैसा होगा! न खड्डुमें गिरे, न पहाड़से टकराये और न तो पहाड़में ठोकर लगी। क्या आश्चर्य है! उनके हृदयमें

ईश्वरके प्रति कितनी आस्था थी और ईश्वर अपने विश्वासी भक्तकी कैसे रक्षा करते है एवं सहायता देते हैं—यह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस प्रकारकी एक घटना उनके जीवन-परिचयमें भी लिखी हुई है। एकबार मथुरासे आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुनाके किनारे-किनारे जा रहे थे। एक स्थानपर ढाह गिरी। ये पानीमें जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथकी लाठी छूट गयी। तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधरकी ओर तैरें। शरण्यकी याद आयी और उनके भरोसे इन्होंने जलमें डूबते हुए शरीरको ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसीने इनको जलमें-से निकालकर खुश्कीपर डाल दिया। उठनेके लिए जब इन्होंने धरतीपर हाथ टेका तो एक नयी लाठी हाथमें आगयी। प्रभुकी शरणागत-वत्सलताको पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमासे अभिभूत, उनके प्यारमें मस्त होकर ये उठे, और चल दिये।

अब आप स्वामीजीके कुछ उपदेशोंका सार संक्षेपमें देखें जो मर्मस्पर्शी हैं एवं साधना-पथके पथिकके लिए हृदयंगम करने योग्य हैं—

हमारी वास्तविक आवश्यकता—

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें प्रथम प्रश्न यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है? आवश्यकताको बिना जाने—बिना माने उसकी पूर्तिके लिए न तो नि:सन्देहतापूर्वक साधनका निर्माण कर सकते हैं और न निर्णीत साधनका अनुसरण कर सकते हैं। अब समस्या यह है कि आवश्यकताका निर्णय कैसे हो? इसका निर्णय वर्तमानमें करना होगा। उसके लिए अपनी वर्तमान दशाका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है—और रुचि, योग्यता और आवश्यकताका ज्ञान ही वर्तमान दशाका अध्ययन है।

व्यक्तित्वके अभिमानमें आबद्ध प्राणी अप्राप्त परिस्थितियोंका ही आवाहन करता रहता है और उसीको अपनी मान लेता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति सतत परिवर्तनशील है, परन्तु व्यक्तित्वका मोह हमें परिस्थितियोंकी दासतासे मुक्त नहीं होने देता। यह दासता वियोग, हानि तथा अपमान आदिका भय उत्पन्न करती है और भय किसीको भी प्रिय नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियोंसे अतीत जीवनकी है। उसीमें प्रवेश करनेके लिए योग्यता, सामर्थ्य और रुचिके अनुरूप साधन-निर्माण करना होगा।

कोई भी इच्छा आवश्यकताको मिटा नहीं पाती, क्योंकि आवश्यकता

उसकी है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है और इच्छा उसकी है जिससे केवल मानी हुई एकता है। अत: आवश्यकता-पूर्तिके लिए अनिवार्य हो जाता है कि इच्छाओंका अन्त कर दिया जाय। इच्छाओंका त्याग माने—माने हुए सम्बन्धका त्याग। यदि विवेक-पूर्वक देहभावका त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमता-पूर्वक माना हुआ 'मैं' और 'मेरा' मिट जाता है, जिसके मिटते ही असंगतापूर्वक नित्य-याग स्वत: प्राप्त होता है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभीसे अपनी भिन्नताका अनुभव हो जाता है, वस्तु व्यक्तिकी कामनाएँ मिट जाती हैं, और उनके मिटते ही वास्तविक आवश्यकता जाग्रत् होती है, जो अपनी पूर्तिमें आप समर्थ हैं। व्यक्तित्व का मोह गल जानेपर तो हम और संसारका भेद मिट जाता है, फिर अपने पास मन, बुद्धि, आदि भी नहीं रहते हैं। वे सब उस अनन्तसे अभिन्न हो जाते हैं, जो वास्तविक आवश्यकता है।

विवेक और प्रीतिसे ही वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। विवेक और प्रीति श्रम नहीं है, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनन्तकी अहैतुकी कृपासे मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूतिसे ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। वास्तवमें वे हमसे देश-कालकी दूरी पर नहीं हैं, और नही उन्होंने हमारा त्याग किया है। बल्कि हम ही उनसे विमुख हुए हैं। परन्तु, देखिये उनकी कृपा, कि विमुखताको मिटानेके लिए हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया। विवेकसे अस्वाभाविक इच्छाकी निवृत्ति और प्रीतिसे स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति स्वत: हो जाती है। अत: जीवनमें असफलताके लिए कोई स्थान नहीं रहता है।

कर्तव्य-विज्ञान: जीवन-विज्ञान—

प्राकृतिक विधानके अनुसार पर-हितमें ही अपना हित निहित है। यह जीवनका अनुभूत सत्य है। जब हम दूसरोंके काम आते हैं तभी हमारा काम बनता है। इस दृष्टिसे प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यके द्वारा सर्वदा ही दूसरोंके हितमें रत रहना आवश्यक है। पर इस रहस्यको वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने निजज्ञानके प्रकाशमें कर्त्तव्य-विज्ञानके रहस्यको विधिवत् अनुभव किया है। कर्त्तव्य-विज्ञानके रहस्यको विधिवत् अनुभव किया है। कर्तव्य-परायणतासे ही सुन्दर समाजका निर्माण होता है और कर्तव्यका ही उत्तर पक्ष योग है। योगमें ही बोध तथा प्रेम निहित है, जो सर्वतोमुखी विकासका मूल है। इस दृष्टिसे कर्तव्यनिष्ठा होकर योगवित् होना अनिवार्य है। योगमें-मानव संज्ञा ही सिद्ध नहीं होती।

आज काल्पनिक विभाजन स्वीकार कर मानव मानवतासे विमुख हो गया है और हिंसक जन्तुओंसे भी क्रूर हो गया है। ऐसी भयंकर परिस्थितिमें अपनेमें सोई हुई मानवताको जगाना है जो एकमात्र कर्त्तव्य-पालन अर्थात् दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षासे ही सम्भव है। इतना ही नहीं, दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षामें भी अपना अधिकार है। जो मानव इस सत्यको स्वीकार कर लेता है, वह बड़ी सुगमता-पूर्वक सदाके लिए राग-द्वेषसे रहित होकर त्याग तथा प्रेमके द्वारा सभीके लिए उपयोगी हो जाता है और यही मानव जीवनका उद्देश्य है।

जो सभीको अपना मान लेता है वह सुखीको देखकर प्रसन्न और दु:खीको देखकर करुणित होता है, प्रसन्न होनेसे कामका नाश हो जाता है और करुणित होनेसे सुख-भोगकी रुचि शेष नहीं रहती। यह जीवनका विज्ञान है। कामका नाश होते ही वास्तविक माँगकी पूर्ति और भोग की रुचिका नाश होते ही नित्य-योगकी प्राप्ति स्वत: हो जाती है।

प्राकृतिक विधानके अनुसार सुख-दु:ख दिन-रातके समान आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं। आंशिक सुख-दु:ख सभीके जीवनमें होता है। परन्तु सुख दु:ख जीवन नहीं है, अपितु साधन-सामग्री है। साधन-सामग्रीके सदुपयोगमें मानव स्वाधीन है। सुख दु:खियोंकी धरोहर है। हमें प्राप्त सुखके द्वारा दु:खियोंके काम आना है। यह प्रभुका मंगलमय विधान है। इसके आदरमें ही सर्वतोमुखी विकास निहित है। यह विकास दु:खके सदुपयोगसे भी होता है। दु:खका प्रभाव हमें सुख-लोलुपतासे मुक्त कर देता है और फिर हम बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस जीवनसे अभिन्न हो जाते हैं जिसमें अभाव, पराधीनता, अशान्ति एवं नीरवताकी गन्ध भी नहीं है।

अत: जो जिस अंशमें सुखी है, उस अंशमें उसे सेवा करनी ही होगी और जिस अंशमें दु:खी है, उस अंशमें त्यागको अपनाना ही होगा, तभी व्यक्ति और समाजकी अभिन्नता सिद्ध होगी। अभिन्नतामें ही योग, बोध, प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है। सजग मानवके जीवननें भोग और मोह और आसक्तिका कोई स्थान नहीं है। उसे तो कर्त्तव्यनिष्ठ होकर अर्थात् सेवा और त्यागको अपनाकर सदा-सदाके लिए उपयोगी होना है। इस पवित्रतम उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ही मानव जीवन मिला है।

शरणागति-तत्त्व—

शरण सफलताकी कुञ्जी है, निर्बलका बल है, साधकका जीवन है, प्रेमीका अन्तिम प्रयोग है, भक्तका महामंत्र है, आस्तिकका अचूक अस्त्र है, दु:खीकी दवा

है, पतितकी पुकार है। वह निर्बलको बल, साधकको सिद्धि, प्रेमीको प्रेमपात्र, भक्तको भगवान्, आस्तिकको अस्ति, दु:खीको आनन्द, पतितको पवित्रता, भोगीको योग, परतंत्रको स्वातंत्र्य, बद्धको मुक्ति, नीरसको सरसता, मर्त्यको अमरता प्रदान करती है।

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसीके शरणापन्न रहता है, अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एकको शरण हो इच्छाओंकी निवृत्ति एवं आवश्यकताकी पूर्ति कर कृतकृत्य हो जाता है और नास्तिक अनेकको शरण ग्रहणकर इच्छाओंकी पूर्तिमें ही लगा रहता है।

शरणागति भाव है, कर्म नहीं और भाव वर्तमानमें ही फल देता है। शरणागति होते ही सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। शरणागति होनेसे पूर्व प्राणीकी अहंता अनेक भागोंमें विभक्त होती है और शरणागत होनेपर एक हीमें विलीन हो जाती है, तब प्राणीको एक जीवनमें दो प्रकारके जीवनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, एक तो उसका वास्तविक जीवन और दूसरा उसका अभिनय। शरणागतका वास्तविक जीवन केवल शरण्यका प्यार है और अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है। यह नियम है कि अभिनयकर्त्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसे अभिनयमें जीवन-बुद्धि नहीं होती। अभिनयके अन्तमें उस स्वीकृत भावका अत्यन्ताभाव हो जाता है, बस, उसी कालमें शरणागत सब ओरसे विमुख होकर शरण्यकी ओर जाता है।

अब विचार करना यह है कि हमारी शरणागतिका केन्द्र क्या है? केन्द्र वही हो सकता है जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य-जीवन, नित्य-रस एवं सब प्रकारसे पूर्ण एवं स्वतंत्र होनेकी है। अत: हमारा केन्द्र वही हो सकता है जो सब प्रकारसे पूर्ण एवं स्वतंत्र हो। हमें उसीके शरणापन्न होना है।

शरणागत होनेका वही अधिकारी है जो वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग कर अपने लिए नित्य-जीवन एवं नित्यरसकी आवश्यकताका अनुभव करता है। जिस प्रकार बालक जब अपनी इच्छित वस्तुको अपने बलसे नहीं पा सकता, तब विकल हो माँकी ओर देख रोने लगता है, बस, उसी समय माँ अपने ऐश्वर्य एवं माधुर्यसे बच्चेको इच्छित वस्तु प्रदान करती है; उसी प्रकार हमें भी यही करना है कि अपनी सारी प्राप्त शक्तिका पवित्रतापूर्वक ईमानदारीसे उपयोग कर लक्ष्यसे निराश न हों। प्रत्युत अपनी अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न नित्य सत्ताके शरणापन्न हो जायें। जब शरणापन्न हो जाता है तब ऋषि-जीवनका अनुभव कर अपनेमें ही अपने शरण्यको पाता है।

शरणागति दो प्रकारकी होती है, भेद-भावकी तथा अभेद-भावकी। भेद-भावकी शरणागति शरण्य (प्रेमपात्र)की स्वीकृति मात्रसे ही हो सकती है। अभेद-भावकी शरणागति शरण्यके यथार्थ ज्ञानसे होती है। अभेद-भावका शरणागत, शरणागत होनेसे पूर्व ही निर्विषय हो जाता है, केवल लेशमात्र ही अहंता शेष रहती है, जो शरण्यकी कृपासे निवृत्त हो जाती है। भेद-भावका शरणागत, शरणागत होते ही अहंताका परिवर्तन कर देता है। अर्थात् जो अनेकका था वह एकका होकर रहता है, जिस प्रकार लकड़ी अग्निसे अभिन्न होती जाती है उसी प्रकार शरणागतकी अहंता तद्रूप होती जाती है। अहंताके समूल नष्ट होनेपर भेद-भावका शरणागत भी अभेद-भावका शरणागत हो जाता है। वह निरन्तर उसीके प्यारकी प्रतीक्षा करता है, सीमित अहं भावके नि:शेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है।

शरणागत और शरणापन्नमें अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्यके प्रेमकी प्रतीक्षा करता है और शरणापन्न प्रेमका आस्वादन करता है। भेद तथा अभेद-भावके शरणागतमें अन्तर केवल इतना रहता है कि भेद-भावका शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकारके रसोंका आस्वादन करता है और अभेद-भावका शरणागत अपनेमें ही शरण्यका अनुभव कर नित्य एक-रसका अनुभव करता है।

शरणापन्नकी सार्थकता तब है जब शरण्य शरणागत हो जाये, क्योंकि प्रेमीकी पूर्णता तभी सिद्ध होगी जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। शरण्यके माधुर्यका रस इतना मधुर है कि शरणागत, शरणागतका भाव न त्याग करनेके लिए विवश हो जाता है। परन्तु शरण्य शरणागतको स्वयं बिना उसकी रुचिके उसी प्रकार अपनेसे अभिन्न कर लेते हैं, जिस प्रकार चोर बिना इच्छाके दण्ड पाता है।

मानव-जीवनकी सार्थकता शरण्यके शरणापन्न होनेमें ही है। कोई ऐसा दु:ख नहीं जो शरणागत होनेसे न मिटे। शरण्यके शरणागत होते ही नित्य जीवन सुलभ हो जाता है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरण सफलताकी कुंजी है।

शिक्षा और दीक्षा—

शिक्षा मानव जीवनमें सौन्दर्य प्रदान करती है। शिक्षा एक प्रकारकी सामर्थ्य है। यद्यपि सामर्थ्य सभीको स्वभावसे प्रिय है, पर उसका दुरुपयोग मंगलकारी नहीं है। अत: शिक्षाके साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

सामर्थ्यमें वह चेतना नहीं होती जिससे मानव उसका दुरुपयोग न करे। सामर्थ्यके सदुपयोगके लिए प्रकाश दीक्षासे ही मिलता है। दीक्षित मानवकी प्रत्येक चेष्टा लक्ष्यकी प्राप्तिमें ही निहित है। अत: दीक्षाका सच्चा अर्थ होगा-मानव जीवनके चरम लक्ष्यके अनुभवका निर्णय करना। मानव-मात्रका लक्ष्य एक है। इस कारण दीक्षा भी एक है।

दीक्षाके दो अंग हैं—दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करनेपर माँगकी पूर्ति स्वत: होती है। दायित्व पूरा करनेका अविचल निर्णय तथा माँगकी पूर्तिमें अविचल आस्था रखना ही दीक्षा है। इस दीक्षाके बिना कोई भी मानव मानव नहीं हो सकता और मानव हुए बिना जीवन अपने लिए, जगत्के लिए और उसके लिए जो सर्वका आधार तथा प्रकाशक है, उपयोगी नहीं हो सकता।

शिक्षासे प्राप्त सौन्दर्यसे मानव दायित्वको पूरा करता है। दायित्व क्या है? दायित्व वह नहीं हो सकता जिसे पूरा करनेमें मानव असमर्थताका अनुभव करे और वह भी दायित्व नहीं है कि जिसके पूरा करनेमें माँगकी पूर्ति न हो। अपनेपर क्या दायित्व है, इसपर मानवको स्वयं विचार करना है। वह उससे अपरिचित नहीं है। केवल असावधानीसे उसकी विस्मृति हो जाती है और माँगकी पूर्तिमें अविचल आस्था होनेसे माँगकी उत्कट लालसा जाग्रत् होती है, जो दायित्वकी स्मृति जगानेमें समर्थ है। जाने हुए दायित्वका समर्थन-मात्र महत् पुरुषोंसे होता है और उसीका नाम दीक्षा है।

शिक्षा सामर्थ्य है तो दीक्षा प्रकाश। अत: शिक्षाका उपयोग दीक्षाके अधीन होना चाहिए। किसी भी मानवको यह अभीष्ट नहीं है कि सबल उसका विनाश करे, अत: बलका दुरुपयोग न करनेका व्रत, कर्त्तव्य-पथकी दीक्षा है। जिस मानवने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परिस्थितिमें बलका दुरुपयोग नहीं करना है, उसमें स्वत: कर्त्तव्यकी स्मृति उदित होगी, यह दीक्षाकी महिमा है, यह दीक्षा कोई मानव निज विवेकके प्रकाशसे अथवा किसी कर्त्तव्य-निष्ठ मानवसे अपनाये, यह उसकी अपनी स्वाधीनता है; पर दीक्षित न होना भारी भूल है। दीक्षित हुए बिना शिक्षाके द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते हैं। अशिक्षित मानवसे उतनी क्षति हो नहीं सकती जितनी दीक्षारहित शिक्षितसे होती है। इस दृष्टिसे शिक्षितका दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे कर्त्तव्य-पालनमें प्राप्त सामर्थ्यका सद्व्यय होता है जो सुन्दर समाजके निर्माणमें हेतु है।

यह सभीको विदित है कि कर्त्तव्यका आरम्भ और अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त है वह नित्य नहीं है। किन्तु कर्त्तव्यका परिणाम कर्त्ताको राग-रहित करनेमें उपयोगी हैं। रागरहित होनेपर वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिसे असंगता प्राप्त होती है जो विचार-पथकी दीक्षा है, कर्त्तव्य-परायणता सुन्दर समाजके निर्माणमें और असंगता स्वाधीनताकी प्राप्तिमें समर्थ है, पर जिसकी अहैतुकी कृपासे कर्त्तव्यपालनके लिए मूल सामग्री तथा कर्त्तव्यकी स्मृतिके लिए विवेकरूपी प्रकाश मिला, उसमें अविचल आस्था करना विश्वास-पथकी दीक्षा है। विश्वास पथकी दीक्षा विश्वासीको विश्वासपात्रसे अभिन्न कर देती है। इस प्रकार कर्त्तव्य-परायणतासे सुन्दर समाजका निर्माण और असंगतासे स्वाधीनताकी प्राप्ति और आस्था, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागतिसे प्रेमकी जागृति होती है। इतना ही नहीं, कर्तव्यकी पूर्णतामें असंगता और असंगताकी परावधिमें शरणागति स्वत: आ जाती है। बिना इनके स्वार्थ, जड़ता एवं सीमित अहम्-भावका नाश नहीं होता। अत: स्वार्थभाव, जड़ता एवं सीमित अहम्-भावका नाश दीक्षामें ही निहित है।

व्यक्तित्वकी सुन्दरतामें शिक्षित होनेके लिए मानवको शिक्षकोंकी अपेक्षा होती है, पर व्यक्तित्वके मोहके नाशमें दीक्षित होनेके लिए मानवको अपनी ओर देखना होता है। दीक्षाकी पाठशाला एकान्त और पाठ मौन है। शिक्षा अनन्तसे प्राप्त सौन्दर्य है तो दीक्षा अनन्तका प्रकाश है। शिक्षा मानवको उपयोगी बनाती है तो दीक्षा सभीके ऋणसे मुक्त करती है और ऋणसे मुक्त हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश सम्भव नहीं।

❋

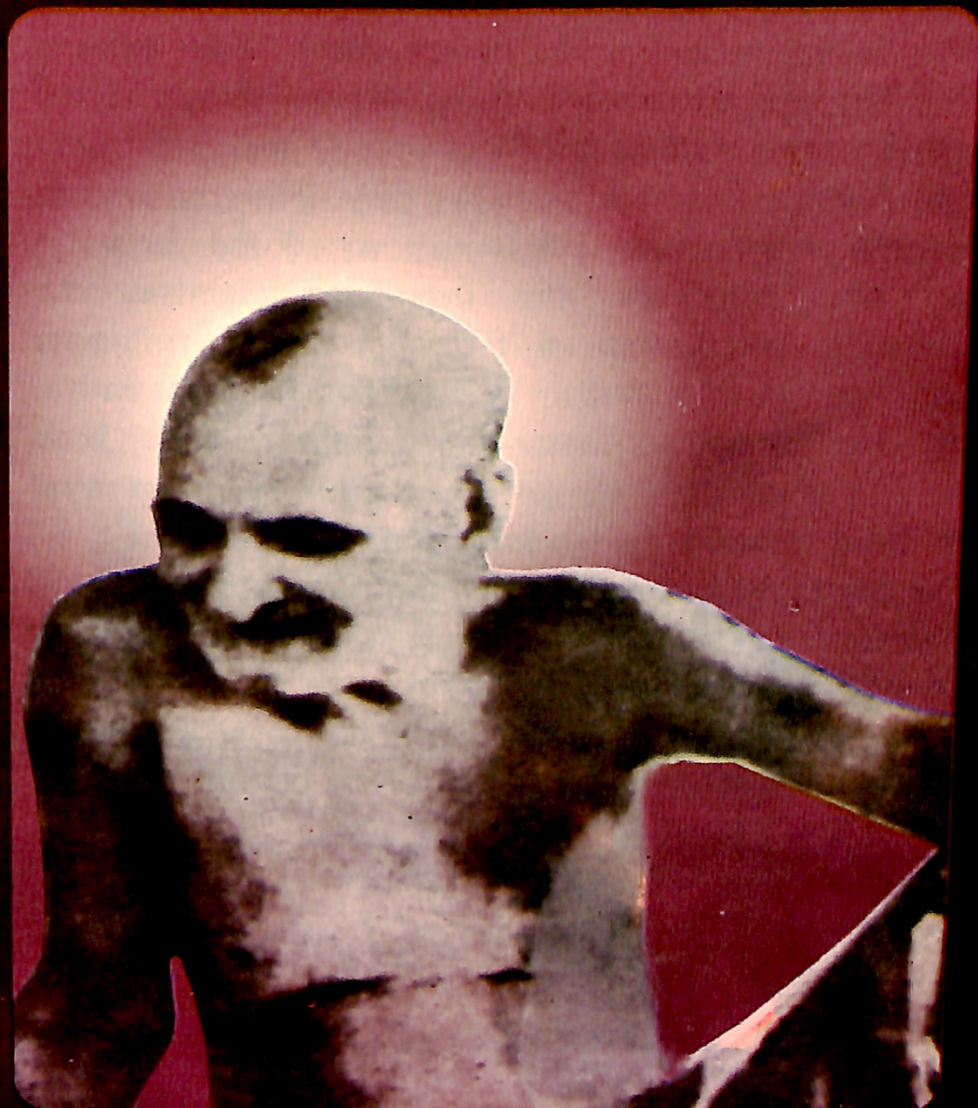

भिक्षुश्री शंकरानन्दजी महाराज

भिक्षु श्रीशंकरानन्दजी महाराज

मैं प्राय: प्रतिवर्ष कनखल जाया करता था। वहाँ श्रीहरिभारती विद्यालयमें, महामण्डलीश्वर (उन दिनों इसी शब्दका प्रयोग किया जाता था) अनेक शास्त्रोंके महान् विद्वान् स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज निवास करते थे और पढ़ाते भी थे। मैं उनसे शांकर भाष्य पढ़ता और विद्यालयके कतिपय लोगोंको पढ़ाया भी करता था। उनमें बरनालाके आत्माराम 'वैद्य', डा० ताराचन्द पर्वतीय, हरिनन्दन शास्त्री, जीवानन्द आदि मुख्य थे।

मेरी अशिष्टता—

मैंने एक दिन स्वामीजीसे पूछा कि यहाँ कोई अच्छे महात्मा रहते हों तो आप बता दीजिये, मैं उनके सत्सङ्गके लिए जाया करूँगा। वे मेरी इस अशिष्टताके प्रश्न पर रुष्ट नहीं हुए। हँसकर बोले—'तुम्हारा अभिप्राय किसी विरक्त महात्मासे है न?' मैंने कहा—'हाँ।' वे बोले—'यहीं पासमें सुरतगिरिके बंगलेके दूसरी ओर अटल अखाड़ेका एक खण्डहर है, उसमें भिक्षु शंकरानन्दजी नामके महात्मा रहते हैं। तुम उनका सत्संग कर आया करो।' यह सन् १९३० के लगभगकी बात है।

उस समयतक सुरतगिरिके बंगलेसे लेकर सड़कतक कोई इमारत बनी हुई नहीं थी। अब सब भर गया है। एक जीर्ण-शीर्ण पुराना घर था। छत कुछ टूटी हुई थी। मधुमक्खी एवं ततैयोंने अपना छत्ता लगा रखा था। धूल-धक्कड़ फैली हुई थी। भिक्षु शंकरानन्दजी उसीमें एक चबूतरेपर टाट बिछाकर रहते थे। शरीरपर लंगोटी मात्र थी। उद्दीप्त ललाट, सिरपर आगेकी ओर बाल नहीं थे। हँसते हुए उन्होंने पूछा—'कैसे आये?' मैंने कहा—'आपके दर्शनके लिए आया।' हँसी और तेज

हो गयी। वे बोले—'आपका दर्शन करो। आप ही आप हो। इसके लिए आने-जानेकी क्या आवश्यकता?' मुझे वेदान्तका संस्कार था। बात अच्छी लगी।

अलमस्त फकीर—

ज्ञात हुआ कि वे चौबीस घण्टेमें एक बार भिक्षाके लिए गाँवमें जाते हैं। केवल एक ही बार खाते हैं। दूसरी बार केवल गंगा-जल पीते हैं। झोली खूँटीपर टँगा रहती थी। एक बड़ा-सा भोलुआ (कुल्हड़) रखा था, उसीसे पानी पी लिया करते थे। वह फूटनेपर ही बदला जाता था। वे सत्संगके अवसरपर प्रायः 'आत्मा' शब्दका ही प्रयोग करते थे, 'ब्रह्म' का नहीं। आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जब मेरे जीवनकी कुछ घटनाएँ उन्हें मालूम पड़ीं तब वे भागवतकी हँसी उड़ाने लगे। भक्ति-भावमें उनकी सर्वथा अरुचि थी। सगुण-साकार या उपासनाकी चर्चा उन्हें पसन्द नहीं थी। मैंने उनसे प्रार्थना की कि महाराज सम्भवतः आपने भागवतका अध्ययन नहीं किया है। मैं आपको थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिदिन सुना दिया करूँगा। प्रार्थना स्वीकृत हुई। मैंने पहले एकादश स्कन्ध सुनाया। उन्हें बहुत अच्छा लगा। फिर सप्तम स्कन्ध सुनाया। प्रह्लादका विवेक, अवधूतकी रहनी, गृहस्थको परमात्माकी प्राप्तिका उपाय आदि सुनकर तो वे भागवतके भक्त बन गये। वे बोले कि इसी लेखकने रास-लीला लिखी है, आश्चर्य है! मुझे वह भी सुनाओ। मैंने धनपति सूरिके अनुसार निवृत्ति-पक्षकी प्रधानतासे रास-लीला सुनायी और श्रीधरस्वामीके अनुसार उसके निवृत्तिपरा होनेको भी युक्ति-युक्त बताया। वे बहुत प्रसन्न हुए और लगभग तीन महीनेतक नियमसे सुनते रहे।

अनुपम दक्षिणा—

जब मैं कनखलसे वाराणसी आनेको हुआ तब उन्होंने मुझे एक दिन अचानक अपनी उस खण्डहर कुटियाके भीतर बुला लिया। वे टाट बिछे चबूतरेपर और मैं नीचे धरतीपर बैठ गया। उन्होंने मुझे सावधान करके कहा कि तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द-घन अद्वय तत्त्व हो। नारायण! तुम चाहे सफेद कपड़ेमें रहो या लालमें, घरमें या बाहर, यह निश्चय कर लो कि मैं जीव नहीं हूँ। यह जीवत्व तो देहाभिमानको नष्ट करके देहातिरिक्तत्वको समझानेके लिए है। कोई चिज्जड़-ग्रन्थि नहीं होती और अचित् नामकी कोई वस्तु भी नहीं होती। कुछ चमत्कार-सा ही हुआ, जब उन्होंने यह कहा कि यह मैं तुम्हें भागवत सुनानेकी दक्षिणा दे रहा हूँ। तब तो मेरा निश्चय और दृढ़ हो गया।

क्योंकि भागवतके अनुसार ज्ञान-सन्देश ही दक्षिणा है। आप आश्चर्य करेंगे कि उस दिनके पश्चात् मुझे यह भ्रम कभी नहीं हुआ कि मैं जीव हूँ। इस विषयका पहला लेख मैंने मेरठसे प्रकाशित होनेवाले 'संकीर्तन' पत्रमें कुछ वर्षोंके पश्चात् लिखा था—'मेरी समस्त समस्याओंका समाधान' अथवा 'आत्मसाक्षात्कार'।

परिचय-सत्यनिष्ठा—

भिक्षु शंकरानन्दजी अहमदाबादके पास किसी छोटे-से गाँवमें ब्रह्मभट्ट वंशमें पैदा हुए थे। वे बाल्यावस्थासे ही सत्यनिष्ठ थे। एक बार जो बात कह देते उसपर दृढ़ रहते और अपनी 'प्रतिज्ञा' का पालन करते। यह बात उनके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी सब जानते थे। जो सत्य-प्रेमी नहीं होगा वह सत्यके साक्षात्कारके लिए तपस्या भी नहीं करेगा। क्योंकि सत्यके ज्ञानके लिए, तपस्या, विवेक-वैराग्य, जिज्ञासा आदि साधनोंकी आवश्यकता होती है। उनकी बुद्धिमें उस समय जो भी बात सत्य रूपसे निश्चय हो जाती उसके लिए वे बड़ा-से-बड़ा त्याग करनेको प्रस्तुत रहते।

होनहार बिरवानके होत चीकने पात—

किसी समय भिक्षुजीके पिताजीने कहा कि बेटा अपनी दुकानके लिए अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, तुम बड़े नगरसे जाकर ले आओ। २५० रुपये दे दिये गये। भिक्षुजी जब अपने घरसे जा रहे थे तो मार्गमें एक साधुओंकी मण्डली मिली वह बगीचेमें पड़ी हुई थी। वेदान्तकी चर्चा हो रही थी। उन्हें वेदान्तके सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्मकी चर्चामें अत्यन्त रुचि हुई और घण्टोंतक ध्यानसे श्रवण करते रहे। सत्संगके अन्तमें महात्माने अपने प्रबन्धकको बुलाया और पूछा कि आज साधुओंके भोजनका क्या प्रबन्ध है? प्रबन्धकने बताया कि क्या-क्या वस्तु वहाँ है और क्या नहीं है। भिक्षुजीने अपने पिताके २५० रुपये उन्हें दे दिये और खाली हाथ घर लौट आये। पिताने पूछा—'सौदा ले आये!' भिक्षुजीने कहा कि पिताजी आपने तो संसारी नाशवान् सौदा मँगाया था, मैं तो उस रुपयेसे परमार्थका सौदा ले आया हूँ—जो अजर-अमर है। उनके दृढ़ निश्चयसे परिचित होनेके कारण पिताजीने कुछ भी नहीं कहा। भिक्षुजीके मनमें, 'प्रज्ञानघन, अद्वितीय ब्रह्म' का चिन्तन चलने लगा।

त्यागका निश्चय—

भिक्षुजी सोचने लगे कि मैं सत्यका इतना आग्रह करता हूँ, परन्तु मुझे असली सत्य परमार्थका तो पता ही नहीं है। हम सभी, प्रत्यक्ष, परोक्ष पदार्थोंको 'न' बोल सकते हैं परन्तु अपनेको तो 'न' बोल ही नहीं सकते। तब क्या

आत्मा ही एक मात्र अकाट्य सत्य है? यदि आत्मा ही सत्य है तो इसके लिए अनात्माका विवेक, उससे वैराग्य और वैराग्यकी दृढ़ताके लिए त्याग करना ही पड़ेगा। त्याग ही वैराग्यकी कसौटी है। वैराग्यके बिना विवेक निर्बल है। त्यागके बिना वैराग्य निर्बल है। त्याज्यका निश्चय विवेकसे होता है। त्याज्य अनात्मा ही होता है। अतः आत्म-सत्यका अनुभव प्राप्त करनेके लिए विवेक-वैराग्य एवं त्याग आवश्यक है।

भीष्म-प्रतिज्ञा—

हृदयमें पूर्वोक्त विचारोंका प्रवाह चल ही रहा था कि भिक्षुजीकी प्रेरणासे उनके पिताजीने सत्यनारायणकी कथाका आयोजन किया। उस दिन सगे-सम्बन्धी, सजातीय-विजातीय, गाँव-गाँवसे आकर इकट्ठे हुए। सत्यनारायणकी पूजा हुई। व्रतकथा पूर्ण हुई। प्रसाद-वितरणके अनन्तर भिक्षुजीने लोगोंसे कहा कि आप लोग थोड़ी देर रुक जाइये। एक सभा-सी जुड़ गयी। भिक्षुजीने सबके बीचमें अपनी चोटी काट दी। यज्ञोपवीत निकालकर हाथमें ले लिया। लोगोंके बीचमें बोले कि परम्परागत आचार-विचारोंके अनुकूल मैंने अबतक अपने धर्मका पालन किया है। परन्तु, इस धर्मके पालनसे मुझे, मेरे लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाय ऐसा विश्वास मेरे हृदयमें नहीं है। अतएव आप लोगोंके बीचमें मैं इसका त्याग करता हूँ और बाल्यावस्थासे ही जिस सत्यसे मैं प्रेम करता आया हूँ, अबतक जिसका पालन किया है, उसके यथार्थ-स्वरूपका साक्षात्कार हुए बिना, बीचमें कहीं भी नहीं रुकूँगा। उनकी यह प्रतिज्ञा सुनकर, उस सभामें उपस्थित एक भी व्यक्तिने उनका विरोध नहीं किया और उनकी प्रतिज्ञाके विपरीत किसीने कोई आग्रह नहीं किया। उनकी सत्यनिष्ठाकी समाजमें इतनी प्रतिष्ठा थी।

सत्यकी खोज—

दूसरे दिन वे साबरमतीके तटपर आकर बैठ गये। 'सत्य क्या है?' इसका अनुसंधान होने लगा। सत्य एकदेशीय नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि स्थान या देशके भेदसे सत्यमें भेद नहीं होता। वह, यहाँ-वहाँ, जहाँ-तहाँ एक-सा ही रहता है। समयके भेदसे भी सत्यमें कोई अन्तर देखनेमें नहीं आता। अब-तब, आज-कल, दिन-रात सत्यको प्रभावित करनेमें असमर्थ हैं। वस्तुओंकी अनेकता भी आकार-प्रकार, विकार-संस्कार, यह सब अकेले-अकेले और मिल-जुलकर भी सत्यमें कोई परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा प्रवर्तन करनेमें अशक्त है। सत्य अधिष्ठान है ज्यों-का-त्यों एकरस। उसके ऊपर

अध्यस्त, विन्यस्त, आरोपित, कल्पित अथवा शास्त्र, बुद्धि एवं आचार्योंके द्वारा थोपी हुई कोई भी वस्तु नाम, रूप आदि उसे किञ्चित् भी कलङ्क-पङ्कसे आवृत नहीं कर सकती। सचमुच 'सत्य' ऐसा ही है।

चिन्तन-धाराका ऊर्ध्वगामी प्रवाह—

ऐसे 'सत्य' का जिसको कभी झुठलाया न जा सके, मिथ्या सिद्ध न किया जा सके, उसका साक्षात्कार अनुभव कैसे हो? यह जिज्ञासुके हृदयका एक ज्वलन्त प्रश्न है। वह 'सत्य' यदि नितान्त परोक्ष हो, तो सर्वथा कल्पित है। यदि प्रत्यक्ष है तो 'ऐन्द्रिक' प्रत्यक्ष अथवा साक्षी-भास्य होनेके कारण जड़ है। यदि सत्य जड़ है तो उसको पानेवाला भी जड़ हो जायेगा। यदि वह किसी युक्ति या वाक्यसे, वृत्तिके घेरेमें आ जाता है तो परिच्छिन्न हो जायेगा। उसका अनुभविता भी वृत्ति-पराधीन ही रहेगा। यदि वह कल्पित है तो 'अकल्पित सत्य' क्या है? इस प्रकार चिन्तनकी धारा 'सत्य' की ओर अग्रसर हुई। वह समुद्रकी ओर बह नहीं रही थी, सुमेरुके उत्तुङ्ग शृंगपर आरुढ़ हो रही थी। दूसरेका चिन्तन, जिज्ञासुका अज्ञान नहीं मिटा सकता। अपना चिन्तन ही अज्ञानावरणको क्षीण करता जाता है। 'सत्य' की किञ्चित् चमक भी लोकत्रयके त्रयकालिक आनन्दसे भी महान् होती है।

यह शरीर जिस उपादानसे बना है, उसके साथ अटूट सम्बन्ध रखता है। मिट्टीसे बना शरीर, मिट्टीसे ही बने अन्नकी अपेक्षा रखता है। रक्त, रस जलपर निर्भर है। ऊष्मा बाह्य तापकी तेज, अग्नि, सूर्यकी अपेक्षा रखती है। प्राणोंको वायु चाहिए। अवकाश आकाशके बिना नहीं होता। यह शरीरमें प्रकाशमान चेतन किसी परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश चेतनके बिना कैसे हो सकता है? जिसको शरीरके पाञ्चभौतिक सम्बन्धोंका भी ठीक बोध नहीं होता, वह इस आत्म-चैतन्यके अलौकिक स्वरूपको कैसे जान सकता है?

नियमकी दृढ़ता—

साबरमतीका वह तट आज भी ज्यों-का-त्यों है। जिसके निकट बैठकर भिक्षुजीने आत्म-चिन्तन किया था। प्राणोंने शरीरकी रक्षाके लिए, क्षुधाकी निवृत्तिके लिए भोजनकी माँगकी। उन्होंने निश्चय किया कि आज अर्थात् विद्वत्-संन्यासके प्रथम दिन जिस पद्धतिके भोजनकी व्यवस्था बनेगी वही आजीवन धारण की जायेगी। थड़ी-ही देरमें एक विरक्त संन्यासी, ग्रामसे भिक्षा लेकर तटपर आये। झोलीमें भिक्षा कुछ अधिक थी। पहले वह अधिक भिक्षा बाँट देनी पड़ती थी। फिर समूची झोलीको नदीमें डुबोकर सब-का-सब खाना

होता हैं। यह संन्यासी के लिए विधान है। संन्यासीने देखा, एक अपग्रही युवा शिखा-सूत्र हीन, तन्मय-सा सामने बैठा हुआ है। उसने पूछा—'क्या तुम मेरी भिक्षाका कुछ अंश ले सकते हो?' युवकने मौन स्वीकृतिसे ग्रहण कर लिया। वही जीवन भरके लिए भिक्षाका नियम बन गया—माधुकरीके द्वारा क्षुधाकी निवृत्ति। रात-दिनमें केवल एक बार। दुबारा इलायची भी नहीं। जल केवल दो बार। वे नियमके इतने पक्के थे कि जीवनके मध्याह्न कालमें भी इसीके अनुसार अन्न-ग्रहण करते थे।

चिन्तन, द्रुत-गतिसे चलता रहा। चिन्तनका मुख यदि बाहरकी ओर हो, देश-काल और वस्तुओंका आदि-अन्त ढूँढ़ने लगे तो अन्धकारके अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। चेतनका साक्षात्कार करनेके लिए प्रवृत्ति नहीं निवृत्ति चाहिए। बाहर नहीं भीतर—चिन्तनके मूल अधिष्ठान, प्रकाशकको, स्पर्श करनेका नहीं, उससे एकताकी ओर ध्यान देना चाहिए। सम्पूर्ण पदार्थोंका मूल, भानात्मक आत्मा। कोई उत्पादक उपादान नहीं। मनको जाने मत दीजिये; अपने पास आने दीजिये। मनमें विषयोंका प्रतिविम्बित मत देखिये, अपना प्रकाश देखिये। जड़ता नहीं, जड़ताका ज्ञान।

विधिवत् संन्यास-ग्रहण—

हाँ, तो उन्हें पर्वतोंकी तलहटीमें, हरे-भरे अरण्यमें गंगाकी पावनी धाराने अपनी ओर आकर्पित कर लिया। वे साबरमतीके तीरसे पैदल चलकर हरिद्वार गंगाजीके तटपर पहुँचे। प्रवाहित धाराके समीप ही बैठ जाइये। वह बह रही है—आप शान्त, तटस्थ, कूटस्थ हैं। प्रकृतिके चञ्चल स्वरूपको देखिये। वह अनेक है, आप एक हैं। वह अनित्य है, आप नित्य हैं। वह दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। उसमें प्रियताका आभास है, आप प्रिय हैं। बिना प्रयत्नके ही स्वरूप स्थिति-सी होने लगेगी। विशेषकर उन दिनों गंगाके तटपर विरक्त 'त्यागियों' एवं जिज्ञासुओंका आना-जाना अधिक होता था। लोगोंने इस युवात्यागीको देखा। कौतूहल हुआ। लोगोंने इनका इतिकृत्य देखा, इतिवृत्त पूछा। कुछ विद्वान् महात्मा मिले। उन्होंने इन्हें परामर्श दिया कि जब आपका वैराग्य, त्याग एवं चिन्तन इतना उत्कृष्ट है, उच्चकोटिका है, तो आप विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण करके इस विद्वत्-संन्यासको वैदिक विधिके अन्तर्गत कर लें। संन्यास किसी आचार्यके द्वारा समय-विशेषमें आरब्ध सम्प्रदाय नहीं है। यह वैदिक आश्रम-व्यवस्था है। इससे जीवन निर्वाह और तत्त्वज्ञानमें भी सुविधा प्राप्त हो जाती है। उन्होंने विद्वानोंकी इस प्रेरणाको अङ्गीकार करके सुरतगिरिके बंगलेमें

विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर लिया और उनका नाम शंकरानन्द गिरि हो गया। चिन्तन चलता रहा। भिक्षाका नियम वही रहा। तभीसे अटल अखाड़ेके खण्डहरमें रहने लग गये थे।

जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी बातें—

कोई भी जिज्ञासु जब सत्यके अनुसन्धानमें लगता है तब उसके सम्मुख विचारकी अनेक विधाएँ एवं सत्यके विविधरूप सामने आने लगते हैं। प्रत्येक प्रश्न अपने समाधानके लिए एक अज्ञात मार्गसे चलने लगता है और कभी-कभी असत्यको ही सत्य मानने लगता है। विचार कान्दिशीक हो जाता है। इससे मुक्त रहनेका उपाय यह है कि पहलेके ऋषि-मुनियोंने जिस रीति-नीतिका अनुसरण किया है, पहले उसको हृदयंगम कर लिया जाय। विचारकी पवित्रतामें शुद्ध आचार तो हेतु है ही, शास्त्रीय मार्गका ज्ञान और प्राचीन जिज्ञासुओंका अनुगमन भी हेतु होता है। विवेक-वैराग्यके साथ, शम, दमादि सम्पत्ति भी चाहिए तथा सत्यके साक्षात्कारके लिए तीव्र अभीप्साकी भी आवश्यकता होती है।

शास्त्र अध्ययन भी दो प्रकारका होता है। एक तो वैध पद्धतिसे—विद्वानोंसे परम्परागत अध्ययन। दूसरा होता है तीव्र मुमुक्षासे गुरुके चरणोंमें शरणागत होकर आत्मा एवं ब्रह्मके स्वरूप तथा एकताके बोधक शास्त्रोंका श्रवण। मुमुक्षु जिज्ञासुको यह जानना आवश्यक है कि शास्त्रोंके दो रूप हैं।

१. जो अपूर्व वस्तुको उत्पन्न करनेकी विधिका प्रतिपादन करते हैं। जैसे—यज्ञ-यागादिका। इनसे प्रयत्न-साध्य सीमित फलोंकी उत्पत्ति होती है। इनका जिज्ञासुके लिए केवल इतना ही उपयोग है कि वे उसके अभीष्ट साध्य वस्तुका नश्वर रूप प्रकट कर दें और सत्यके जिज्ञासुको उससे वैराग्य हो जाय। वह समझने लग जाय कि कृतक या बनावटी पदार्थ कभी-न-कभी मिट जाते हैं। उनकी एक सीमा होती है।

२. शास्त्रका दूसरा प्रकार वह होता है जो वस्तुतः सर्वदा विद्यमान, एकरस परमार्थ-वस्तुपर जो अज्ञानका आवरण-सा प्रतीत होता है, उसको निवृत्त कर दे और नित्य-प्राप्त वस्तुकी प्राप्ति-सी करा दे। ठीक मार्ग-दर्शन तभी होगा जब इसके लिए सन्त-सद्गुरुके द्वारा वेदान्त-शास्त्रका श्रवण-मनन किया जाय।

निरभिमानता—

भिक्षु शंकरानन्दजीने हरिद्वार, 'कनखल' के अनेक महात्माओंसे श्रुति एवं

दर्शन-शास्त्रोंका अध्ययन किया। वे अध्ययन करनेके लिए किसीके भी पास चले जाते थे। उन्हें अपनी श्रेष्ठताका कोई अभिमान नहीं था। अभिमान जिज्ञासुको उत्तम ज्ञानसे वञ्चित रखता है। उन्होंने श्रीमंगलगिरिजी महाराजसे न्यायशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया। वेदान्त-शास्त्रकी एक-एक प्रक्रियाकी जानकारी प्राप्त की। एकान्तमें बैठकर मनन-निदिध्यासन करने लगे।

लक्ष्यकी ओर बढ़ती चिन्तन-धारा—

'दृश्यमान' प्रपञ्च परिवर्तनशील है। नित्य नया विकार, नित्य नया संस्कार। वृक्षमें लगा फल बढ़ता है, पकता है, सड़ता है और नष्ट हो जाता है। शरीरकी भी यही दशा है। झरनेकी धारा वही-वही दिखती है, परन्तु प्रत्येक क्षणमें कितनी नयी धाराएँ आती हैं और पुरानी नष्ट हो जाती हैं। फिर इस प्रपञ्चमें भोग्य क्या है? 'मैं वही भोग भोग रहा हूँ'—यह विकल्पमात्र है। न विषयोंमें स्थायित्व है, न इन्द्रियोंमें नित्य सामर्थ्य है, न मनमें सर्वदा रहनेवाली रुचि है और न तो भोक्तामें नित्य जागरण है। सुषुप्ति भोक्ताको भी शान्त कर देती है। 'ऐसी' स्थितिमें भोक्ता-भोग्यका भाव निस्सार है।

दृश्य पदार्थोंमें अस्ति-अस्तिका पृथक्-पृथक् भान, उनकी खण्डरूपताका ही परिचायक है। वे अपने प्रकाशके लिए आत्म-चैतन्यकी अपेक्षा रखते हैं, अत: वे जड़ हैं। उनके साथ तादात्म्य करके मैं भी जड़-सा हो जाता हूँ! दृश्य वस्तुमें कितनी भी दिव्यताकी कल्पना की जाय, वह प्रकाश्य होनेसे जड़ रहेगी; उसका भानाभान पराधीन रहेगा। 'ऐन्द्रियक' प्रत्यक्ष होनेपर 'कादाचित्क' खण्ड-खण्ड, दैशिक एवं नश्वर ही रहेगी। 'मानस-प्रत्यक्ष', मनोराज्य, स्वप्न तथा गन्धर्वनगरके समान रहेगा। सुषुप्तिकालमें इनका अज्ञान रहेगा। परोक्षकी कल्पना करनेपर अज्ञात रहेंगे—इनके होनेका अनुमान निर्मूल होगा। उन्हें सुनकर विश्वास करना पड़ेगा। कल्पना भी केवल साक्षी-भास्य होगी। 'ऐसी' स्थितिमें दृश्यमें सत्यको ढूँढ़ना, बिना भित्तिके चित्र या आकाश-कुसुमकी माला गूँथनेके समान है। जब अन्यके रूपमें सत्यका साक्षात्कार-सा प्रतीत हो तो भी भ्रममात्र ही होगा। तब आत्माके अतिरिक्त दूसरा कोई सत्य नहीं हो सकता। आत्माकी सत्ताके बिना ईश्वर, जीव, जगत्, कारण-कार्य, वेदशास्त्र, गुरु, शरीर आदिकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। अत: प्रतीतिका जो मूल स्वरूप एवं प्रकाशक आत्मचैतन्य है, वही सत्य होना चाहिए।

लक्ष्य-प्राप्ति : 'सत्य' का साक्षात्कार—

क्या सत्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है या ज्ञानसे सत्यकी उत्पत्ति? जिसकी

उत्पत्ति होगी उसका प्रलय भी होगा। उत्पत्ति-प्रलयशील पदार्थ, अनित्य तथा मिथ्या होगा। न वह आत्मस्वरूप ज्ञान होगा और न सत्यस्वरूप अधिष्ठान होगा; 'सत्य', जड़ एवं अपने 'अभावके' अधिकरण ज्ञानमें प्रतीति-मात्र होगा। दोनों न हों तो शून्यका साक्षी कौन होगा? अत: साक्षी ही सत्य अर्थात् अबाधित होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि साक्षीका अनुभव कैसे हो? 'यह साक्षी है', ऐसा अनुभव तो वदतो-व्याघात है। 'वह साक्षी है', यह एक कल्पना है। यदि मैं ही साक्षी हूँ तो 'मैं' की परिच्छिन्नता और साक्षीकी परोक्षता असम्भव है। 'ऐसी' स्थितिमें आत्मसत्य ही ज्ञान-स्वरूप अद्वितीय सत्य है। हाँ, यही तो महावाक्योंका तात्पर्य है। फिर यह बोध महावाक्यसे ही क्यों हो? 'तत्' तथा 'त्वं' पदार्थकी एकताका, अखण्डताका बोधक जिस किसी भाषाका जो भी वाक्य हो, वह 'तत्' की परोक्षता एवं 'त्वं' की परिच्छिन्नता तो बाधित कर ही देगा। केवल अखण्डार्थका बोध ही अपेक्षित है, वह किसी भाषामें भी तत्-त्वं पदार्थके अभेदका बोधक अर्थात् भेदभ्रांतिका निवर्तक होना चाहिए। आश्चर्य है! आश्चर्य है!! अपना आत्मा अद्वितीय परमार्थ सत्य है। आत्मा अर्थात् अद्वितीय ज्ञान। सत्य अर्थात् कभी बाधित न होनेवाला। कहाँ, किसको, कौन ढूँढ़ रहा था; नित्य-प्राप्तकी प्राप्ति चाह रहा था। बस, अब कोई कर्त्तव्य, प्राप्तव्य, त्यक्तव्य तथा ज्ञातव्य नहीं है। अज्ञानकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष-स्वरूप है। आत्म-सत्य ही परमानन्द है।

भिक्षु शंकरानन्दकी वैराग्य एवं बोधकी प्रतिष्ठा फैलने लगी। क्योंकि आस-पास जो विद्वान् थे। वे विरक्त नहीं थे। जो विरक्त थे वे विद्वान् नहीं थे। यथार्थ ज्ञान एवं यथार्थ वैराग्य प्राय: एक साथ ही रहते हैं। उपरति हो तब तो कहना ही क्या! साधुओं और जिज्ञासुओंका मुख अटल अखाड़ेके उस खण्डहरकी ओर गया। भिक्षुजी कोई प्रवचन-उपदेश नहीं करते थे। परन्तु, जिज्ञासुओं की शंकाओंका समाधान करते थे। कोई-कोई, विचारसागर पढ़नेके लिए भी आने लगे। इन्हीं दिनों, सर्व-शास्त्रोंके महान् विद्वान् **महामण्डलेश्वर** श्रीभागवतानन्दजीके संकेतपर मेरा भी वहाँ आना-जाना होने लगा था और उनका अनुग्रह प्राप्त हुआ था।

केवल आत्म-चिन्तन—

मैं प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म ऋतुमें कनखल जाता था। अध्ययन, अध्यापनके अतिरिक्त भिक्षुजीका सत्संग होता। वे कर्म-उपासना और योगका परम्परासाधनके रूपमें समर्थन नहीं करते थे। भिक्षुजी केवल सत्संग, विचार

एवं चिन्तनसे ही तत्त्व-ज्ञानका प्रतिपादन करते थे। इसका प्रभाव एक ओर तो जिज्ञासुओंपर पड़ा कि हमें बिना साधन-विशेषके ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जायेगा; दूसरे जो वेदान्ती, उपासना तथा योगका उपदेश करके शिष्य बनाया करते थे और समझाते थे कि बादमें तत्त्वज्ञान हो जायेगा, उनके पास सत्संगियोंका आना-जाना कम होने लगा। इसकी मठोंमें प्रतिक्रिया हुई। मठपति लोग इनका विरोध करने लगे। कुछ सत्संगी यहाँ-वहाँ दोनों जगह जाते तथा इनका खण्डन उनसे सुनते और उनका खण्डन इनसे सुनते। बात बढ़ती गयी। कुछ लोग इस प्रयत्नमें लगे कि भिक्षुजी यहाँसे चले जायें। आँख बचाकर गुण्डे लोग सत्संगके स्थानपर मल-मूत्र त्याग कर जाते। हमलोग उसकी सफाई कर लेते।

दोषका पूर्णतः निवारण—

एक दिन कोई नये सत्संगी पहले आ गये। उन्होंने देखा सत्संगके स्थानपर मल-त्याग किया हुआ है। वे चुपचाप बालू उठाकर ले आये और उसपर डाल दिया। सत्संगके समय जब लोग आये और वहाँ बैठने लगे तो एक सज्जन उस बालूपर ही बैठ गये। उनके वस्त्र खराब हो गये। भिक्षुजीने कहा कि दोषको ढँकना नहीं चाहिए। उसका पूर्णतः निवारण कर देना चाहिए नहीं तो वह फैलता है और दूसरोंको भी मलिन बनाता है। बात आयी-गयी हो गयी। वैराग्य तथा तत्त्वज्ञानकी चर्चा विशद-रूपसे बढ़ती गयी। उनका कहना था कि वैराग्यवान् जिज्ञासुको बोध होनेमें कोई विलम्ब नहीं होता। एक ही प्रतिबन्ध है—वैराग्यकी न्यूनता। वैराग्यवान्के हृदयमें सत्यकी जिज्ञासा हो ही जाती है।

वात्सल्य एवं विरक्तिकी पराकाष्ठा—

जब मैं उसके बादवाले ग्रीष्म-ऋतुमें गया तो भिक्षुजी मौन थे। न कोई सत्संग था, न कोई हलचल। उस खण्डहरमें चार अङ्गुल ऊँची धूल पड़ी हुई थी। ततैयोंने छत्ते लगा रखे थे। मधुमक्खियाँ भी थीं। मैंने उनसे पूछा कि मैं यह धूल उठाकर बाहर फेंक दूँ। झाड़ू लगा दूँ। किरासिन का तेल छिड़ककर हड्डे और ततैयोंको उड़ा दूँ? उन्होंने मना कर दिया। मैंने निवेदन किया कि मैं तो आपके सत्संगके लिए ही वाराणसीसे आया हूँ। आप मौन हैं, इसलिए अब मैं लौट जाऊँगा। वे अपने मौनका नियम छोड़कर बोल पड़े—'देखो! मैं जानता हूँ कि यह टूटा-फूटा खण्डहर शरीर, प्रतीयमान कोई भी वस्तु, न मैं हूँ, न मेरा है, न सत्य है। परन्तु, ये चीटियाँ, मधुमक्खियाँ, ततैये आदि प्राणी तो इसी स्थानको अपना घर समझते हैं और इनकी पूरी ममता है। अतः इसके मालिक

तो वे ही हैं, मैं नहीं हूँ। यहाँसे मेरा निकल जाना अच्छा है, उनको निकालना अच्छा नहीं है।' मुझे उनकी बोली सुनकर हर्ष हुआ। भिक्षुजीका वात्सल्य देखकर हृदय आनन्दसे भर गया। सम्भव है आलोचना-प्रत्यालोचनसे बचनेके लिए ही उन्होंने मौन ले लिया हो।

एक वर्ष बाद, पुनः जब मैं कनखल गया तो वे उस खण्डहरमें नहीं थे। बड़ी कठिनाईसे उनका पता चला। वे बड़ी नहरसे निकलनेवाले बम्बेके पास एक छोटे-से बगीचेमें रह रहे थे। अत्यन्त कृश एवं रुग्ण थे। उनसे मिलनेपर ज्ञात हुआ कि किसी ईर्ष्यालु व्यक्तिने भिक्षामें उन्हें विष दे दिया था और लोगोंने उनको उस खण्डहरमें-से निकालकर सुरक्षित स्थानपर रख दिया था। वे उसके बाद छः महीनेतक वहीं बगीचेमें रहे तथा परवलके अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते थे। पानी भी परवलका ही पीते थे। परवल (संस्कृत-शब्द 'पटोल') में विष पचानेकी अद्भुत शक्ति है। मैं यथा-शक्ति उनकी सेवा करता रहा। धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे। वे कहा करते थे—'इस मिथ्या शरीरका तो अपने आप ही त्याग हो जाता है। इसके त्यागका प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? रहे-रहे, जाये-जाये। इसको रखना एवं त्यागना दोनों ही अज्ञान है। उस विष-ग्रस्त अवस्थामें भी उनका खल्वाट ललाट शीशेकी तरह चम-चम चमकता था। मुखपर प्रसन्नता खेलती रहती थी। बात-बातमें विनोद करते थे। बादमें उनके पास दूसरे सम्प्रदायोंके सन्त भी प्रश्नोत्तरके लिए आया करते थे।

उसके बादवाले वर्षमें जब मैं गया तो वे एक झोलेमें लिखने-पढ़नेकी सामग्री लेकर कनखलसे दक्षिण दिशामें, छोटी नहरके किनारे कहीं मिले। एक जानकार सज्जन, मुझे उनके पास ले गये थे। मैं तर्क-वितर्क करता और वे न्यायशास्त्रके अनुसार पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग करके उसका खण्डन करते। एक दिन प्रसंगमें उन्होंने मुझसे कहा कि जैसा तुम कह रहे हो उससे तो बौद्ध-मतकी प्राप्ति होती है। मैंने कहा--'मुझे मत-मतान्तरमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि वही सत्य हो तो मैं स्वीकार करनेके लिए तत्पर हूँ।' इसपर वे बहुत प्रसन्न हुए कि हाँ, 'ऐसा' ही होना चाहिए। जिज्ञासु यदि दुराग्रह करेगा तो उसका 'विपर्यय' कभी निवृत्त नहीं हो सकता। इसके बाद उन्होंने श्रुति-अनुकूल युक्तियोंके द्वारा मेरे प्रश्नका समाधान कर दिया। अब वे भिन्न-भिन्न वृक्षोंके नीचे रहने लगे थे। कभी कहीं मिले, कभी कहीं। वर्षा हुई, भींग गये। ज्वर चढ़ आया, पर वे अपने हठपर अडिग थे। जब मूर्च्छित होने लगे तब उन्हें

बलात् उठाकर श्मशान घाटके पास एक बड़े मकानके कमरेमें लाया गया। वह मकान बहुत दिनोंसे खाली पड़ा था। बहुत मजबूत था, सुरक्षित था। उस कमरेमें पहुँचनेके लिए दो-तीन दरवाजे पार करने पड़ते थे। कमरा हवादार था। दूर-दूर तक गंगाजीका दर्शन होता था। अच्छे हुए, तब उसमें रहना उन्होंने स्वीकार कर लिया। रोग और वृद्धावस्थाके कारण शरीर निर्बल हो रहा था। परन्तु, उनकी वाणी में व्यंग, हँसी, दृढ़ता टपकती रहती थी। भिक्षा भी भक्तलोग वहीं ले आते थे। हम लोगोंको भी उससे बहुत प्रसन्नता हुई। मैं 'कल्याण' के सम्पादन-विभागमें रहा। बादमें संन्यासी हो गया। परन्तु, उनके पास आना-जाना, प्रेम-सम्पर्क ज्यों-का-त्यों बना रहा।

इधर बीचमें उन्होंने मठियों एवं मण्डलियोंके विरुद्ध कई पुस्तकें लिख दी थीं और वह सब प्रकाशित हो गयी थीं। संन्यासियोंके मनपर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। अधिकांश उनसे रुष्ट हो गये। जब लोगोंको ज्ञात हुआ कि संन्यासी लोग इन्हें पसन्द नहीं करते तब कम्युनिस्ट, आर्यसमाजी एवं दूसरे सम्प्रदायके साधु इनके पास आने-जाने लगे और इन्हें उत्साहित भी करते। मेरा अनुमान है कि पुस्तकोंके प्रकाशनकी व्यवस्था भी ऐसे ही लोगोंने की थी।

मेरी धृष्टता—

इसमें सन्देह नहीं कि वे मुझसे बहुत प्रेम करते थे। परन्तु मुझे उनका यह विरोध-कार्य पसन्द नहीं था। अतः मैंने एक दिन उनसे कहा—'आप इनकी निन्दा न करें तो अच्छा है।' वे हँसकर बोले—'तुम ऐसे लोगोंका पक्ष क्यों लेते हो?' मैंने कहा—'उनकी निन्दा नहीं होगी, यदि प्रशंसा होगी तो लोगोंके हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ेगी।' वे बोले—'मैं निन्दा इसलिए करता हूँ कि पाखण्डियोंके प्रति लोगोंके हृदयमें अन्धविश्वास न रहे। वे भूलें-भटकें नहीं। साधनाके मार्गपर अग्रसर हों।'

मैंने एक दिन कहा—'आप जो लोगोंके बारेमें निन्दाके प्रवचन करते हैं, वे द्वेषसे प्रेरित हैं।' वे ठहाका मारकर हँसने लगे और बोले—'कोई भी व्यक्ति सोचकर, बैठकर, खड़े होकर, क्रोधमें, व्यंगमें कैसे बोलता है, इससे क्या? वह जो बोल रहा है, वह सत्य है कि नहीं। यदि उसका वचन यथार्थ है, सत्यका बोध करानेवाला है, तो वक्ताकी स्थिति और वचनकी भाषा देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं जो कहता हूँ वह सत्य है, इसकी जाँच-पड़ताल कोई भी कर सकता है।' मैंने बड़ी ढिठाईसे मुस्कराकर कहा—'मुझे तो आपका कहा झूठ लगता है।' वे हँसकर बोले—'तुम सत्य बोलकर

बताओ।' वे समझाने लगे कि परमार्थ-दृष्टिसे जो मैं कहता हूँ, वह भी झूठ है और जो तुम कहते हो वह भी झूठ है। झूठ-सचका भेद, जबतक व्यवहार है, तबतक रहता है और उसको मानना भी हितकारी है। यही भेद जिज्ञासुको अभेदतक पहुँचाता है।

मैं और सुदर्शनसिंह 'चक्र' किसी प्रसिद्ध साधुके पाससे लौटकर भिक्षुजीके पास आये थे। उनके पूछनेपर लोगोंने बताया कि जिनके पास हमलोग गये थे, उन्होंने अपने जीवनके सम्बन्धमें बताया। हम पूछते थे उनसे 'ब्रह्माकार वृत्ति' तथा 'जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख' और वे बताते थे कि किस-किस राजाने हमारा क्या-क्या सत्कार किया। हमलोग भिन्न-भिन्न रीतिसे प्रश्न करें और वे तुरन्त अपने अभिनन्दन-पत्रोंकी चर्चा शुरू कर दें। इसी प्रसङ्गमें उस साधुने बताया कि हम हिमालयमें घोर तपस्या कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण मेरे सामने प्रकट हुए। उन्होंने कहा 'तुम्हारा तप' अब पूरा हुआ। अब यह गीताकी पुस्तक लो और जाकर लोगोंमें इसका प्रचार करो और लोक-संग्रह करो। यह सुनकर मेरे मनमें आया कि भगवान्ने इन्हें किस प्रेसकी छपी पुस्तक दी है। भिक्षुजी बोल पड़े—'मुझे भी भगवान् श्रीकृष्णजीके दर्शन हुए। उन्होंने मुझसे कहा—मेरा नाम लेकर गीता देनेकी बात करनेवाला साधु सर्वथा बेईमान एवं झूठा है। तुम लोगोंमें जाकर उसकी धूर्तता प्रकट कर दो। मैंने भिक्षुजीसे पूछा—'आप ऐसा निरा गप्प क्यों हाँकते हैं?' वे हँसकर बोले—'साधक-बाधक सब समसत्ताके ही होते हैं। स्वप्नकी प्यास स्वप्नके जलसे ही बुझती है और जाग्रत्की प्यास जाग्रत्के जलसे। झूठ, झूठसे ही कटता है। न वे प्रमाणित कर सकते हैं कि उन्हें कृष्ण-दर्शन हुआ है और न मैं ही। उनकी भी कल्पना, हमारा भी जल्पना सारा वेदान्त अज्ञानमूलक कल्पनाओंको, शास्त्रीय कल्पनाओंके द्वारा ही काटता है।'

स्वतन्त्र चिन्तन—

मैं 'कल्याण' के सम्पादन विभागमें रहते समय भी जब सेठ जयदयाल गोयन्दका के सत्सङ्ग के दिनों में स्वर्गाश्रम जाता—तो भी मनमें उनसे (भिक्षुजीसे) मिलनेकी ही लालसा रहती। उन्हें 'कल्याण' का यह प्रचार पसन्द नहीं था कि बात-बातमें भगवान् दर्शन देने आ जाते हैं। उनका कहना था कि इन बातोंसे स्वतन्त्र चिन्तनके उदयमें बाधा पड़ती है और मनुष्य पाखण्डियोंके प्रति अन्धविश्वासके गर्तसे निकल नहीं पाता है।

संन्यासी होनेके पश्चात् भी मैं भिक्षुजीके पास प्रायः ही जाया करता।

करॉंचीके हेमनदास जो वेदान्त के अच्छे विद्वान् थे और 'प्राच्य दर्शन समीक्षा' के लेखक स्वामी श्रीशान्तिनाथजी महाराजके सेवक थे, भिक्षुजीके पास आया करते थे। उनके साथ गम्भीर 'तत्त्व-चर्चा' हुआ करती थी। हेमनदासजी मुझसे बहुत प्रेम करते थे एवं भिक्षुजी और शान्तिनाथजीके विचारोंकी समीक्षा किया करते। शान्तिनाथजीकी विशेषता यह थी कि भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें जो पूर्व पक्षकी युक्तियाँ हैं, उनका संग्रह कर लेते थे। उत्तर पक्ष नहीं लेते थे। अत: खण्डनोंका संग्रह हो जाता था। मण्डन बेचारे धरे रह जाते थे। मैं उनसे १-२ बार मिला। साक्षीके अबाधित होनेके सिद्धान्तपर, मेरा और उनका वाद-विवाद हुआ। परन्तु, उनको बहुत ही शीघ्र क्रोध आ जाया करता था और विचार बन्द हो जाते थे। भोजा भगत भी 'विचार-सागर' के अच्छे ज्ञाता थे, जो भिक्षुजीके पश्चात् वृन्दावन आ गये।

ऋषिकेशमें वेदान्तके बहुत बड़े स्वामी स्वरूपानन्दजी थे। वे भिक्षुजीके पास बारम्बार आया करते और अच्छा सत्सङ्ग जमता था।

चेतनदेवजीकी कुटिया—

संन्यासी-मण्डल मुझसे तो सन्तुष्ट था, परन्तु भिक्षुजीसे रुष्ट था। मैं किसी संन्यासीके स्थानमें ठहरता तो उन लोगोंको मेरा भिक्षुजीके पास आना-जाना पसन्द नहीं आता। अत: मैंने श्रीचेतनदेवजीकी कुटियामें ठहरना शुरू कर दिया। वहाँ मेरे लिए ठहरनेका विभाग अलग था। भोजन भी अलगसे बन जाता था और वहाँके महन्त श्रीगुरुमुखदासजी मुझपर बहुत श्रद्धा व प्रेम करते थे।

शास्त्रार्थ चुनौती—

इन्हीं दिनों भिक्षुजीने एक शास्त्रार्थकी चुनौतीके रूपमें परिपत्र प्रकाशित कर दिया। अब वह पर्चा तो मेरे पास नहीं है। परन्तु जहाँतक स्मरण है, उसमें तीन बातें मुख्य थीं। (१) तत्त्वज्ञान होनेके पूर्व, अन्त:करण पूर्णरूपसे शुद्ध हो, यह नियम ठीक नहीं है। (२) केवल औपनिषद महावाक्योंसे ही तत्त्वज्ञान हो सकता है, यह नियम भी ठीक नहीं है। किसी भी भाषाके अखण्डार्थ- बोधसे, तत्वज्ञान हो सकता है। (३) तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात्, ज्ञानी पुरुष शास्त्रोक्त विधि-निषेधके घेरेमें ही रहेगा, ऐसा मानना वेदान्त-शास्त्रके विरुद्ध है।

जब मैं उनके पास गया, पूछा—'यह आपने क्या किया?' वे बोले कि पण्डितोंका मस्तिष्क कुछ काम करने लगेगा और जिज्ञासुका उत्साह बढ़ेगा। वे धीरे-धीरे कई दिनों तक अपना अभिप्राय समझाते रहे।

अन्त:करण-शुद्धि कितनी अपेक्षित है?

अन्त:करणमें तीन दोष माने गये हैं। मल, विक्षेप एवं आवरण। इनमें आवरणकी निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञानसे ही होती है। ऐसी स्थितिमें तत्त्वज्ञानसे पूर्व आवरण-भंग नहीं हो सकता। आवरणके रहते अन्त:करणको पूर्ण शुद्ध नहीं माना जा सकता। और भी—मल, विक्षेपकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान होनेके पूर्व, क्षण-दो क्षण या वर्ष-दो वर्ष कितने समयसे रहनी चाहिए अथवा होनी चाहिए, इसकी कोई मर्यादा नहीं है। तत्त्वज्ञानके अव्यवहित-पूर्वक्षणमें ही न! उसी एक क्षणसे जब प्रयोजन-पूर्ति हो जाती है तब तत्त्वज्ञानके उत्तर क्षणमें पूर्व-पूर्व वासनाओंका प्रवाह होता है कि नहीं? यदि होता है तो भले ही वे वासनाएँ बाधित हों, परन्तु अन्त:करणमें अशुद्धिकी धारा बहती ही रही। फिर तत्त्वज्ञानके पूर्व अन्त:करण शुद्ध हो गया तो यह अशुद्धियाँ कहाँसे आयीं? श्रीविद्यारण्य स्वामीने जीवनमुक्ति-विवेकमें तत्त्वज्ञानके अनन्तर अभ्यासकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि किसी-किसीको वासनाक्षय, मनोनाशके साथ ही तत्त्वज्ञान होता है, तो किसी-किसीको पहले तत्त्वज्ञान एवं पीछे वासनाक्षय, मनोनाश होता है। कृतोपास्ति एवं अकृतोपास्तिका भी अन्तर पड़ता है। तत्त्वज्ञानके पश्चात् ज्ञानरक्षा, तप, विषमवादाभाव दु:ख-निवृत्ति एवं जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखका अनुभव करनेके लिए अभ्यासकी आवश्यकता है। यदि अन्त:करण पूर्णरूपेण शुद्ध होनेपर ही तत्त्वज्ञान होता है, तो उसके पश्चात् अभ्यास करनेकी ही क्या आवश्यकता होती। इस सम्बन्धमें 'त्रिपुरा-रहस्य' के उस राजाका दृष्टान्त भी ध्यान देने योग्य है, जिसको पतित दशामें भी तत्त्वज्ञान हो गया था। योगवासिष्ठ भी देखिये!

ज्ञानमें भाषा-भेद बाधक नहीं—

यह निश्चित है कि नित्य-परोक्ष वस्तुका ज्ञान वाक्यसे ही होता है और वह परोक्ष ही होता है। इसी प्रकार नित्य-अपरोक्ष वस्तु भी यदि अज्ञात हो तो उसके अज्ञानकी निवृत्ति 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्यसे होती है और वह अपरोक्ष ही होता है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अखण्डार्थका बोधक है, यह तो ठीक है—परन्तु, यदि जिज्ञासुको किसी भी भाषामें बोलकर अखण्डार्थका बोध कराया जा सके तो उसमें क्या आपत्ति है? जिज्ञासुके हृदयमें ऐक्याकार-वृत्तिका क्षणमात्रके लिए उदय ही अभीष्ट है। वेदान्तोंमें जिन्हें वेदाध्ययनका अनधिकारी माना गया है, उन्हें भी इतिहास-पुराण एवं भाषाग्रन्थोंके द्वारा तत्त्वज्ञान होना माना गया है। भाषा-भेद अकिञ्चित्कर

है। ज्ञान किसी भाषासे ही उसमें वेद-वाक्य अथवा संस्कृतका ही नियम नहीं हो सकता।

विधि-निषेधका वास्तविकतासे सम्बन्ध नहीं—

जब पाप-पुण्यका कर्तृत्व, सुख-दुःखका भोक्तृत्व, स्वर्ग-नरक आदिमें गमनागमनरूप संसारित्व तथा परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्ति निवृत्ति हो जाती है, तब विधि-निषेध किस कर्त्ताको अपना आश्रय बनायेगा और उसका नियामक कौन होगा? अतएव उसमें जितनी भी प्रवृत्ति या निवृत्ति दिखायी पड़ेगी सब आभास-मात्र होगी एवं फलके उत्पादनमें अक्षम होगी। अतएव ज्ञानी पुरुष चाहे जैसे भी रहे वह परमात्मामें ही रहता है। श्रुति कहती है तत्त्वज्ञानीको पुण्य-पाप नहीं लगते। वह सुकृत-दुष्कृत दोनोंका विधूनन कर देता है। पूर्वार्द्धका विनाश हो जाता है एवं उत्तरार्द्धका आश्लेष नहीं होता। पुण्यकी भी यही दशा होती है। कर्म और उसके फलकी गतिविधि, अज्ञानीके लिए अज्ञानकी दृष्टिसे ही है, वास्तविकतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह तो भिक्षुजीकी और मेरी बात हुई।

पञ्चपुरीमें इस बात पर वाद-विवाद छिड़ गया और शास्त्रार्थकी चुनौतियाँ भी दी गयीं। समय भी निश्चित हुए। परन्तु, कोई शास्त्रार्थ नहीं हो सका। समयपर कोई आया-गया नहीं। यह बात यहीं समाप्त हो गयी।

सभी साधन समादृत—

श्रीशंकर-सम्प्रदायकी यह विशेषता है कि वह अधिकारीकी योग्यताके अनुसार सभी साधनोंको स्वीकार करता है। धर्म, उपासना तथा योग, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए उपयोगी हैं। साधनका क्रम स्वीकार न किया जाय, तो सम्प्रदायकी परम्परा चल नहीं सकती। इसीसे विवेक-वैराग्य, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षाको बहिरंग साधनके रूपमें मान्य किया गया है। करणकी शुद्धि बहिरंग है, लक्ष्यकी शुद्धि अन्तरंग है। श्रवण आदि लक्ष्य-शुद्धिके लिए हैं। लक्ष्यके स्वरूपका अज्ञान तद्-विषयक श्रवणसे निवृत्त होता है। संशय, विपर्ययकी निवृत्ति, मनन; निदिध्यासनसे होती है। उत्तम अधिकारी श्रवण मात्रसे ही कृतार्थ हो जाता है। प्रमाण-प्रमेय विषयक संशय-विपर्यय हो तो मनन-निदिध्यासनसे दूर हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें भिक्षु शंकरानन्दजीकी घोषणा विस्फोटक थी। परन्तु, थोड़े-ही दिनोंमें सब कुछ शान्त हो गया।

उनकी कितनी ही बातें ऐसी हैं, जो बार-बार स्मृति-पथपर आती-जाती रहती हैं। वैसी ही एक बात सुनिये—

तुम कहाँ बैठे हो?

मैं एक बार रातके समय किसी स्टेशनपर रेलगाड़ीमें बैठा। यात्री सो रहे थे। मैं जहाँ बैठा, वहाँ एक पेशावरी सज्जन सो रहे थे। उन्होंने लेटे-ही-लेटे पाँवसे मुझे पीटना शुरू कर दिया। मैं चुप बैठा रहा। अन्तमें उन्होंने मुझे महात्मा गाँधीका चेला बताकर अपना क्रिया-कलाप बन्द कर दिया। इससे मेरे मनपर दुःखकी एक छाया आ गयी। मैंने भिक्षुजीसे पूछा कि इतना दुःख क्यों हुआ? वे हँसते हुए बोले कि उस समय तुम ऐसे स्थानपर बैठे हुए थे जहाँ तुम्हें अपमान मिलना ही उचित एवं हितकारी था। मैंने पूछा—'सो कैसे?' वे बोले—'कोई गन्दी नालीमें या कूड़ेके ढेरपर बैठ जाय तो उसके ऊपर गन्दगी ही तो डाली जायेगी न! तुम जब हड्डी-मांस-चर्बी-मल-मूत्रके ढेरको 'मैं' समझकर बैठोगे तो तुम्हें और क्या मिलेगा? जिसने तुम्हें अपमान दिया, वह तुम्हारा हितैषी था। उसने यह उपदेश किया कि तुम इस शरीरको मैं, मेरा मानकर मत बैठो। अपनेको शुद्ध-बुद्ध निरञ्जनमें ही स्थिर करो।' यह बात यह लेख लिखनेसे ५० वर्ष पहलेकी होगी। परन्तु, कभी-कभी मनमें आती ही रहती है।

प्रबुद्धानन्द द्वारा सेवा—

भिक्षुजीका शरीर छूटनेके कुछ मास पूर्व अतिशय अशक्त हो गया था। घुटनेमें पीड़ा अत्यधिक, किसी सहारेके बिना खड़े होनेपर पूरा-का-पूरा शरीर थर-थर काँपने लगता था। एक बाँसकी बड़ी लकड़ी रख छोड़ी थी। उसीके सहारे उठते-चलते थे। परन्तु, उनके मुख-मण्डलपर वही ज्योतिर्मय दिव्य तेज था। आँखोंमें वही चमक, वही अभिनय-कला, वही व्यञ्जनाशैली—विनोदपूर्ण हास-परिहास। इस बार मेरे साथ प्रबुद्धानन्द भी थे। जब हमलोग मोटरमें हरिद्वारसे दिल्लीके लिए रवाना हुए तो मार्गमें मेरे मनमें आया कि प्रबुद्धानन्द इनके पास रहकर कुछ दिन तक भिक्षुजीकी सेवा करें तो अच्छा रहेगा। वे बताते हैं कि उस समय मेरे मनमें भी ऐसा ही आया। मैंने उनसे कहा और वहीं मोटरसे उतार दिया। वे उनके पास गये। दिन भर सेवा की। गाँवमें भिक्षा माँगकर भोजन कर लिया, रातके समय भिक्षुजीने कहा—'मैं रातके समय अकेला ही रहता हूँ, तुम यहाँसे चले जाओ।' प्रबुद्धानन्दने आग्रह किया कि रातको आप मल-मूत्र त्याग करने उठना चाहेंगे तो मैं आपकी सहायता करूँगा। आप रातको मुझे यहीं रहने दीजिये। भिक्षुजीने कहा कि अच्छा! यदि मेरे प्राण निकलने लगेंगे तो डॉट लगाकर रोक लोगे क्या? यदि नहीं, तो यहाँ

रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं जीवन भर अकेला ही रहा हूँ। रातके समय मेरे पास कभी कोई नही रहा है। तुम यहाँसे चले जाओ। उसके बाद प्रबुद्धानन्द प्रतिदिन रातके समय वहीं पासके श्मशानमें जाकर सो जाते। दिनमें सेवा करते। मधुकरीपर निर्वाह करते। लगभग तीन मासतक उनके पास रहे। उनके सत्संग, आलाप, व्यंग्य, विनोद, पुराने महात्माओंके वचन सुनते रहे और उनकी अद्भुत आत्मनिष्ठाका चमत्कार देखते रहे। जिसमें शोक-मोहके लिए किञ्चित् भी अवसर नहीं था।

डायरीसे—

प्रबुद्धानन्दकी डायरीमें लिखे हुए कुछ वचनोंका सार आपके सम्मुख प्रस्तुत है—

१. भक्तने भगवान्से कहा—'हे प्रभो! मुझे कुछ दीजिये!' भगवान्ने कहा—'अरे मूर्ख भक्त! तूने ही तो बैठाया है—मेरी कल्पना की है। अब तेरी एक आँख फूटी कि दोनों फूट गयीं, जो मुझसे माँग रहा है?'

२. **आपै लीपे, आपै पोतै, आपै काढ़े होई।**
औंधी पड़के बेटा माँगे, अकल राँड़की खोई॥

स्त्रियाँ भीतपर एक चित्र बनाती हैं और साष्टांग धरतीपर पड़कर उससे अपने मनोरथकी पूर्ति चाहती हैं। इस वचनमें उनको बुद्धिहीन बताया गया है।

३. जबतक अहं-मम नहीं मिटता, तबतक सब जगत् सत्य लगता है। अहं-मम मिट जानेपर, बन्धन और मोक्षका भेद भी सच्चा नहीं रहता।

४. दृश्यके सम्बन्धमें ऊहापोह करनेकी आवश्यकता नहीं है। कार्य-कारण दोनों ही तुच्छ हैं। साक्षी द्रष्टाके विषयमें चिन्तन करो। सब समस्याओंका समाधान हो जायेगा।

५. द्रष्टा-दृश्यका भाव भी व्यावहारिक ही है। सहस्र-सहस्र प्रयत्न करनेपर भी द्रष्टा, दृश्य नहीं हो सकता। आत्मदेव स्वयं नित्य प्राप्त हैं। वे अप्राप्त थोड़े ही हैं कि उनको ढूँढ़ा जाय।

६. तुम-तुम करते थक गया। तुम कभी आँखोंके सामने नहीं आये। जब अर्न्तमुख होकर देखा तो 'मैं' का कृत्रिम वेश धारण करके तुम ही खड़े हो। वस्तुतः न तुम तुम हो; न मैं मैं हूँ। इस पृथक्ताके भ्रमके मिट जानेपर वह हेतु दृष्टांतरहित वाङ्मनसागोचर स्वरूप साक्षात् अपरोक्ष ही है।

७. मान्यता परोक्षज्ञानमें ही होती है। साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानमें मान्यताके लिए

कोई भी स्थान नहीं है। उक्त दृष्ट-श्रुत सब मिथ्या है। अहं त्वं-तत्, यह भी एक व्यवहारकी प्रणाली है, परमार्थ नहीं। मिथ्याके मिथ्या हो जानेपर भी प्रपञ्च सत्य नहीं हो जाता। अखण्ड आत्मा ही सत्य है।

८. लोग तो आदेश-उपदेश-निर्देश एवं सन्देश देते ही रहते हैं। उससे प्रपञ्चमें कुछ परिवर्तन हो गया हो, ऐसा तो नहीं दीखता। वही-के-वही दूर्वा एवं कुश ज्यों-के-त्यों हैं।

९. सब भेद मनके स्फुरित होनेपर ही रहते हैं। मनके शान्त हो जानेपर भेद नहीं भासते। अतः अनुभवकी कसौटीपर भेद-भाव खरे नहीं उतरते।

१०. मधुर वाणी, नियमयुक्त व्यवहार तथा सबको कुछ-न-कुछ देना—यदि तुम्हारे जीवनमें ये तीनों हैं, तो सच्चिदानन्द-घन ब्रह्म तुम्हें प्राप्त ही है, दूर नहीं है।

११. **रूप न रेख न रंग कछु, तिहु गुण से प्रभु भिन्न।**
तिसही बुझाये 'नानका' जिसु होवे सुप्रसन्न॥

१२. जबतक स्वयं तत्त्वका साक्षात्कार नहीं हो जायेगा, तबतक गुरुकी वाणी भी परोक्ष अर्थकी ही प्रतीति करायेगी, साक्षात्की नहीं।

१३. **यह मन ब्रह्मा यह मन शिव।**
यह मन पञ्चतत्त्व का जीव॥

१४. **अंधला नीच जाति परदेशी क्षिण आवे क्षिण जावै।**
ताकी संगति नानक करता क्यों कर मूढ़ा पावै॥

१५. स्वरूपानन्द ही ब्रह्मानन्द है। स्वरूपसे अतिरिक्त कोई ब्रह्म है, यह कल्पना ही अमंगल है।

१६. जैसे नट अभिनयके समय संकेतोंके द्वारा अभावका भी भाव बताता है। वैसे ही श्रुति भावाभावका निरूपण करती है। स्वप्नमें देश-काल-वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अन्तःकरण, जीव कुछ भी नहीं होते, परन्तु प्रतीत होते हैं। स्वल्प कालमें, स्वल्प देशमें, स्वल्प वस्तुओंका इतना महान हो जाना तो सम्भव ही नहीं है। स्वप्न टूट जानेपर तो कुछ रहता ही नहीं। सुषुप्ति इस बातको और भी स्पष्ट कर देती है।

१७. मनके न रहनेपर साधन-साध्य, आराधना-आराध्य, कुछ भी नहीं रहते। अतएव सब मानसिक ही हैं। आत्मा-परमात्माकी एकताका ज्ञान होनेपर ही मन मरता है, अन्यथा नहीं!

१८. परमार्थ सत्य आत्मामें, पूर्व-पश्चिम, बाह्य, आभ्यन्तर आदि देश नहीं

हैं। भूत-भविष्य आदि काल भी नहीं है। जो कुछ बाह्याभ्यन्तर आदिके रूपमें भासता है, वह अज, अविनाशी परमार्थ ही है।

१९. **पद्मे मूढजने ददासि द्रविणं विद्वत्सु किं मत्सरः**
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला नैवास्ति मूर्खे रतिः।
मूर्खेभ्यो नितरां ददामि द्रविणं तत् कारणं श्रूयताम्
विद्वान् सर्वजनेषु पूजिततनुः मूर्खस्य नान्या गतिः॥

माँ लक्ष्मी! आप मूर्खोंको धन देती रहती हैं। विद्वानोंसे आपको कोई चिढ़ है क्या? इस प्रश्नका उत्तर लक्ष्मीजी यों देती हैं—'मुझे न मूर्खोंसे प्रेम है, न विद्वानोंसे द्वेष। मेरे भेद-व्यवहारका कारण सुन लो—विद्वानोंको तो सर्वत्र सत्कार प्राप्त हो जाता है। मूर्खोंको तो मेरे अतिरिक्त कोई गति ही नहीं है।

२०. **हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्-प्रसादतः।**
पश्याम्यहं जगत्-सर्वं न मां पश्यति कश्चन॥

हे दरिद्रते! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारे कृपा-प्रसादसे मैं सिद्ध हो गया। क्या सिद्धि है? मैं सबको देखता हूँ, मुझे कोई नहीं देख पाता।

२१. वस्तुतः अभाव अनेक नहीं होते। प्रागभाव सान्त है। प्रध्वंसाभाव सादि है। अन्योन्याभाव सादि, सान्त, उभयात्मक है। इनमें-से कोई भी अनादि, अनन्त पदार्थ नहीं है। इनमें इनका कोई समवाई नहीं रहता। अतः इन अभावोंको पदार्थ मानना समीचीन नहीं है।

२२. केवल अत्यन्ताभाव ही ऐसा है जिसको अनादि-अनन्त मान सकते हैं। परन्तु इसका (अत्यन्ताभावका) प्रतियोगी कौन है? जिसका अभाव होता है, वही प्रतियोगी होता है। सम्पूर्ण अनात्म पदार्थोंका अत्यन्ताभाव है। इसलिए वही अत्यन्ताभावका प्रतियोगी है। ऐसी अवस्थामें प्रतियोगी एवं उसका अत्यन्ताभाव एक साथ रहेंगे और एक साथ प्रतीत होंगे। प्रतियोगी त्रैकालिक नहीं होगा, अत्यन्ताभाव त्रैकालिक होगा। अज्ञानीकी दृष्टिसे प्रतियोगी पदार्थ, यथार्थ प्रतीत होनेपर भी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अनिवर्चनीय ही प्रतीत होंगे। जब अनादि, अनन्त अत्यन्ताभाव अपने अद्वितीय अधिकरण प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वसे पृथक् नहीं रहेगा, तब ब्रह्मातिरिक्त वस्तु ही नहीं रहेगी। अतः साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें और तत्त्वकी दृष्टिमें यही अन्तर होता है कि पहलेके लिए प्रपञ्च सत्य है और तत्त्वज्ञानीके लिए प्रपञ्च भासमान होनेपर भी आत्मासे अतिरिक्त सत्ता नहीं रखता। इसमें व्यवहार, प्रतिभास एवं परमार्थ-सत्ताका

त्रैविध्य भी कल्पित हो जाता है। माया, जीव आदि पदार्थ भी अनादि नहीं हैं। अनादित्वेन कल्पित हैं। अतः प्रत्यगात्मा ही सत्य है, अबाधित है, अद्वितीय है एवं व्याप्य-व्यापकभावसे रहित है। इसका न किसीमें अन्वय है और न किसीसे व्यतिरेक है। अन्वय-व्यतिरेक द्वितीयके साथ होता है। जहाँ द्वैत है ही नहीं वहाँ अन्वयव्यतिरेककी कल्पना नहीं है।

उनके भक्त उनकी जीवनी—

प्रबुद्धानन्द तीन मासतक वहाँ रहे। भिक्षा माँगकर खाते, श्मशानमें सोते एवं दिन-भर उनकी सेवा करते। अब भिक्षु शंकरानन्दजीके कई भक्त वहाँ सेवामें आ गये। भिक्षुजीका उठना-बैठना भी बन्द हो गया था। पड़े-पड़े ही सारा व्यवहार होता। उनके सेवकोंमें बेंगलूरकी कुछ देवियाँ मुख्य थीं। अब मुझे उनका स्मरण नहीं है, भिक्षुजीका शरीर पूरा होनेपर वे उनका एक चित्र और कुछ पर्चे दे गयी थीं—पुस्तक लिखनेके लिए। परन्तु, वह चित्र ब्लॉक बनाने योग्य नहीं था और पर्चोंमें कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। साथ ही-साथ वे अपना चित्र एवं जीवनी भी छपवाना चाहती थीं, इसलिए मैंने नहीं लिखी। उन लोगोंका दिया एक हजार रुपया भी मेरे पास पड़ा रह गया। फिर उन लोगोंके साथ कोई सम्पर्क नहीं हो सका। भिक्षुजीका स्मरण अब भी बार-बार होता है। प्रबुद्धानन्द तथा दूसरोंसे भी उनकी चर्चा बार-बार होती रहती है। वे एक अद्‌भुत सन्त थे। उनका जीवन एकरस था।

श्रीहरिबाबाजी महाराज

बाबा सर्वत्र परिपूर्ण हैं—

जो महापुरुष परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न होते हैं, उनके स्थूल शरीरसे उपस्थित रहने या न रहनेसे उनकी विद्यमानतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। वे स्थूल शरीरसे न दीखनेपर परमार्थतः परमात्मारूपसे सर्वत्र विद्यमान एवं वर्तमान रहते हैं। अधिकारी पुरुष कहीं भी उनका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उनकी आकृति सूक्ष्मरूपसे रहती है और अपने भक्तोंके हृदयमें, जबतक लिंग शरीरका भंग नहीं हो जायगा तबतक बनी रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहरिबाबाजी महाराज आज भी ब्रह्मरूपसे, ईश्वररूपसे, आत्मरूपसे और विराट्रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उनका स्वरूप अविनाशी है।

मृत्यु उनका एक खेल—

उन्होंने उपदेशोंमें अथवा सामान्य वार्तालापमें कभी मृत्युका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि महात्मा शरीरसे भी अमर होता है। उसका दीखना, न दीखना तो आँख-मिचौनीका एक खेल है। वे एक सच्चे खिलाड़ी थे। प्रकटरूपमें भी कबड्डी-चीलझपट्टा आदि खेल खेलते थे और अब छिपकर भी एक लीला ही कर रहे हैं। उनकी मुसकान उनके अधरोंकी थिरकन, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनके कर-कमलोंका स्पर्श, उनकी मीठी-मीठी बातें लोगोंको प्रत्यक्ष-सी दीखती हैं। उनके करुणा-कोमल कर-कमलोंकी छत्र-छाया अब भी भक्तजनोंके त्राण-कल्याणमें तत्पर है।

समयकी मर्यादा—

उनके जीवनका यह अद्भुत चमत्कार था कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते थे। रात्रिके उत्तरार्धमें ढाई-तीन बजे ही जग जाते थे। चार बजेसे

सामूहिक संकीर्तन प्रारम्भ हो जाता था। नौ बजेसे रासलीला देखते थे। जब वे परिभ्रमणके लिए बाहर निकलते तो लोग अपनी घड़ियाँ मिला लिया करते। समयकी मर्यादाका ऐसा पालन विरले ही किसी महात्माके जीवनमें सम्भव है। एक बार बोले—'केवल उन्तीस मिनट कथा होगी।' इसका अभिप्राय यह था कि सर्वदा सावधान रहना चाहिए। जीवनमें प्रमाद या अनियन्त्रणका प्रवेश नहीं होना चाहिए। अनियन्त्रण ही अधर्म है। वृन्दावनके आश्रममें महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी व्याख्यान दे रहे थे। बाबाकी आज्ञासे समय हो जानेपर सेवकने घण्टी बजा दी। पण्डित अखिलानन्द कविरत्न रुष्ट हो गये, परन्तु अब क्या हो? मर्यादाका उल्लङ्घन पाप जो है।

मनकी एकाग्रता—

जब वे प्रातः सायं भ्रमणके लिए निकलते थे, जहाँ हाथ रखकर निकलते, लौटते समय भी वहीं होता। पाँच मील गये, आये, परन्तु हाथ वहीं-का-वहीं। अन्तर्मुखता बनी रहती। आगे-आगे सेवक न होता तो मार्ग भूल जाते। दायें-बायें न देखते। सामने भी दूरतक दृष्टि नहीं फेंकते। कौन आया, कौन गया, इस ओर ध्यान नहीं देते थे।

संसारी बड़ोंकी उपेक्षा—

वैसे उनके जीवनमें विनय और छोटे बालकका-सा सरलभाव था। हम बच्चोंके भी आनेपर उठकर खड़े हो जाते, दण्डवत् प्रणाम करने लगते। छोटे-से-छोटा काम अपने हाथसे कर लेते। बराबर बैठते। निरभिमानताकी तो मानो मूर्ति ही हों। परन्तु जो लोग स्वयं अपने मुँह अपनेको बड़ा मानते हैं, उनकी ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं थे। वृन्दावनके श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें अनेक सम्प्रदायोंके बड़े-बड़े आचार्य पधारते थे, परन्तु वे उनकी ओर देखते तक नहीं थे। सप्तसरोवर-हरिद्वारके सप्तऋषि आश्रममें देशके एक बहुत बड़े नेता एवं अधिकारी पुरुषने आकर प्रणाम किया, परन्तु उनके नेत्र बन्द ही रहे। ध्यान दिलानेपर भी वे उनकी ओर अभिमुख नहीं हुए। संसार जिनको बड़ा कहता है, उसमें उनकी कोई महत्त्व बुद्धि नहीं थी।

गुरु निष्ठा—

वे बाल्यावस्थामें अपने गुरुदेव स्वामी श्रीसच्चिदानन्दजी महाराजको होशियारपुरमें पंखा झला करते थे। इसका अभ्यास इतना पक्का हो गया था कि वे रामलीला, श्रीचैतन्यलीला, रासलीला और श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें भी घण्टोंतक लगातार खड़े रहते, पंखा झला करते थे। एक दिन पूछनेपर उन्होंने बताया कि मुझे

न राम दीखते, न कृष्ण। ऐसा लगता है कि गुरुजी महाराज लेटे हुए हैं और मैं अपनी सेवा कर रहा हूँ।

इसी वर्ष जन्माष्टमीके दो दिन बाद वृन्दावनसे अन्तिम बार जाते समय उनके मुखसे एकाएक निकला था कि 'मेरे जीवनमें जैसी श्रद्धा अपने गुरुदेवपर हुई वैसी श्रद्धा फिर किसीपर कभी नहीं हुई।' कभी-कभी उन्होंने रामलीला महीनेभर तक निरन्तर देखी, परन्तु उनको यह ज्ञात नहीं हुआ कि स्वरूपमें पात्र बननेवाला बालक गोरा है या काला है?

उनके जीवनमें जैसी गुरुनिष्ठा देखनेमें आयी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके एकमात्र गुरु स्वामी श्रीसच्चिदानन्द गिरि ही थे। वे बार-बार उनकी उन्मन-स्थितिका वर्णन करके प्रेम-गद्गद हो जाया करते थे। उन्हींके स्थानकी सेवा भी करते थे। उन्हींकी कृपासे बाबाको अडिग ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हुई थी। वे कहते थे कि 'महाराजकी दृष्टि और संकल्पसे ही लोगोंको आत्मसाक्षात्कार और जीवन्मुक्ति हो जाया करती थी। श्रीअच्युतमुनिजी महाराजसे उन्होंने केवल प्रस्थानत्रयीका अध्ययन किया था। मुनिजीने उन्हें पौरुषकी प्रेरणा भी दी थी।'

पौरुषकी प्रेरणा

श्रीहरिबाबाजी महाराज अपनी युवावस्थामें गंगातटपर विचरण करते हुए भेरियामें श्रीअच्युतमुनिजी महाराजके पास गये। उन्होंने श्रीमुनिजीसे प्रार्थना की—'महाराज! ऐसी कृपा करें कि वृत्ति अपने स्वरूपमें टिक जाय।' मुनिजी एक वयोवृद्ध, विद्वान्, भारत-प्रसिद्ध सन्त थे। वे जरा झुककर बैठे हुए थे। प्रार्थना सुनते ही तनकर बैठ गये और बोले—'अरे हरि! तू आलसी बनना चाहता है? कृपाकी भीख माँगना आलसी बनना है। तू स्वयं अपने पौरुषसे वृत्तिके अस्तित्वको मटियामेट कर दे।'

श्रीहरिबाबाजी यह प्रसंग अत्यन्त प्रेम और प्रसन्नतासे कभी-कभी सुनाया करते थे। जो लोग कहते हैं कि श्रीहरिबाबाजीने वेदान्त और वेदान्ती गुरुको छोड़ दिया था, वे मिथ्याभाषी हैं। बाबा ब्रह्मनिष्ठ रहकर ही लोक-कल्याणके लिए भक्तिका प्रचार और नाम-संकीर्तन करते थे।

पौरुषका प्रकाश—

श्रीहरिबाबाजीकी जीवनचर्यामें पौरुष ही नहीं महापौरुषका प्रकाश था। वे जन-जनमें और कण-कणमें भगवान्का ही दर्शन करते थे। उनकी सब क्रिया भगवद्दृष्टिसे ही होती थी। जब कुछ न्यूनाधिक सात सौ गाँवों, गायों और किसानोंको गंगाजीकी बाढ़से ग्रस्त और संत्रस्त देखा तो स्वयं फावड़ा और टोकरी

लेकर बाँध बनानेके काममें लग गये। झुण्ड-के-झुण्ड लोग जुट पड़े। भण्डारे खुल गये। लोगोंके मनोरथ पूर्ण होने लगे। चमत्कारपर-चमत्कार। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज आकर वहीं विराज गये। घोषणा कर दी गयी—'बाँध-भगवान्की सेवामें एक टोकरी मिट्टी डालो और जो इच्छा हो प्राप्त करो।' केवल दस महीनेमें इतना बड़ा बाँध तैयार हो गया जिसके निर्माणमें करोड़ों रुपयेका खर्च होता। उस समयकी ब्रिटिश सरकारने भी हार मान ली थी। उसकी लम्बाई तेईस मीलके लगभग है। वे सभी वस्तुओंको ईश्वररूप और सभी क्रियाओंको ईश्वरकी सेवा समझते थे और बताया करते थे।

निन्दा न सुनना—

उनमें एक अद्भुत विशेषता यह थी कि वे किसीकी निन्दा सर्वथा नहीं सुनते थे। निन्दा करने वालेसे कह देते थे कि 'भगवान्का नाम लो या बाहर जाकर कोई काम करो।' एकबार एक मासिक पत्रिकामें लगातार दो-तीन बार साधुओंकी आलोचना छपी तो उसको उन्होंने पढ़ना ही बन्द कर दिया। वे कहते तो यह थे कि 'निन्दास्तुति दोनों ही नहीं करनी चाहिए' परन्तु यह देखनेमें आया कि वे साधारण-से-साधारण व्यक्तियोंके छोटे-छोटे गुणोंकी प्रशंसा किया करते थे।

बड़ोंका आश्रय—

एक बार उन्होंने कहा था कि 'यदि अपनेसे बड़ा कोई मनुष्य न मिले तो किसी पशु, पक्षी और पत्थरको भी अपनेसे बड़ा मानकर उसके नीचे रहना चाहिए। बड़ोंकी छत्र-छायामें रहनेसे अपनेमें दम्भ, अभिमान आदि दोष नहीं आते और पूजा-प्रतिष्ठा भी उन्हींकी ओर चली जाती है। उनके जीवनमें यह प्रत्यक्ष देखा गया कि वे सर्वदा ही किसी-न-किसी बड़े महात्माके साथ रहे।

विनोदी स्वभाव—

सामान्यतः लोग समझते थे कि बाबा बड़ी गम्भीर प्रकृतिके हैं। परन्तु जो उनके निकट रहते थे, उनके साथ वे विनोद भी खूब करते थे। लोग भी उनको हँसानेके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वांग बनाकर प्रहसन करते। एक बार बाबाको कहीं गंगा पार जाना था। नावपर जा बैठे। उनके साथ और बीस-पचीस जन थे। मल्लाहने पूछा—'महाराज! आपका और आपके साथियोंका खेवा (नावका किराया) मैं नहीं लूँगा। आप बता दीजिये कि आपके साथ कौन-कौन हैं?' बाबाने कहा—'भैया, मैं तो अकेला हूँ, मेरे साथ और कोई नहीं है।' मल्लाह

औरोंसे पैसा माँगा परन्तु संयोग ऐसा कि उस समय किसीके पास पैसा न था। सबको उतर जाना पड़ा और बाबा अकेले पार उतर गये। दूसरे लोग गाँवसे पैसा मँगाकर फिर पार गये। अच्छा विनोद रहा।

दूसरोंसे अप्रभावित—

टाटवाले नारायण स्वामीजी हरिद्वारके पास बहादराबादमें ठहरे हुए थे। श्रीहरिबाबाजी उनका दर्शन करने गये। श्रीनारायण स्वामीजीने कहा—'आज रात्रिमें भगवान् नारायणने मुझे दर्शन दिया और उस समय तुम्हारा स्मरण किया। नारायणने आज्ञा की है कि अब हरिबाबाको संकीर्तन, उत्सव, धूमधाम, भीड़भाड़ छोड़कर एकान्तमें रहना चाहिए और वेदान्त-चिन्तन करना चाहिए। अब तुम ऐसा ही करो।' श्रीहरिबाबाजीने बड़े विनयसे उत्तर दिया—'स्वामीजी, मैंने भी अपना जीवन थोड़ा-बहुत भगवान्का नाम लेते हुए व्यतीत किया है। यदि वे मुझपर कृपा करते हैं, आदेश देते हैं तो सीधे मुझे क्यों नहीं देते? आपके द्वारा क्यों भेजते हैं? क्या मैं उनके स्वप्नादेशका भी अधिकारी नहीं हूँ? और जब प्रभुकी मुझपर इतनी कृपा है, स्मरण करते हैं, आदेश देते हैं, तो जो काम वेदान्त-चिन्तनसे होता है, वह क्या वे स्वयं नहीं कर देंगे?' वे उन्हें सादर दण्डवत् प्रणाम करके चले आये।

जीवन्मुक्तिकी भूमिकाएँ बाधित थीं—

इसी ढंगका एक प्रसंग और आया। पंजाबमें कोई प्रसिद्ध महात्मा थे। लोगोंका विश्वास था कि वे छठी भूमिकामें रहते हैं। लोगोंसे बहुत कम मिलते, कम बोलते, प्रपञ्चका विस्मरण-सा रहता। कभी बात करते तो अत्यन्त धीमी आवाजमें साँय-साँय। कुटिया बन्द रहती। उनके शरीरकी साज-सँवार उनके सेवक लोग करते। एक साधु उनकी प्रशंसा करके श्रीहरिबाबाजीको उनके पास ले गये। उन्होंने भी श्रीहरिबाबाजीसे कहा कि 'अब जन-संसर्ग और संकीर्तन आदिका विक्षेप छोड़कर ब्रह्मात्मैक्य चिन्तन करो और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ।' बाबाने अत्यन्त विनयके साथ उनका उपदेश श्रवण किया और चले आये। उनकी रहनीमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ा। वास्तविकता यह थी कि बाबा पहलेसे ही सातों भूमिकाएँ पार कर चुके थे। उनके मनमें इनके प्रति कोई महत्त्वबुद्धि नहीं थी। जिसमें अविद्या ही न हो, उसको चिन्तनकी क्या आवश्यकता? सम्यक् बोध केवल प्रवृत्तिका ही नहीं, निवृत्तिका भी उपमर्दन कर देता है। उनका हँसना-बोलना, चलना-फिरना—सब लोकमंगलके लिए ब्रह्मरूप ही था। उन्हें जो साधक समझते थे और साधनके लिए उपदेश करते थे, वे उनके वास्तविक रूपको नहीं समझते थे।

उनका सब ठीक है—

एकबार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा—'श्रीहरिबाबाजीको यह काम करनेसे मना कर दीजिये।' महाराजने कहा—'बाबा साक्षात् परमेश्वर हैं, वे जो कुछ करते हैं, वही ठीक है। मैं क्यों मना करूँ? तुम्हें उनकी कोई बात नहीं जँचती है, तो स्वयं जाकर मना करो।' एक बार किसी भक्तने महाराजजीसे कहा—'इस सम्बन्धमें श्रीहरिबाबाजीने यह निर्णय दिया है, आप क्या कहते हैं?' वे बोले—'बाबाने जो कह दिया, वही वेदवाक्य है। उनके कह देनेके बाद मुझसे पूछने आये हो?' महाराजजीके सम्बन्धमें बाबा भी प्रायः ऐसी ही बात कहते थे। असलमें दोनों एक ही थे और परस्पर एक-दूसरेकी बातको अपनी ही बात मानते थे।

विक्षेप भी रामलीला है—

दिल्लीमें प्रतिवर्ष विशाल रामलीलाका आयोजन होता है। उसमें दस-दस लाखतक जन-सम्मर्द होता है। विदेशी राजदूत आते हैं। हमारे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री भी आते हैं। कोलाहलकी पराकाष्ठा होती है। भक्त लोग बाबाको भी रामलीलामें ले गये। साथमें सेवकके रूपमें वैकुण्ठदास भी थे। उन्होंने कहा—'बाबा! यहाँ बड़ी भीड़ है, कोलाहल है, विक्षेप है, अशान्ति है।' बाबा हँसने लगे, बोले—'बावरे! तू यहाँ बानर-राक्षसोंका युद्ध देखने आया है या एकान्त-शान्त, समाधिका आनन्द लेने? यह शोर-गुल तो युद्ध-भूमिका है। यहाँ विक्षेपको ही भगवान्की लीला अनुभव करनेका है। अपना मन मत देखो, भगवान्की लीला देखो।' क्या अजब और गजब निष्ठा थी उनकी। कच्चे वेदान्ती या योगी उनको कैसे समझ सकते हैं?

नियम पालनके लिए—

वैसे देखें, तो बाबाके द्वारा बहुत बड़ा प्रचार कार्य हुआ। उत्तर भारतमें ऐसा कोई बिरला ही नगर होगा, जहाँ उन्होंने पावन नामके **उद्घोषसे** वातावरणको पवित्र न बनाया हो। कोई अभागा ही आध्यात्मिक पुरुष होगा जिसके कानोंमें उनके आदर्श चरित्र और प्रेममय नामकी ध्वनि न पहुँची हो। इतना होनेपर भी वे प्रचारके भावसे कितने मुक्त थे—इसका एक उदाहरण देखिये—वृन्दावनके श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें वे श्रीधरीके अनुसार गीतापर कुछ उपदेश कर रहे थे। एक अजनबी आदमी बीचमें बोल उठा—'महाराज! जरा जोरसे बोलिये, सुनाई नहीं पड़ता।' बाबाने कहा—'भैया! हम अपना नित्यनियम पूरा करनेके लिए गीताका पाठ करते हैं। तुम्हें नहीं सुनाई पड़ता तो अपना मन और

एकाग्र करो, पास आजाओ। सन्तोष न हो, तो चले जाओ। हम भगवान्‌को सुनानेके लिए पाठ-कीर्तन करते हैं, मनुष्यको सुनानेके लिए नहीं।'

दूसरेको परेशानीसे बचाना—

किसी प्रेमी भक्तके आग्रहसे उसके घर भोजन करनेके लिए चले गये। संयोगवश उसकी पत्नी छू गयी। भक्तने स्वयं अपने हाथसे भोजन बनाया। जब बाबा जीमनेके लिए बैठे तो देखा कि आलूकी सब्जी एरण्डीके तेलमें बनी है। बाबाने भक्तको बात नहीं बतलायी। 'बहुत बढ़िया बनी है'—कह कर धीरे-धीरे सब खा गये। आश्रमपर आनेके बाद दस्त लगने लगे। सेवकोंके पूछनेपर बोले—'आज जुलाब ले लिया है।' खिलानेवाले भक्तको मनमें परेशानी न हो, इसके लिए उन्होंने स्वयं परेशानी उठा ली। इतना संकोची स्वभाव था उनका कि श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे आमने-सामने बात भी नहीं करते थे। साथ बैठे रहनेपर भी कोई बात पूछनी होती तो दूसरोंसे पुछवाते। बाबाका हृदय बहुत ही कोमल था।

केवल गुणदर्शन—

श्रीवृन्दावन धाममें एक विद्वान्‌के घर कथा सुननेके लिए जाया करते थे। प्रवचनकार भक्तिरसके अच्छे जानकार थे। बाबा जाकर सबसे पीछे बैठ जाते। नजर नीची रखते। कथा समाप्त होने पर चुपचाप उठ आते। साथके सेवकने एक दिन निवेदन किया कि 'भगवन्! ये सज्जन कथा उच्च कोटिकी कहते हैं। परन्तु रहते बड़े ठाट-बाटसे हैं। बैठककी एक-एक खूँटीपर अलग-अलग शाल-दुशाले टँगे रहते हैं। यह क्या बात है?' बाबाने अपने सेवकको डाँट दिया और कहा—'तुम कथा सुनने जाते हो या इधर-उधर शाल-दुशाले देखने। अपने हृदयको भगवन्मय बनाओ। संसारमें एक ईश्वर ही निर्दोष है।'

परोपकार कैसे?

बात पुरानी है, पर बाबाने स्वयं सुनायी थी। जब वे काशीके पास गंगा-तटपर विरक्त भावसे विचरण करते और भिक्षा माँगकर खाते, तब उनके पास जन्मभूमिका कोई पूर्व परिचित व्यक्ति आया। उसने अपना कष्ट बताया कि 'मेरे पास घर जानेके लिए रेल किराया नहीं है। तुम प्रबन्ध कर दो।' बाबाने उसे 'न' नहीं किया। अपने मनमें यह संकल्प किया कि प्रत्येक घरसे एक पैसा लेंगे। एक झोली बनायी और उसमें घर-घरसे एक-एक पैसा माँगने लगे। कोई देता, कोई नहीं देता, कहीं अपमान मिलता। वस्तुत: अपमान-सहन ही भिक्षाका तत्त्व है। जब अनुमानसे चौदह-पन्द्रह रुपये हो गये, तब उन्होंने वह झोली ही उसको सम्भला

दिया। हाथसे पैसा नहीं छूआ। बाबाका यह प्रेम, तप, त्याग, सहिष्णुता और सुशीलता देखकर वह व्यक्ति सदाके लिए बाबाके प्रति निछावर हो गया और आजीवन उन्हींका होकर रहा।

समता और स्वच्छता—

बाबाके परिकरमें सभी जातिके लोग सम्मिलित होते थे। उनके पास वर्ण, आश्रम, मजहब, पन्थ आदिका कोई भेद नहीं था। उनके निकट परिकरमें विद्वान् अग्रज, भोले अन्त्यज, मुसलमान एवं ईसाई भी सम्मिलित थे। सिक्खोंकी तो एक बड़ी संख्या थी। वे किसीके पाँव छूनेमें हिचकिचाते नहीं थे। सबको हृदयसे लगा लेते थे और सबको प्यार करते थे। उन्हें सफाई सबसे अधिक पसन्द थी। बाँधपर गोबरसे लीपना और मिट्टी डालना हमेशा चलता रहता था। दिनभर गिरते हुए पत्तोंको झाड़नेके लिए लोग लगे रहते थे। यदि वे कहीं नयी जगह भी जाते तो क्या ब्राह्मण, पण्डित, क्या राजा-रईस, क्या शूद्र सबको सफाईके काममें लगा देते थे। एक बार हम लोग सिद्ध सन्त श्रीत्रिवेणीपुरीजी महाराजके उत्सवमें खन्ना गये थे। वहाँके रास्ते गन्दे थे—नागफनी और सेहुँड़से घिरे हुए थे। बाबाने बाँधके लोगोंको सफाईके काममें लगा दिया। जब मैं उधरसे निकला, पण्डित छविकृष्ण दीक्षित और ठाकुर साहब बहादुर सिंह फावड़ेसे कूड़ा-कचरा हटा रहे थे। उन्होंने मुझे प्रणाम करके कहा—'स्वामीजी! हमारी तो जात पहचानी गयी। कहते हैं चमार जहाँ जाता है वहाँ उसे चामका ही काम करना पड़ता है। हम बाँधके लोग जहाँ जाते हैं, यह टोकरी और फावड़ा हमलोगोंके पीछे-पीछे जाता है।' ये लोग आजीवन जान हथेलीपर रखकर बाबाकी सेवामें रहे। बाबा पाँच-पाँच, सात-सात मील तककी सफाई करवाते थे और कहते थे—'सफाई ही खुदाई है।'

पण्डितजी, दण्डवत्!

बाबाके साथ एक रसिक विद्वान् श्रीसुन्दरलालजी रहा करते थे। वे रोम-रोमसे बाबाके प्रति प्रेम करते थे। मुँह लगे इतने थे कि सामने ही खरी-खोटी सुना देते। भरी सभामें भी अनाप-शनाप बोल देते। कहते—'इतनी भीड़, इतना काम, इतना प्रपञ्च इकट्ठा करनेकी क्या आवश्यकता है!' सचमुच उनका जीवन त्यागमय था। एक दिन बाबा और वे—दोनों स्नानके लिए गंगाजीमें उतरे। तैरनेकी कलामें दोनों ही पारंगत थे। सब लोग किनारेपर रह गये और वे दोनों आगे बढ़ते गये। धीरे-धीरे गंगापार पहुँच गये। बाबाने कहा—'पण्डितजी! आओ अब यहींसे हरिद्वार चलें!' पण्डितजीने कहा—'न लोटा, न धोती, यहींसे कैसे चलें?' बाबाने

कहा—'अच्छा, पण्डितजी! अब आप जाइये, लोटा-धोती सँभालिये। मैं चला, दण्डवत्। वे अकेले चल पड़े। पण्डितजी लौट गये। बाबा कई दिनोंतक गुप्त रहे। भक्तोंने उन्हें उत्तरकाशीमें पकड़ा। वहाँ भी उन्होंने किसीको अपना परिचय नहीं दिया। एक प्रसिद्ध संन्यास-आश्रमसे अधिकारियोंने उन्हें उदासी समझकर निकाल दिया। उन्होंने पूछनेपर साफ कह दिया था कि 'मैं संन्यासी-उदासीका भेद नहीं जानता।' असलमें उन्होंने भेदभावको जड़से उखाड़ फेंका था और निःस्पृहताका आभूषण धारण कर रक्खा था।

विविध पक्षोंमें समता—

उनके कार्यक्रमकी एक असाधारण प्रणाली यह थी कि जब भक्तोंमें यह मतभेद हो जाता, तब विभिन्न पक्षोंको कागजके विभिन्न टुकड़ोंपर लिखवाकर ठाकुरजीके सामने रखवा देते और प्रार्थना-कीर्तन करके किसी अनभिज्ञ बालकसे उठवाते। जो लिखा हुआ निकलता, उसके अनुसार व्यवहार करते। सामान्यरूपसे यह बात बुद्धिमानोंको ठीक नहीं जँचती थी। किसी भी युक्तिसंगत और उचित पक्षको संयोगपर छोड़ देना भला कौन पसन्द करेगा? मैंने इसपर विचार दिया और मुझे ऐसा लगा कि यह उनकी समताका लक्षण था। वे संसारके विविध विवादास्पद विषयों, व्यक्तियों, स्थानों एवं कर्तव्योंको समताकी दृष्टिसे ही देखते थे। इसलिए चाहे जो भी होगा उसमें जीवोंका हित ही होगा। उनकी यह दृढ़ निष्ठा थी। उन्हें सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता था या ईश्वर-दर्शन—यह एक अलग प्रश्न है, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि सृष्टिके विभिन्न पक्षोंमें उन्हें सम एवं अनुकूल परमार्थका ही दर्शन होता था।

प्रणाम करने योग्य—

जब मैंने ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीसे दण्ड ग्रहण किया, तब उन्होंने कहा कि 'जिसके पास दण्ड न हो और दण्डियोंमें भी जिसका चातुर्मास्य और विद्या अधिक न हो, उसको प्रणाम नहीं करना।' मैंने श्रीउड़ियाबाबाजीका नाम लेकर प्रश्न किया। तब उन्होंने कहा कि 'वे तो गोवर्धन-पीठाधीश्वर शङ्कराचार्यके शिष्य हैं और पहलेके दण्डी हैं इसलिए उन्हें प्रणाम करनेमें कोई हानि नहीं है।' उसके बाद मैं बाँधपर आया। श्रीहरिबाबाजीको 'प्रणाम करें कि नहीं?' यह प्रश्न अपने महाराजजीके सामने रखा। उन्होंने कहा—'निरभिमानता और विनय सर्वोत्तम गुण है। भागवतमें लिखा है कि कुत्ते, बैल और गधेको भी धरतीपर लोटकर भगवद्-बुद्धिसे प्रणाम करना चाहिए। श्रीहरिबाबाजी एक उच्चकोटिके महापुरुष हैं। हजारों लोग उन्हें भगवद्-दृष्टिसे देखते हैं। वे दैवी

सम्पत्तिके खजाने हैं। वे वर्णाश्रमातीत पुरुष हैं। उन्हें अवश्य प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम करना अपना सद्गुण है। वह अपनेमें रहना चाहिए। तुम हमेशासे उनको प्रणाम करते रहे हो। अब भी करना चाहिए।' श्रीउड़ियाबाबाजीकी दृष्टिमें श्रीहरिबाबाजी उनके स्वरूप ही थे।

अन्न ब्रह्म—

श्रीहरिबाबाजी महाराजका भोजन बरसोंतक एक सरीखा चलता रहता। साबूत मूँग और सब्जी—दोनों मिलाकर एक साथ पकाया जाता था। प्रायः रोटीके साथ खाते थे। भोजन आनेपर अपने उपयोग-भरका अपने कटोरेमें ले लेते और खा लेते थे। सब जूठा नहीं करते थे। अन्तमें कटोरेको भी धोकर पी लेते थे। यह नियम लेनेके पहले भी वे वर्ष-वर्ष भर या छः-छः महीने तक एक ही ढंगकी वस्तु खाते थे। एक बार मुझे जुकाम हुआ। एक बोतल काष्ठौषधि भेज दी पीनेके लिए और बोले—'भात खाओ तो जुकाम अच्छा हो जायगा। सृष्टिमें भात ही अमृत है।' वर्ष-दो-वर्षके बाद मुझे फिर जुकाम हुआ। दवा भेजी और कहला दिया कि 'रोटी खाओ और यही अमृत है।' मैंने सोचा कि कभी भातको अमृत कहते हैं, कभी रोटीको। इसका क्या कारण है? पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि वे जब, जो खाते हैं, तब उसीको अमृत बताते हैं। असलमें अन्न ब्रह्म है। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मबुद्धिसे उसका सेवन करना चाहिए। ब्रह्म-बुद्धिसे प्रत्येक अन्न सब रोगोंकी औषध हो जाता है।

संकल्प—

एक बार मुझसे बोले 'आओ, एक वर्षतक संकल्प ग्रहण करके वृन्दावनमें बैठें। तुम श्रीधरी भागवत सुनाओ। मैं आदिसे अन्ततक सुनूँगा।' मैंने कहा—'एक वर्षके अनुष्ठानका नाम सुनकर दूर-दूरसे लोग इकट्ठे हो जायँगे। उनके भोजन और निवासकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी?' बाबाने कहा—'प्रतिदिन भागवतकी कथा होगी। हरिनामका संकीर्तन होगा। तुम कहोगे और मैं सुनूँगा। फिर भगवान् क्या खान-पानकी व्यवस्था भी नहीं करेंगे?' हम लोग नियमपूर्वक बैठ गये। कथावार्ता चलने लगी। सब प्रबन्ध हो गया।

संकल्पके विघ्न—

इसी अनुष्ठानके बीचमें हैदराबाद सिन्धके वेदान्त-मर्मज्ञ भाई हेमनदास, जो कि मुझपर बहुत श्रद्धा-प्रीति रखते थे, कोलम्बोके सेठ जीवतरामको लेकर आये। उन्होंने आग्रह किया कि 'श्रीलंका चलो, वहाँके हिन्दुओंमें धर्मसंस्कृतिका प्रचार करनेके लिए। मार्ग-व्ययके रुपये जमा हो गये। मथुराके मजिस्ट्रेटने प्रमाण-पत्र

देनेका वादा किया।' जब यह बात बाबाके पास पहुँची तब उन्होंने कहा कि 'यह अनुष्ठानमें विघ्न है। जो संकल्प कर लिया उसे बीचमें नहीं तोड़ना।' मैंने उनकी आज्ञा मान ली। श्रीलंकाकी यात्रा कट गयी।

संकल्पकी निवृत्ति—

ग्यारह महीने पूरे होते न होते बाबाने कहा कि 'अब जितना बाकी है, दोनों समयमें पूरा करके पन्द्रह दिनमें पूरा कर दो, क्योंकि मैं पुरी जाना चाहता हूँ।' मैंने कहा—'पन्द्रह दिनके लिए संकल्प क्यों तोड़ते हैं?' बाबाने हँसकर मेरी पीठपर हाथ रख दिया और बोले—'संकल्प पूरा करनेका आग्रह संसारियोंका होता है। साधुके संकल्पका तो टूट जाना ही अच्छा है। जहाँ अपना संकल्प पूरा नहीं होता, वहाँ अपने प्रियतम प्रभुका संकल्प पूरा होता है।'

केवल रसास्वादन—

ब्रिटिश शासनकालमें ग्वालियर राज्यके करहे नामक स्थानमें बाबा रामदासने एक महान् उत्सवका आयोजन किया था। चौबीसों घण्टे सैकड़ों कड़ाहियोंमें मालपूए छनते रहते थे। गाँवके लाखों लोग आते और जाते। बस, भोजन और भजनका मेला था। अपने महाराज श्रीउड़ियाबाबाजीके साथ मैं भी वहाँ पैदल गया था। वहाँ लाखोंकी भीड़ देखकर मैंने सामान्य सदाचार-सम्बन्धी प्रवचन किया। सत्संगके अन्तमें श्रीहरिबाबाजी महाराजने मुझे बुलाकर कहा—'भैया! जरा मेरा भी ध्यान रक्खा करो। तुम प्रवचन करते समय भूल ही गये कि मैं यहाँ बैठा हूँ।' इसका अभिप्राय यह है कि वे अपना लोक-परलोक बनानेके लिए अथवा अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिए प्रवचन नहीं सुना करते थे। सदाचारका प्रचार-प्रसार इष्ट होनेपर भी वे स्वयं भगवद्-रसास्वादनमें ही अपना समय व्यतीत करना चाहते थे। उन्हें भूत-भविष्य, प्रचार या लोक-कल्याणकी कोई वासना नहीं थी। वे जानते थे कि कुत्तोंकी पूँछको कितनी भी सीधी करो, वह टेढ़ी-की-टेढ़ी ही रहती है। अपने आपको परमानन्द-प्रभुमें और उनके रसमें मग्न रखना-यही जीवनकी सफलता है।

अद्वैतनिष्ठा—

फीरोजाबाद (उत्तर प्रदेश)के उत्सवमें उनके साथ मैं भी गया। बम्बईवाले श्रीकृष्णानन्दजीके आग्रहसे वहाँ जाना हुआ था। श्रीराधा-कृष्णके मन्दिरमें ठहरे। लौटते समय एक ही गाड़ीमें उनके साथ मैं बैठा। मथुराके पुलिस इन्सपेक्टर श्रीनारायण सिंह मोटर ड्राइव कर रहे थे। ढाई घण्टेकी यात्रामें मैंने उनसे अनेक प्रश्न किये और उनके उत्तर बड़े प्रेमसे उन्होंने दिये। एक

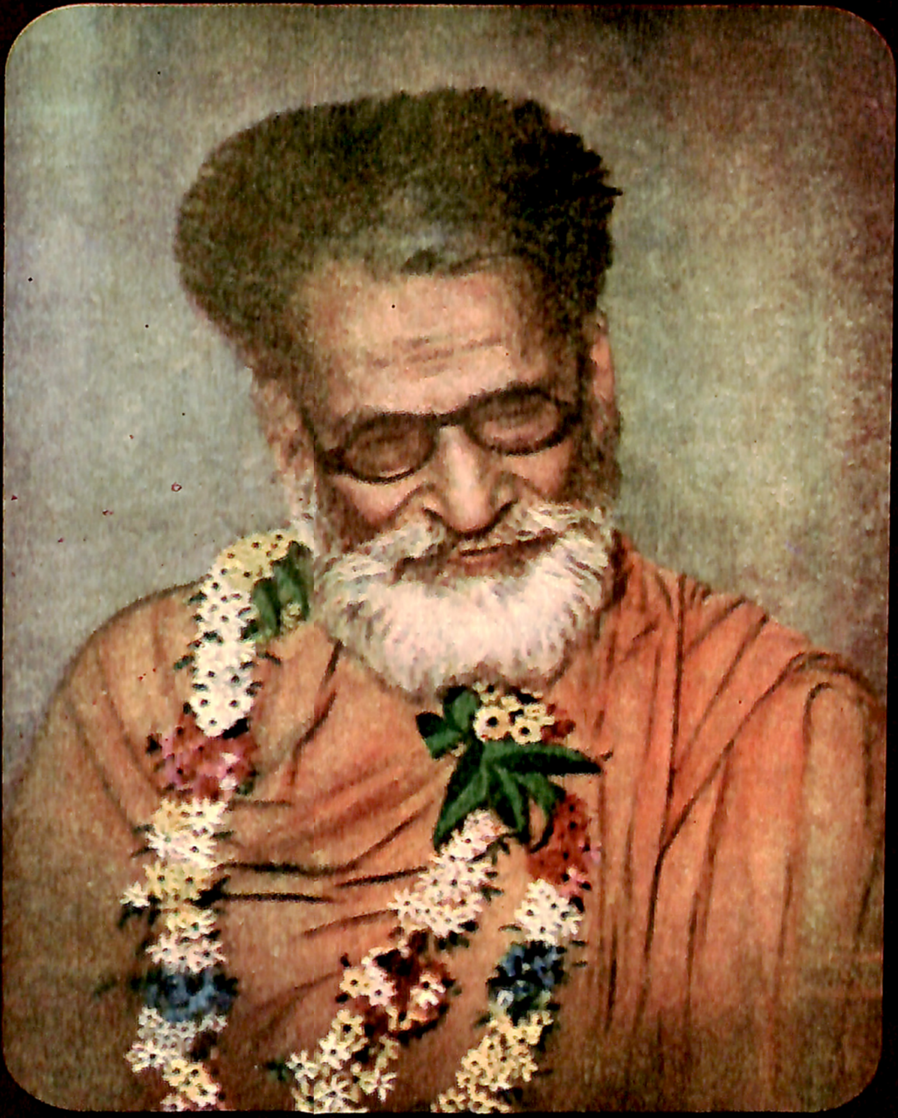

श्रीहरिबाबाजी महाराज

उदाहरण देखिये—'आपकी निष्ठा क्या है?' मैंने पूछा। वे बोले—'मेरी अद्वैतनिष्ठा है। मेरे गुरुजी स्वामी श्रीसच्चिदानन्द गिरिजीकी अद्वैतनिष्ठा परिपूर्ण एवं परिपक्क थी। उनकी कृपासे ही मुझमें अद्वैत-निष्ठाका संचार हुआ था और वह ज्यों-की-त्यों अखण्ड है।' मैंने पूछा कि ' लोग तो यही समझते हैं कि आप भक्ति-परायण, संकीर्त्तननिष्ठ हैं।' वे बोले—दोनोंमें विरोध कहाँ है। मुक्ति व अद्वैत अपना स्वरूप है। भक्ति हृदयमें निरन्तर उल्लसित रसकी धारा है। शान्त-रस और उल्लसित-रसमें तत्त्वत: कोई भेद नहीं है। उल्लास पारमार्थिक है अथवा व्यावहारिक है—इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि रसकी अविच्छिन्न भासमानता है। हृदय रसमें उन्मज्जन-निमज्जन करे, स्वरूप ज्यों का-त्यों। रसिकाचार्य भी तो यही कहते हैं—'भक्तिर्मुक्त्यैव निर्विघ्ना' अर्थात् मुक्तिके अनन्तर भक्ति, निर्विघ्न और निरुपद्रव होती है।

सकाम निष्काम—

अनेक महात्माओंका कहना हैं कि भक्ति निष्काम होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि निष्कामता उच्च-कोटिकी वस्तु है। श्रीहरिबाबाजी महाराज निष्कामताकी प्रशंसा किसीसे कम नहीं करते थे। परन्तु वे साधारण जनके लिए ऐसी स्थितिको कठिन मानते थे। उनका कहना था कि 'यदि किसीको कुछ वासना भी हो तो उसके लिए प्रार्थना भगवान्से ही करनी चाहिए और किसीसे नहीं। ध्रुव, गजेन्द्र, द्रौपदी आदिके समान पहले सकाम भाव होता है और बादमें निष्काम प्रेम होता है। सेवक या पत्नी स्वामीको छोड़कर और किसके पास माँगने जाय।' वे व्यक्तिश: और संघश:, दोनों प्रकारसे सकाम अनुष्ठान करवाते थे और अधिकांश उनकी पूर्ति होती थी। जहाँ भगवान्से एकता है, वहाँ सकाम-निष्काम कुछ होता ही नहीं। प्रेमपत्तनमें कहा गया है—'प्रेम नगरमें निष्कामता सकामता श्रेष्ठ है। प्रभुके प्रति निष्कामता ही सकामताके समान निकृष्ट है। रससिद्ध पुरुषोंकी सकामता और निष्कामता एक ही कोटिमें अपना स्वरूप ही भासती है, क्योंकि उनके लिए यह, वह, मैं—सब भगवद्स्वरूप ही होता है।

अवधकी गलियोंमें

मेरी अन्तरात्मा आज भी यह स्वीकार करनेको तैयार नहीं है कि वह एक सामान्य स्वप्न था। चौवन-पचपन वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु, मनमें वह बाँकी झाँकी, वह छबीली छटा, ज्यों-की-त्यों एक झलक दिख जाती है। नितान्त शान्त अन्तःकरणको भी एक बार स्पन्दमान कर देती है। बात क्या थी? मैं श्रीअवधधाममें इधर-उधर घूम रहा था। सायंकालीन अन्धकार सर्वत्र व्याप्त था। उन दिनों बिजली नहीं थी। किसी मंदिरमें आरतीका दर्शन करके बाहर निकला। मार्ग भूल गया। जाना था पूर्वकी ओर, जानकी-घाट। चला गया पश्चिमकी ओर। थक गया। तभी क्या देखता हूँ—सामने एक प्रकाशमय स्थान है। पत्थरोंके बीचमें छोटे-छोटे जलाशय, कमल खिले हैं (रातमें)। चाँदनी छिटक रही है, पक्षी विहार कर रहे हैं। मैं तो आश्चर्यचकित रह गया। वहाँ कोई मनुष्य नहीं था। मैं थोड़ी देरतक वहाँ की वह दिव्य सुषमा देखता रहा उस दिव्य माधुरीका रसास्वादन करता रहा। बैठ गया। न जाने कब चदरा बिछाया। लेट गया। नींद आ गयी। जब प्रातःकाल उठा तो वहाँ कुछ नहीं था। न तो पत्थरका विशाल प्रांगण। न छोटी-छोटी सरसी। न पक्षियोंका जल-विहार।

चकित-चकित चित्तसे श्रीजानकी-घाट लौट आया। वह क्या था? सोया तो मैं बादमें। क्या वह जाग्रत्-अवस्थामें ही कोई स्वप्नका दर्शन था? नहीं-नहीं, मन ऐसा नहीं मानता। वह तो भगवद्धाममें रात्रिके समय भूले-भटके एक ब्राह्मण अतिथिका सत्कार था, चमत्कार था।

काशीके पास होनेके कारण एवं अयोध्यामें अनेक परिचित होनेके कारण, वहाँ कभी-कभी चला जाया करता था। हमारे गाँवके निकट विष्णुपुरा (बिसुनपुरा) के एक ब्राह्मण वैरागी होकर, श्रीजानकीघाटमें पण्डित श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजके आश्रममें निवास करते थे। उनके परिचयसे मैं

वहाँ जाया करता था और रहा करता था। कभी-कभी पण्डितजीके समीप बैठनेका सुअवसर मिलता था तो भक्ति-ज्ञानकी चर्चा भी होती। पण्डितजीने स्वयं मुझे बताया था कि बिहार प्रान्तमें उनका जन्म हुआ। यौवन-पर्यन्त कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे। किसी महात्माने उनको श्रीहनुमानजीकी उपासना बतायी। उन्होंने श्रीहनुमानजीकी आज्ञासे काशीमें जाकर किसी प्राचीन पुस्तकालयमें बड़े-बड़े ग्रन्थोंका दर्शन किया। केवल तीन दिनोंमें ही उन्हें निखिल शास्त्रोंका रहस्य हृदयंगम हो गया और वे महान् विद्वान् हो गये। श्रीसरयू-तटपर झोपड़ी लगाकर रहनेवाले श्रीरघुवरदासजी महाराजके पास उन्होंने मुझे भेजा था और बतलाया था कि उन्हें अट्ठारहों पुराण कण्ठस्थ हैं। वे महात्मा अत्यन्त आनन्दी थे एवं शास्त्रोंके तो मूर्तिमान् कोष ही थे। उन्होंने पण्डितजीके सम्बन्धमें अत्यन्त प्रशंसापूर्ण उत्तमोत्तम बातें बतायीं जिनका मेरे ऊपर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। एक साधु दूसरे साधुकी इतनी प्रशंसा कर सकता है, यह मुझे पहली बार अनुभव हुआ।

पण्डितजीके पास लौटनेपर मैंने उनसे साधु होनेकी इच्छा प्रकट की थी। उनका वह उत्तर मुझे अब भी कभी-कभी याद आता है।

पण्डितजीने मुझसे पूछा—'तुम्हारा घर कच्चा है कि पक्का?'

मैं—'कच्चा, मिट्टीकी दीवाल, खपरैलका छत।'

पण्डितजी—'परिवार कितना बड़ा है?'

मैं—'चार-पाँच सदस्य हैं।'

पण्डितजी—'भोजन क्या होता है?'

मैं—'दाल-चावल, रोटी-साग।'

पण्डितजी—'अच्छा तो सुनो! कच्चा घर छोड़कर मेरे आश्रममें आना, चार-पाँचका परिवार छोड़कर सैकड़ों साधुओंमें रहना और दाल-रोटीके स्थानपर लड्डू-पूरी खाना, यह कौन-सी साधुता होगी? त्याग-वैराग्य, भगवद्-भजनके लिए साधु हुआ जाता है, वह तो तुम घरमें रहकर भी कर सकते हो। जब साधु होनेका समय आवे तब साधु होना। कौतूहलके वशीभूत होकर साधु नहीं हुआ जाता, साधुताकी जड़में निश्चयकी दृढ़ता एवं सिद्धान्तकी पक्की नींव होनी चाहिए।'

कहना न होगा कि उस समय मैं अपने घर लौट आया।

दूसरी बार जब अयोध्या गया तब ठहरा तो था पण्डितजीके ही स्थानमें, परन्तु सत्संगके लिए स्थान-स्थानमें जाता था और महात्माओंसे मिलता था। एक महात्मा थे, उनको श्रीअवधधाममें गौवावाले साधुके नामसे लोग जानते थे।

छोटी-सी कुटिया, चारों ओर सहन। वे बड़े विनोदी स्वभावके थे। वृद्धावस्था थी। वेश-भूषा अकिञ्चिनोंकी-सी। चन्दनमालाका शृंगार भी उनके पास नहीं था। उनके पास जाकर बैठा। वे रामचरितके अच्छे-अच्छे भाव सुनाया करते थे।

एक बार मैंने गाँवावाले साधु बाबासे पूछा—'भगवान्‌के दर्शन कैसे हों?'

उन्होंने कुछ रूखे स्वरमें पूछा—'तुम कहाँसे आ रहे हो?'

मैंने कहा—'कनक-भवनसे।'

वे—'अच्छा! तो वहाँ केवल धातु-पाषाणके दर्शन करके आये? क्या दर्शन चाहते हो? जिसपर लाखोंकी श्रद्धा है, हजारों जिसको भगवान् मानते हैं; सैकड़ोंने जिसपर अपना जीवन न्यौछावर कर दिया है, उस लोकाभिराम श्रीरामका, जिसे हमलोग प्रत्यक्ष भगवान्‌के रूपमें देखते हैं, दर्शन करके आये हो और कोई दूसरा दर्शन चाहते हो! विश्वास करो, ये ही साक्षात् भगवान् श्रीराम हैं।'

मेरी समझमें बहुत बादमें यह बात आयी कि मूर्तिमें भगवान्‌को माना नहीं जाता। वह तो साक्षात् भगवान् ही है।

श्रीअयोध्याजीमें, श्रीसरयूके पावन-तटपर भगवान्‌का एक छोटा-सा मन्दिर है। उसमें श्रीसद्‌गुरु सदन-बिहारी भगवान्‌के दर्शन होते हैं। मूर्तिका सिर कुछ आगेको झुका हुआ है। महात्माओंने बताया कि मूर्तिका सिर पहले सीधा था। पण्डित श्रीउमापतिजी महाराज अपनेको गुरु वसिष्ठ मानते थे और पहनी हुई माला लाकर श्रीरामभद्रके गलेमें डाल दिया करते थे। साधुओंमें इसकी प्रतिक्रिया हुई। विद्वानोंने विरोध किया। सभा हुई। लोगोंने श्रीउमापतिजीसे पूछा कि आप तो अपनेको भगवान्‌का गुरु समझते हैं, परन्तु भगवान् अपनेको आपका शिष्य मानते हैं कि नहीं? पण्डित उमापतिजीने कहा कि मैं अपने भावके अनुसार बर्ताव करता हूँ। वे अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं कि नहीं, इससे मेरा क्या प्रयोजन! साधुओंने उनका तर्क स्वीकार नहीं किया। बोले कि चलकर हमारे सामने अपने गले-से माला उतारकर भगवान्‌को पहनाओ!

ऐसा ही किया गया। भगवान्‌ने पण्डितजीके सामने अपना सिर झुका लिया। वह मूर्ति अबतक वैसे ही झुकी हुई है। वह स्थान श्रीलक्ष्मण-किलाके समीप ही है।

पण्डित श्रीरामवल्लभाशरणजीके सान्निध्यमें रहते समय एक बार मैंने पूछा—'आप कहते हैं कि सरयू-स्नानसे मुक्ति होती है। उपनिषदोंमें कहा है कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती। इसकी क्या संगति है?'

पण्डितजीने कहा—'मैं मुक्त हूँ, यह संविद् ही तो ज्ञान है। यदि सरयू-

स्नानसे ही यह संविद् उत्पन्न हो जाती है कि 'मैं मुक्त हूँ', तो ज्ञान-मुक्तिमें और इस मुक्तिमें विरोध कहाँ है?'

मैं चुप हो गया। सचमुच 'मैं मुक्त हो गया', यह विश्वास जीवको अपनी साधनामें स्थिर कर देता है।

अद्वैत-वेदान्तियोंका सिद्धान्त दूसरा है। वे ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे अविद्याकी निवृत्ति मानते हैं। अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मुक्ति है। उनके यहाँ न मुक्ति साध्य है, न देय है। भक्तोंकी सालोक्यादि मुक्ति विश्वाससे प्राप्त होती है।

वस्तुतः अद्वैतियोंके समान ही भक्ति-सिद्धान्तमें भी ईश्वरका अंश-स्वरूप जीव नित्यमुक्त ही है। वे भी मुक्तिको अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं मानते, नित्य-प्राप्तकी प्राप्ति ही मानते हैं। अन्तर यह है कि जो भगवान्‌के सम्मुख होता है, वह अपनेको मुक्त अनुभव करता है। जो विमुख रहता है, वह अपनेको बद्ध अनुभव करता है। बन्धन और मुक्ति, विमुखता-सम्मुखता-मूलक हैं, स्वरूपमें नहीं हैं। जो ईश्वरको देखता है, वह मैं मुक्त तू बद्ध, ऐसा भेद नहीं बना सकता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें सब प्रभु हैं और बन्धन-मुक्ति लीलामात्र है।

मैं एवं भाई सुदर्शनसिंह 'चक्र' श्रीसरयू-स्नानके लिए जाते समय परस्पर चर्चा करने लगे। श्रीसरयू-तट एवं श्रीगङ्गा-तट इनमें क्या अन्तर है? यह अन्तर है कि गङ्गा-तटपर विरक्त अवधूतगण विचरते हैं। श्रीसरयू-तटपर भजन करनेवाले लोग रहते हैं। गङ्गा-तटपर ज्ञान-ध्यानकी चर्चा है, यहाँ नाम-कीर्तन, पूजा-पाठकी। जब हम दोनों श्रीराम घाटपर स्नान करके लौटने लगे तो पुरीके बाहर ही कुछ लोगोंने आकर कहा कि इस मार्गसे मत जाओ, उस टूटे मकानमें एक पागल रहता है और वह कभी-कभी ईंट फेंककर मार भी देता है। हम लोगोंकी थी जवानी, कुछ वैराग्य, कुछ भगवदाश्रयका बल; बलात् वहाँ पहुँच गये। पागलने हाथसे सङ्केत करके हमें अपने पास बुलाया। अपनी गुदड़ी बिछा दी। प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखा। बोला—'तुम्हारे पास कुछ खानेका है।' हमने कहा—'नहीं'। उसने कहा—'तुम्हारे लोटेमें सरयू-जल तो है, दे दो।' उसने ओक लगाकर सारा जल पी लिया। जल गिरनेसे मिट्टीका जो अंश भीग गया था, वह भी उसने खा लिया। 'चक्रजी'के पास चार-पाँच आने पैसे होंगे, उन्होंने दे दिये। अब वह आगे-आगे चला और हम लोग पीछे-पीछे। उस पागलको देखकर लोग डरके मारे अलग हो जाते थे और हमें पीछे-पीछे चलते देखकर आश्चर्य करते थे और मना करते थे। वह नङ्गा पागल १०-५ कुत्तोंसे घिरा हुआ आगे बढ़ने लगा। हलवाईको ४-५ आने पैसे दे दिये और उससे जो मिठाई मिली, कुत्तोंको खिला दी। प्रेमसे हम

लोगोंकी ओर देखता हुआ चला गया। हमलोगोंने बहुत सोच-विचारकर यह निश्चय किया कि यह तो कोई दत्तात्रेय जैसा महात्मा है, और हमारे मनकी आशङ्का मिटानेके लिए ही हमारे साथ इतने सद्भावका व्यवहार किया है। सचमुच वह एक आश्चर्य था!

मुझे सन्-सम्वत्का तो स्मरण नहीं, परन्तु उस समय श्रीअवधधाममें तुलसी-चबूतरेपर विद्वान् महात्माओंकी एक महत्त्वपूर्ण सभा हुई थी। वहाँ एक बड़े विद्वान् कर्कश-तर्कशाली, खड़े होकर व्याख्यान दे रहे थे। वे किसीकी सुनते नहीं थे। वह तेजस्वी वक्ता अपनी ओजस्विनी भाषण शैलीसे श्रीरामचरितमानसके अनेक प्रसङ्गोंको प्रक्षिप्त बताते जाते थे। उन्होंने श्रीवाल्मीकि-रामायणके भी एकाधिक प्रसङ्गोंको क्षेपक बताया और उन्हें रामायणमें-से निकाल देनेके लिए वैष्णव-जनोंसे आग्रह किया। बड़े-बड़े विद्वानोंने उनकी बात अमान्य कर दी। वे वक्ता थे, श्रीभगवदाचार्यजी महाराज। उनमें युवावस्थाका तेज था। तत्त्वदर्शी नामका एक मासिक-पत्र निकालते थे। अन्य मतोंका खण्डन बड़े उत्साहके साथ करते। शास्त्रार्थकी चुनौती देते। उनके प्रति, उस दिन, मेरे मनमें अरुचि उत्पन्न हो गयी और वर्षोंतक उनसे मिलनेका प्रयास नहीं किया।

जब श्रीभागवदाचार्यजीने 'भारत-पारिजातम्' नामका एक संस्कृत महाकाव्य लिखा और उसे मैंने पढ़ा तब मेरी श्रद्धा जाग्रत् होने लगी। उन्होंने न्याय, व्याकरण, वेदान्त, साहित्य आदिके साथ-साथ वेदोंका बहुत गम्भीर अध्ययन किया था एवं बादमें अपने मतके अनुसार उन्होंने वेद, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रपर भाष्य भी लिखे थे। वे पौरुष एवं भगवत्कृपाके मूर्तिमान् समन्वित-रूप थे। उन्होंने कितने कष्टसे अध्ययन किया था और श्रीरामानन्द सम्प्रदायको स्वतन्त्र बनानेमें कितना अथक परिश्रम किया था, यह श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंको अविदित नहीं है। उनकी सौ वर्षसे अधिक वय हो जानेपर उनका और मेरा मिलना बहुत बढ़ गया। वे मुझे इतना स्नेह और आदर देते थे कि मैं तो उनकी सहृदयता और वैदुष्यसे सम्मोहित हो गया था। उन्होंने बताया कि 'मैं' एक बार नर्मदा नदीके शान्त एकान्त वन-प्रान्तमें जाकर नितान्त निरीह भावसे बैठ गया। पूर्ण विश्वासके साथ मनमें दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली—'जबतक भगवती श्रीजानकीजी अपने कर कमलोंसे मुझे भोजन नहीं देंगी, तबतक मैं भोजनपान कुछ नहीं करूँगा। छठी रात्रिमें मैं मूर्च्छित-सा होने लगा। एक आभास हुआ—'श्रीसीतामाता स्वयं अपने हाथोंमें थाली लेकर आयी हैं। मुझे भोजन करा रही हैं। मूर्च्छा टूटी, शरीरमें शक्तिका सञ्चार हुआ, प्रसन्नता भी आयी। परन्तु इससे

मेरी प्रतिज्ञा-पूर्ति हो गयी, यह बात मैंने स्वीकार नहीं की। सातवीं रात्रिमें जागते समय ही, वात्सल्यमयी, करुणामयी श्रीसीताजी, थालमें भोजन लेकर आयीं, अपने हाथोंसे मुझे खिलाया। मेरे सिरपर हाथ रखकर प्यार-दुलार किया और आशीर्वाद दिया। मेरे जीवनमें जो विशेष प्रतिभा है वह उन्हींकी दी हुई है।' सम्भव है आपने सुना हो कि दरभङ्गा राज्यको एक विद्वत्परीक्षामें उन्होंने युगपत्, दो विद्वानोंके बोले हुए न्यायमीमांसाके विषयको दोनों हाथोंसे एक साथ ही लिख दिया था। उनका ध्यान और अवधान इतना दृढ़ था।

बम्बईमें महामण्डलेश्वर श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज (वेद-दर्शनाचार्य) ने पञ्च-महायागका आयोजन किया। श्रीभगवदाचार्यजी भी पधारे थे। वेदोंकी पौरुषेयता अपौरुषेयताको लेकर मेरा उनका मतभेद हो गया। मञ्चपर ही संस्कृतके श्लोकोंमें लिखकर मैंने उनका प्रतिवाद किया। उन्होंने भी वहीं बैठे-बैठे श्लोकोंमें लिखकर अपना भाव स्पष्ट किया। इतनी नम्रता एवं सहृदयतासे उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये थे और जिस बातके लिए मुझे दुःख पहुँचा उसके लिए क्षमा माँगी। यह सब देखकर तो मैं मुग्ध-मुग्ध हो गया। वे श्लोक अब मेरे पास नहीं हैं। उन्होंने अपनी स्मारिकामें कुछ श्लोक लिखे हैं, जो उन्हींके अनुसार अधूरे हैं। परन्तु, जब उन्होंने अपनी शताब्दिके उपलक्ष्यमें मुझे बुलाया, उसमें देशके बड़े-बड़े सन्त-महात्मा, विद्वान्, नेता, मन्त्री एकत्र हुए, तब महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराजने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि उन्होंने वेदोंपर जो भाष्य लिखा है वह सात्त्वत पक्षके अनुसार तो ठीक है ही, ब्रह्मसूत्रपर जो मन्त्रसंहिताओंसे अधिकरण बनाकर नवीन भाष्यका निर्माण किया है वह अबतक कहीं किसीने भी नहीं किया है एवं मैं आधिकारिक रूपसे स्पष्ट करता हूँ कि यह एक अभूतपूर्व उद्भावना है—'विद्वानेव विजानाति, विद्वज्जनपरिश्रमम्' विद्वान् ही विद्वान्के परिश्रमको अनुभव कर सकता है। कहना नहीं होगा कि स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज लगभग १५ विषयोंके आचार्य थे एवं संन्यासियोंमें सर्वमान्य महान् विद्वान् थे।

श्रीभगवदाचार्यजी महाराज न केवल वेदशास्त्रोंके पारदृश्वा विद्वान् ही थे प्रत्युत उनकी सहृदयता एवं सौजन्य भी अपूर्व ही था। वे श्रीजानकीजीकी चर्चा आते ही एक अलौकिक रसका अनुभव करने लगते थे। नेत्रोंमें आँसू, शरीरमें रोमाञ्च, वाणी गद्गद हो जाया करती थी। लोगोंने बताया कि जब वे आबूमें चम्पा गुफा में रहते थे तब स्वयं श्रीजानकीजीने उनके ललाटपर तिलक लगाया था। उनकी जन्म-शताब्दि मनानेके पश्चात् भी वे मेरे पास लठिया टेकते हुए जहाँ मैं

ठहरा होता, आजाते थे। एक दिन उन्होंने स्वयं अपने हाथसे खिचड़ी पकाकर खिलायी। जब मैं उनके यहाँसे चलने लगता, वे बाहरतक पहुँचानेके लिए आजाते थे। उनकी दृष्टिमें इतना स्नेह था, व्यवहारमें इतना सौजन्य था कि उनका वैदुष्य तो बहुत पीछे रह जाता था। वैष्णव-जनोंने उन्हें 'श्रीरामानन्दाचार्य'की पदवी दी थी। परन्तु, उनकी रहनीमें कोई अन्तर नहीं आया था। 'पण्डितराज' एवं 'सार्वभौम'की पदवी तो उन्हें काशीके विद्वानोंने ही दी थी। उनके लिखे ग्रन्थ, उनके पाण्डित्य, भक्ति भाव एवं समाज सेवाके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

श्रीभागवदाचार्यजी महाराजके स्मरणके साथ मैं अपने मूल विषयसे अलग हो गया। आइये, पुन: पीछे लौट चलें!

सन् १९३५-३६ के लगभग प्रसिद्ध महात्मा श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजीने प्रतिष्ठानपुर (झूसी)- में भगवन्नाम-संकीर्तनका सम्वत्सर-व्यापी आयोजन किया था। मैं भी उस अनुष्ठानमें मौनी, फलाहारी रहकर श्रीमद्भागवतका प्रवचन किया करता था। ब्रह्मचारीजीका मुझपर बहुत स्नेह था। उन्होंने बड़े-बड़े महात्माओं, महामण्डलेश्वरों, नेताओंको आमन्त्रित किया और उनके सामने मेरा प्रवचन करवाया। सच पूछा जाय तो ब्रह्मचारीजीने ही मुझे सार्वजनिक कथावाचक बनाया। उस महोत्सवमें श्रीउड़िया बाबाजी महाराज पधारे थे। श्रीप्रयागराजकी बारह दिनकी परिक्रमा हुई। श्रीउड़ियाबाबजी महाराज वहींसे अपने परिकरसहित, श्रीअयोध्याजीके लिए चल पड़े। वे पैदल ही यात्रा करते थे। मार्गमें अनेक चमत्कार हुए।

श्रीअयोध्याजीमें उन दिनों कई वयोवृद्ध एवं सिद्ध सन्त निवास करते थे। श्रीहनुमत्-निवासके पास ही श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके रहनेकी व्यवस्था थी। बड़े-बड़े सन्त मिलनेको आते थे। अब उनके नाम मुझे भूल गये हैं। वहाँ एक समष्टि भण्डारा हुआ। हजारोंअयोध्यावासीसन्तोंके एकत्र दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

एक घटना मुझे कभी-कभी याद आजाती है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके स्वागतके लिए 'मानसपीयूष' के रचयिता श्रीअञ्जनीनन्दनशरण आते हुए दीखे। श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी आगे बढ़े। दोनोंने एक दूसरेको धरतीपर लेटकर साष्टांग दण्डवत् किया। एकके पीछे एक सैकड़ों लोग पृथिवीपर लेट-लेटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करने लगे। एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हो गया। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज खड़े-खड़े हँस रहे थे। सब लोग पड़े थे। थोड़ी देरके बाद सब सामान्य हो गये। मानसपीयूषकार महात्मा अत्यन्त विनयी, सरल एवं सन्तोंके प्रति महती

श्रद्धा रखते थे। उन्होंने बाबाके पास बैठकर मानसके अनेक प्रसङ्गोंके विभिन्न व्याख्याताओंके परस्पर विलक्षण भाव सुनाये। उन्होंने मानसका इतना गम्भीर चिन्तन किया था और मानसके रहस्यात्मक भावोंका ऐसा साक्षात्कार किया था कि सुनकर हृदय गद्गद हो जाता था। उनका कहना था कि इस युगमें रामचरितमानस ही वेद एवं शिवोक्त होनेसे तन्त्र है। यह एक आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है। जो इसका आश्रय लेगा उसको भगवद्भक्तिकी प्राप्ति अवश्यमेव होगी।

उन दिनों ही महात्मा श्रीकान्तशरणजी 'मानसतिलक' का संग्रह कर रहे थे।

वहीं किसी महात्माने एक प्रसंग सुनाया—श्रीअवधधाममें किसी महात्माके स्थानमें सत्संग चल रहा था। एक भावुक साधु, सन्तोंको पंखा झल रहे थे। पंखा झलते-झलते ऐसे भाव-विह्वल हो गये कि उनके हाथोंसे बड़ा पंखा छूटकर गिर पड़ा। वे मूर्च्छित होकर पड़ गये। कई महात्मा उठे। उनको अलग ले जाकर पानीका छींटा दिया, भगवान्‌का चरणामृत मुँहमें डाला। वे सावधान हो गये। लोगोंने पूछा—'आपको ऐसा क्या अनुभव हुआ कि आप इतने तन्मय हो गये, सेवा छूट गयी।' उन्होंने बताया कि जब वे पंखा झल रहे थे तो ऐसा लग रहा था कि सब महात्माओंके हृदयमें अलग-अलग श्रीसीताराम, लक्ष्मण एवं हनुमानजी विराजमान हैं। वे परस्पर एक-दूसरेको देखकर मुस्कराते हैं, बातचीत करते हैं, आनन्द लेते हैं। यह सब भगवान्‌की लीला हो रही है, बस इसके बाद मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ कि क्या हुआ! जब फिर वे पंखा झलनेको उद्यत हुए तो महात्माओंने कहा कि अब आप सेवाके अधिकारी नहीं रहे। ध्यान, समाधि या तन्मयताका सुख स्वसुख है—आत्मसुख है। आत्मसुखका आस्वादन करनेवाला सेवाका अधिकारी नहीं होता। जो आत्मसुख एवं भगवत्-सुखकी भी उपेक्षा करके तत्सुखी भावसे सेवा करता है, वह सेवाका अधिकारी होता है। अब आप ध्यान-भजनमें तन्मयताका रसास्वादन कीजिये। आप सेवासे मुक्त किये जाते हैं। इस प्रसंगसे अपने आप ही यह बात याद आ जाती है कि द्वारकामें सत्यभामा, श्रीकृष्णको पंखा झलते-झलते, जब दारुकको रोमाञ्च, अश्रुपात एवं तन्मयताका सञ्चार हुआ तब उसने अपनेको सावधान कर लिया और आत्मसुखकी उपेक्षा करके भगवत्सेवामें संलग्न हो गया। यह कथा श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीरूप गोस्वामीजीने लिखी है।

कल्याण-सम्पादनके कार्यमें लग जाने एवं बादमें संन्यास ग्रहण कर लेनेपर श्रीअयोध्याजीका आना-जाना बहुत ही कम हो गया। किसी विशेष

प्रसंगका स्मरण नहीं है। सन् १९५० के आस-पास कानपुरवाली माँजी (स्व पद्मपत सिंघानियाकी माताजी) मुझे श्रीअयोध्याजी ले गयीं। पुलसे ऊपरकी ओर जहाँ श्रीसरयूकी स्वच्छ धारा बालुकामय पुलिन, पारका विशाल भूभाग, एक दिव्य-छटा छिटकाता रहता है, घण्टे-दो-घण्टे वहीं रहे। स्नान-पान-भोजन सब तटपर ही हुआ। 'सर' का अर्थ है श्रीरामचन्द्रकी ओर सरकनेवाली, 'यू' का अर्थ है, प्रभुसे मिलानेवाली। यह मानसनन्दिनी सरयू, जन-जनके मनमें रामभक्ति-रस भरनेवाली है। वहाँ स्वाभाविक ही श्रीवियोगी हरिजीका वह दोहा स्मृति पथपर बार-बार आने लगा।

कलित कन्त धनु तून कटि कर सर सरयू तीर।
संग सखान बानिक वहै बसतु दृगनि रघुबीर॥

'अहो, यह वही सरयू-तट है, जहाँ रघुबीर श्रीरामचन्द्र कन्धेपर धनुष, कटि भागपर तूणीर, कर-कमलमें बाण लिये, सखाओंके संग विचरण किया करते थे।' यह भगवान्‌का धाम, प्रपञ्चकी स्मृति एवं संसारके राग-रोषको मिटाकर, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें परम अनुरक्ति उत्पन्न करनेवाला है।

थोड़ी देरतक माँजीके साथ, रामकथाका प्रसंग चला। सायंकाल कनक-भवनमें श्रीयुगल-सरकारकी बाँकी झाँकीका एक झलक मिली, कानपुर लौट आये।

जब दैवी-सम्पद महामण्डलकी 'चरित्र-निर्माण तीर्थ यात्रा स्पेशन ट्रेन' निकली, उसमें मैं भी गया। श्रीअवधके सन्तोंने बड़ी उदारतासे छावनी, प्रमोद वन, श्रीजानकी-घाट, हनुमानगढ़ी, भगवदाचार्य सभा-मण्डपमें स्वागत-सत्कार किया। अवधकी सन्त-मण्डली आनन्दोल्लाससे परिपूर्ण होकर भगवन्नामके गानमें तन्मय हो जाती थी। इसी यात्रामें श्रीसीतारामशरणजी 'श्रीलक्ष्मण किलाधीश' से मिलना हुआ। वे छावनीमें श्रीवाल्मीकि-रामायणका पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन करते थे। सद्‌गुरु-सदनमें स्वयं उन्होंने भोजन बनाया, भगवान्‌को भोग लगाया और हम लोगोंको प्रसाद पवाया। उनकी और मेरी भागवत-चर्चा चलती ही रहती थी। उनमें विद्वत्ता और रसिकता दोनों एक साथ विराजमान है। तबसे लेकर अबतक श्रीसीतारामशरणजी महाराजसे बार-बार मिलना-जुलना, आना-जाना होता रहा है। कानपुर, वाराणसी, दिल्ली, बम्बई, वृन्दावन जब-जब श्रीमद्‌भागवतके या अन्य प्रवचन होते, वे प्रेमपूर्वक श्रोताके रूपमें उपस्थित हो जाते। स्वयं इन्होंने, वृन्दावन एवं बम्बईमें श्रीमद्‌वाल्मीकि-रामायणका श्रवण कराया है। वे श्रीसीताजी एवं श्रीरामचन्द्र भगवान्‌के सम्बन्धमें बहुत ही सुन्दर एवं मधुर भाव सुनाते रहते हैं।

श्रीसीतारामशरणजी महाराजने मुझे श्रीगुणरत्नकोशके कई मधुर एवं भावपूर्ण श्लोक सुनाये और मैं उन्हें पढूँ ऐसी इच्छा प्रकट की। उनमें-से उदाहरणके रूपमें कुछ श्लोक दिये जाते हैं।

मातार्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तञ्च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसस्सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥

काक और विभीषण जब हुए रामकी शरण तभी किया उनका रक्षण।
किन्तु जननी जानकी! राक्षसियों ने आपकी शरण न ली,
हनुमानजी से फिर भी तो रक्षा की, लघुता हो गयी राम की।
ऐसी जो अहैतुकी कृपा है आपकी
हम जो बड़े पातकी, उन्हें भी करें सुखी।

पितेव त्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्त्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥

जन जो हैं सदोष
पिताकी तरह हितभावसे जब राम उनपर करते रोष।
हे जननि! कहतीं तब आप यह क्या? इस जगमें कौन निर्दोष?
कहकर ऐसे उचित बचन करातीं दोषोंका विस्मरण
बनातीं अपना स्वजन। तुम हमारी माँ जो हो!

अधिशयितवानब्धिं नाथो ममन्थ बबन्ध तम्
हरधनुरसौ वल्लीभञ्जं बभञ्ज च मैथिलि।
अपि दशमुखीं लूत्वा रक्षः कबन्धमनर्तयत्
किमिव न पतिः कर्ता त्वच्चाटुचुञ्चुमनोरथः॥

कभी किया समुद्र में शयन
कभी किया उसका मन्थन और कभी बन्धन।
शंकरका जो इष्वास (धनुष) वह भी तोड़ा अनायास।
दशमुख था रावण उनका भी किया छेदन
प्रेममें डूबा जो पिया तुम्हारे लिए सिया।
उसने क्या-क्या न किया!

ऐश्वर्यमक्षरगतिं परमं पदं वा
कस्मै चिदञ्जलिभरं वहते वित्तीर्य।
अस्मै न किंचिदुचितं कृतमित्यथाम्ब
त्वं लज्जसे कथय कोयमुदारभावः॥

जो कोई एक बार, कर देता है नमस्कार,
उसीको ऐश्वर्य अक्षर गति परम पद तक दे डालती।
कि इसको है मैंने नहीं कुछ दिया, लजाती हो फिर भी अहो तुम सिया!
कैसा है अद्भुत यह औदार्य, मुझे देख होता बड़ा आश्चर्य॥

श्रीअयोध्याजीकी स्मृतियोंमें एक महापुरुष ऐसे हैं, जिनका सौशील्य, सौजन्य एवं वैदुष्य कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन्हें अवधके एक प्रतिष्ठित विद्यालयमें अध्ययन करते देखा था। श्रीसम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालयमें अध्यापन करते देखा था। भारत साधु-समाजकी समितियोंमें सम्मिलित होते देखा था। मैं उनके सरल जीवन एवं उच्च विचारका आदर करता था और करता हूँ। वे इतने सरल थे कि उन्हें अपने पाण्डित्यका भान नहीं रहता था। आवश्यक होनेपर वे वेदान्तके सभी ग्रन्थोंका अध्यापन करते थे। वे थे सार्वभौम विद्वान् श्रीवासुदेवजी महाराज!

वह घटना मुझे भूल नहीं सकती जब वे बिना किसी बिस्तर, पात्र एवं आच्छादन वस्त्रके बिना ही, किसी पूर्व सूचनाके अपने आप, मेरे पास आ पहुँचे। उनकी आत्मीयता देखकर, मैं आश्चर्यचकित रह गया। जैसे उनके जीवनमें किसी वस्तु अथवा व्यक्तिकी आवश्यकता ही न हो। कुछ समयतक वे मेरी कुटियामें रहे—सर्वथा साधारण रूपमें। उनके जीवनमें पग-पगपर उनकी एक-एक क्रियासे महात्मापनकी अभिव्यक्ति होती रहती थी। वस्तुतः महात्माओंका जीवन ऐसा ही होता है। वे दिव्य अवधधामके एक दिव्य महापुरुष थे ऐसा मेरा विश्वास है।

❋

सन्त आत्माराम 'वैद्य'

रात्रिमें दो बजे हम तीन-चार मित्र बैठकर भगवन्नाम-संकीर्तन कर रहे थे। स्वर-तालसे झाँझ बजा रहे थे। ढोलक भी बज रही थी। तन्मयता नहीं थी, कुछ-कुछ नींदका प्रभाव था। द्वार खुला था। एक व्यक्ति प्रविष्ट हुआ। उसके सिर पर, गलेमें, बाँहोंमें रुद्राक्षकी माला ही माला थी। हाथोंमें करताल, नृत्य करता हुआ। हमलोग सावधान हो गये। हमारा संकीर्तन होता रहा और उसका नृत्य। घण्टों बीत गये। कुछ अँधेरा रहते ही वह व्यक्ति वहाँसे जाने लगा। मैं और मेरे कुछ साथियोंने तो उस व्यक्तिको एक साधु ही समझा! परन्तु आत्माराम 'वैद्य' जो हम संकीर्तन करनेवालोंमें-से एक थे, उसको साक्षात् शंकर समझकर उस व्यक्तिके पीछे हो लिये और गंगाजीसे संलग्न नीचेके नालेमें चले गये। वह व्यक्ति कहीं छिप गया परन्तु आत्मारामने समझा कि वह अन्तर्धान हो गया। उनके चित्तमें शंकरजीके दर्शनका प्रसाद और अन्तर्धान हो जानेका विषाद, बहुत दिनोंतक बना रहा। वे इस घटनाकी चर्चा भी किया करते थे। यह घटना झूसी, प्रयागके संकीर्तन भवनकी है। लगभग सन् १९३५-३६ का समय होगा।

पण्डित आत्मारामजी सरल स्वभावके एक सज्जन पुरुष थे। हमारा और उनका परिचय उपर्युक्त घटनाके कई वर्ष पूर्व, कनखल, हरिद्वारके भारती विद्यालयमें हुआ था। मैं महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराजसे भाष्य पढ़ता और कुछ लोगोंको वेदान्तके अन्य ग्रन्थ पढ़ा दिया करता था। उसी

समय बरनालाके पण्डित आत्माराम, संगरूरके श्रीजीवानन्द, श्रीवृजबल्लभ एवं पं० हरिनन्दनजी वहाँ ठहरे हुए थे और वे लोग भी वेदान्तका श्रवण किया करते थे। परस्पर सत्संग होता। आत्मारामजीको संस्कृतके बहुत-से श्लोक कण्ठस्थ थे—सुनाया करते थे। मैं भी योग देता था। अर्थपर विचार होता। वे सरल एवं सौम्य तो थे ही; विनयी भी बहुत थे। कोई नया अर्थ बताना होता तो इस प्रकार बोलते कि आप जो कहते हैं, वही सही अर्थ है परन्तु मुझे ऐसा लगता है। किसीके मुँहसे निकली हुई किसी भी बातपर अविश्वास नहीं करते थे। ज्यों-की-त्यों मान लिया करते थे। एक दिन गीता-सम्बन्धी संवादमें मैंने सुनाया कि जो यह जान लेता है कि श्रीकृष्ण कर्म-लेपसे मुक्त हैं, अर्थात् कर्त्ता नहीं हैं एवं कर्मफलके भोक्ता भी नहीं हैं—वह स्वयं भी कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे मुक्त हो जाता है। उनकी आँखोंमें एक चमक-सी आ गयी। पूछने लगे—'ऐसा कैसे होता है जी? कृष्णको अकर्त्ता, अभोक्ता जानें और हम अकर्ता, अभोक्ता हो जायें।' मैंने समझाया—तत्त्वतः आत्मा, असंग, निर्विकार एक-रस है। जो श्रीकृष्णका आत्मा है, वही मेरा आत्मा है, वही सबका आत्मा है। अंश माननेपर भी स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर, उपाधिके कारण है। उपाधि अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण मिथ्या है। अतएव आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप ही है। श्रीकृष्णकी आत्माको जानोगे तो अपनी ही आत्माको जानोगे। फिर तो कर्म-बन्धनका सम्बन्ध ही कहाँ है? यह सुनकर वे आनन्दमें मग्न हो गये। बोलने लगे—'सचमुच कर्म और भोगके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।' सरल भावसे बारम्बार इस बातको दोहराते रहते। यही तो महावाक्यका तात्पर्य है।

वे प्रायः चुपचाप रहते थे। बहुत आवश्यक होनेपर थोड़ा बोलते थे। आवाजमें मधुरता थी। आक्षेप तो क्या करते, प्रश्न भी नहीं करते। कभी उनके मुँहसे किसीकी निन्दा नहीं सुनी गयी। कोई किसीको कड़ा बोलता तो कहते यह क्या लीला हो रही है! मैं कभी संसारके मिथ्यात्वका निरूपण करने लगता तो ऐसे बोलते—'आप जो कह रहे हैं सो ठीक है। हमको भी सब मिथ्या ही लगता है। यह सब मनकी लीला है। आपजी यह बतानेकी कृपा कीजिये कि गीतामें संसारको मिथ्या समझनेकी युक्ति क्या है?' मैं बोलता—'आत्मारामजी! सत्यका जन्म-मरण नहीं होता। जैसे, आत्माका। जन्म-मरण माने उत्पत्ति एवं विनाशकी प्रतीति। अपने जन्म-मरणकी कल्पना होती है, प्रतीति नहीं। असत्यका भी जन्म-मरण नहीं होता। जैसे, बन्ध्या-पुत्रका। वह तो है ही नहीं, उसके उत्पत्ति-

विनाशकी प्रतीति किसको हो?' वे कहने लगते—'ठीक है, जी!' आपजीने तो 'नासतो विद्यते भावः'का तात्पर्य कह दिया। तब यह है क्या? हाँ, हाँ, ठीक है। यह सब अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय माने आत्मा ही है न? हँसकर बोलते—'आत्माराम, अज-अजर, अमर-अविनाशी है। धन्य है, धन्य है।'

एक बार कहने लगे—'यह श्रीकृष्णजी भी सीधी-सीधी बात नहीं करते। कभी कहते हैं, सारे दृश्य पदार्थ मुझमें हैं।' तो कभी कहते हैं, 'मुझमें कुछ नहीं।' कैसे लीला-धारी हैं? मैं कहता—'आत्मा-रामजी! जिसको जैसा दिखता है, उसके लिए वैसा बोलते हैं। अर्जुनको भीष्म, द्रोण, कर्ण दिखते थे, तब उन्होंने जीवित भीष्म, द्रोण, कर्ण दिखते थे, तब उन्होंने जीवित भीष्म, द्रोण, कर्णको मरा हुआ दिखा दिया। सो भी कहाँ? अपने शरीरमें। वे क्या हैं, मरे हैं कि जीवित हैं? अज्ञानीकी दृष्टिसे जीवित हैं। विराट्-दर्शी ज्ञानीकी दृष्टिसे मृत हैं। अज्ञानीकी दृष्टिसे परमात्मामें सब कुछ स्थित है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे परमात्मामें सब कुछ स्थित है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे कुछ नहीं।' आत्मारामजीके बोलनेमें कभी-कभी आश्चर्यका भाव प्रकट होता—'हो! हो! ऐसी लीला है।' इसीसे आपजी इसको 'माया' कहते हैं। है भी, नहीं भी है। क्या आश्चर्य है! मैंने कनखलमें गीता पढ़ायी थी। उसकी बार-बार याद किया करते थे।

जब मेरे पत्र आनन्द-वाणीमें प्रकाशित होने लगे तब स्मरण हुआ कि मैंने पहले गृहास्थाश्रममें अपने गाँवसे और गोरखपुर 'कल्याण'-परिवारमें रहते समय भी उनको कुछ पत्र लिखे थे। प्रबुद्धानन्दने उनके पुत्र श्रीभोलानाथजीको लिखा कि यदि वे पत्र सुरक्षित हों तो वे उन्हें **भेज** दें। भोलानाथजी एक माता-पितृभक्त सज्जन पुरुष हैं। कभी-कभी मुझे मिलते भी रहते हैं। उन्होंने मेरे लिखे हुए चार पत्र ढूँढ़ निकाले और उन्हें भेज दिया। उन पत्रोंको आपके सम्मुख रखनेसे पूर्व मैं अपने परम प्रिय भोलानाथजीका पत्र उपस्थित करता हूँ।

प्रबुद्धानन्दजीके नाम भोलानाथजीका पत्र—

परमादरणीय पूज्यश्री स्वामी प्रबुद्धानन्दजी महाराजके पावन चरण-कमलोंमें भोलानाथका सविनय प्रणाम।

एक अर्सा बीत जानेपर हो चुकी निराशाको आशामें बदल दिया आपने तो, इसके लिए मैं कितना आभारी हूँ, शब्द नहीं है बतानेके लिए।

आपका मधुर पत्र पाकर जितनी अधिक प्रसन्नता हुई उसके साथ-ही-थोड़ी मनकी व्यथा बढ़ी कि पूज्य महाराजश्रीने यह प्रसाद भेजनेके लिए मुझे अयोग्य क्यों समझा? क्या उन्हें मेरे यानि भोलानाथ नामक शरीरका पितामह होना स्वीकार

नहीं है? यदि है तो जिस प्रकार पूज्य पिताजीको 'बस एक ही बात'का सुनिश्चय करा दिया, वैसी ही कृपा मुझ दीनपर भी करें, जिससे मुझे पूज्य पिताजीका मेरे पास न होना भी इस प्रकार अनुभव हो कि वे सदैव मेरे रोम-रोममें विचरण कर रहे हों। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार महाराजश्रीका उपदेश-स्वरूप उनके रोम-रोममें विद्यमान था।

आपके पत्रसे अनुभव हुआ कि पूज्य महाराजश्री आपके पास ही थे, पत्र लिखनेके समय। आपने जैसा कि पत्रमें लिखा है 'पूज्य महाराजश्रीने तो बचपनमें ही महरैया गाँव छोड़ दिया था।' इस वाक्यसे जान पड़ता है कि पूज्य पिताजी और पूज्य महाराजश्रीका सम्बन्ध बहुत समयसे है। यदि हाँ, तब तो मुझे और भी शुभावसर मिल गया, आपसे सविनय प्रार्थना करनेका कि जब पूज्य पिताजीकी पूज्य महाराजश्रीसे प्रथम भेंट हुई तो उनका वास्तविक रूप क्या था? पूज्य महाराजश्रीकी चरण-सेवामें कितना समय रहे व किस रूपमें रहे। यदि पूज्य महाराजश्री योग्य समझें तो जो भी विस्तृत विवरण मुझे दे सकें देवें या फिर यदि उचित समझें तो 'चिन्तामणि' त्रैमासिकमें प्रकाशित करें।

अधिक बातें तो महाराजश्रीके अप्रैलमें दर्शन करनेपर ही होंगी। मन तो चाहता है महाराजश्रीके पुण्य चरणोंमें अवशेष जीवन व्यतीत करनेका। परन्तु इसके लिए भी सर्वप्रथम पितामहकी पवित्र स्वीकृतिकी आवश्यकता अनुभव कर रहा हूँ।

इस रजिस्ट्रीमें व इस पत्रके साथ पूज्य महाराजश्रीके वे पत्र जो पूज्य पिताजीको भेजे गये थे, भेज रहा हूँ, जैसा भी आप योग्य समझें कर लेवें। एवं 'चिन्तामणि' मुझे भेजते रहें। मैं उसके लिए यथा योग्य सेवा करता रहूँगा।

अन्तमें ब्रह्मरूप पूज्य महाराजश्रीके पावन चरण-कमलोंमें मातृ-परिवार सहित कोटिश: सविनय प्रणाम करता हूँ एवं इसके साथ ही शीघ्र पत्रोत्तरके लिए प्रार्थना एवं कामना करता हूँ।

आपका
कृपाकांक्षी
भोलानाथ

मेरे पत्र श्री आत्मारामजीके नाम।

पहला पत्र—मेरी जन्म-भूमि महरैया गाँवसे लिखा गया था।

दूसरा पत्र—सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका (संस्थापक गीताप्रेस)के निवास-स्थान बाँकुड़ासे लिखा गया था।

तीसरा पत्र—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ('कल्याण'-सम्पादक)की जन्मभूमि, रतनगढ़, राजस्थानसे लिखा गया था।

चौथा पत्र—संन्यासी होनेके पश्चात् लिखा गया था।

पाँचवा पत्र—संभवत: श्रीजीवानन्दजीके नाम लिखा गया था।

पहला पत्र

श्रीमदात्मानन्दादि महानुभावेषु,

आनन्दस्वरूपा सृष्टिमें लेशमात्र दु:खकी सम्भावना नहीं है। प्रतीति तो मरुमरीचिकाकी भाँति स्वकल्पना प्रसूत है। अखण्ड आत्मतत्त्वमें सारे कार्य, कारण स्वप्नवत् हैं। अथ च दृष्ट अथवा श्रुतकी कल्पना-स्फुरणा भी नहीं है। वस्तुत: जाग्रदवस्था वह है जब स्वरूपमें स्थिति रहती है। संसार स्वप्नकी दशा है। सत्य मान लेनेपर राग-द्वेष और तज्जन्य सुख-दु:ख होते हैं। 'यह स्वप्न हैं' इस विस्पष्ट बोधका नाम स्मृति या ज्ञान है। सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें एक मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। क्षेत्रोंकी सत्ता, शक्ति, क्रिया और विभिन्न विचित्रताएँ मुझ एक-रसमें ही न होनेपर भी प्रतीत हो रही हैं। मैं इन स्वाप्निक चित्रपटोंके परिवर्तनका नित्य साक्षी हूँ। इस स्वप्नके रहस्योंको मैं जानता हूँ। इसीसे सब प्रकारके दृश्योंमें आनन्दकी अटूट धारा प्रवाहित रहती है।

साक्षित्व और ज्ञातृत्व भी बड़ा विचित्र है। द्रष्टा वस्तुत: अपनेको ही देखता है। ज्ञाता अपनेको ही जानता है। विजातीय वस्तुका ज्ञान किसी भी कारणसे नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—नेत्रेन्द्रिय द्वारा सूर्यके प्रकाशसे रूपका ग्रहण होता है। सभी तेज तन्मात्राके रूप हैं। मन, पाञ्चभौतिक जगत्‌का ज्ञान प्राप्त करता है; क्योंकि यह उसीसे बना है। मैं संसारका द्रष्टा-ज्ञाता हूँ। इसलिए मुझसे वह अभिन्न है। मैं चेतन हूँ, अत: सम्पूर्ण चेतन है। तब क्या मुझमें स्वगत-भेद है—जैसे रस, दाना, छिलकाकी समष्टि दाड़िम (अनार) है, उसी प्रकार क्या मैं भी द्रष्टा, दृष्टि, दृश्यकी त्रिपुटीके रूपमें हूँ, विशिष्टाद्वैत मतके प्रवर्त्तकों, अनुवर्त्तकोंका यही अनुभव है, सांसारिक ज्ञानोपलब्धिका यही नियम है। परन्तु मुझमें—आत्मतत्त्वमें, स्पन्दन और परिणाम हो ही नहीं सकता। एक-रस—अवकाशहीन, स्थिर अथ च परिपूर्ण वस्तुमें—विकारित्व, जिसके साथ विनाशित्व भी लगा हुआ है, सम्भव नहीं है—इसीसे त्रिविधरूपता परिणाम नहीं; विवर्त है—सतात्त्विक अन्यथा भाव नहीं, अतात्त्विक है। इस विवर्तसे सारे प्रपञ्चकी सृष्टि-प्रक्रियाका सोपपत्तिक निरूपण साक्षात्कृतात्माओंके द्वारा किया

गया है, जो कि प्रत्येक शुद्ध सत्त्व मननशील निदिध्यासुके अनुभवमें आता है, परन्तु इस आवापोद्वाप (उधेड़-बुन)में पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। कल्पना कीजिये कि एक सर्प ऊपरसे गोदमें गिरा। क्या अब आप यह सोचेंगे कि यह कहाँसे क्यों गिरा—या उसे सत्त्वर निःक्षिप्त कर देंगे। बात भी ऐसी है—संसार, सर्प—एकार्थक शब्द हैं। संसरणात् संसारः, सर्पणात् सर्पः। इसकी उत्पत्तिकी उपपत्ति लगाना व्यर्थ है। इसीसे सांख्य-दर्शनके प्रणेताने अन्तमें कहा है—यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः, चाहे जो हो उसका उच्छेद (आत्यन्तिक सत्तानाश) कर डालना ही पुरुषार्थ है।

इसीसे गुरु, ब्रह्मका पहले स्वरूप समझाता है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म।' इसके समझनेपर कहता है—'तत्त्वमसि।' बस, गुरुदेवकी दीक्षा यहीं समाप्त हो जाती है और शिष्यका श्रवण भी। अब मननकी बारी आती है। सोचता है, 'अयमात्मा ब्रह्म' और निदिध्यासन करता है; 'अहं ब्रह्मास्मि।' मनन और निदिध्यासन अपना काम है, यह सर्वथा अपने पुरुषार्थ-प्रयत्नपर निर्भर है और यही स्वरूप-साक्षात्कारका साक्षात् उपाय है।

आपका

शान्तनु विहारी

(महरैय्या-धानापुर, बनारस)

दूसरा-पत्र

(श्री हरिः)

श्री आत्मारामजी,

एकरस अखण्ड सच्चिदानन्द आत्मामें नामरूपकी सत्ता नहीं है। आत्मामें संयोग-वियोग तभी संभव है जब दूसरेका अस्तित्व हो। आप स्वरूपमें स्थित हैं। यदि 'शान्तनु' नामक कोई शरीर है, तो वह आपसे भिन्न है या अभिन्न? भिन्नकी तो कल्पना ही नहीं है; और यदि वह अभिन्न है तो वियोग कैसा? देवता! मैं आपसे अलग न हुआ, न हूँ और न होऊँगा। क्या मैं आत्माके रूपसे आपके अपरोक्ष नहीं हूँ? मैं साक्ष्य और साक्षित्वसे शून्य होनेपर भी साक्षी हूँ? निरन्तर मेरी ईक्षण-शक्तिसे ही आत्माराम नामक शरीर आप्यायित और आप्लावित है। सब कुछ मेरा संकल्प है फिर भी मैं निःसंकल्प हूँ। एक अखण्ड चिद्वस्तुमें—संकल्प और संकल्पाभाव—दोनों ही माया-विजृम्भित हैं।

वह—चिद्वस्तु 'मैं' का वाच्यार्थ नहीं, दोनोंका ही लक्ष्यार्थ है; इसलिए केवल मैं ही सत्य हूँ, केवल सत्य मैं ही हूँ।

आपका अपना

शान्तनु

(द्वारा, श्री जयदयालजी गोयन्दका, बाँकुड़ा, बंगाल)

तीसरा पत्र

प्यारे आत्मदेव! सर्वदा अपने आपमें मस्त रहो। एकरस परिपूर्ण सच्चिदानन्द ही अपना वास्तविक स्वरूप है। न भाव है, न अभाव। अनिर्वचनीय स्थिति है। सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे शून्य; कोटि चतुष्टय-विनिर्मुक्त, स्वरूपका आना-जाना, मिलना-जुलना कहाँ? मैं सत्य-सत्य कहता हूँ; नहीं भी कहता हूँ—सो भी केवल व्यावहारिक दृष्टिसे, न मेरा किसीसे प्रेम है—न मेरे अतिरिक्त कोई और है ही। तब सम्बन्ध और पत्रकी चर्चा ही क्यों की जाय? केवल अध्यारोपकी दृष्टिसे, सो भी कल्पना मात्र। ऐसी इच्छा होती है कि कनखल, श्रीशंकरानन्दजीके दर्शनार्थ चलूँ। क्या तुम्हारा घर कहीं रास्तेमें पड़ता है? सहारनपुर और दिल्लीके बीचमें हो तो मिलता जाऊँ। शीघ्र ही सूचित करो या कनखल आ सको तो लिखो।

तुम्हारा अपना आप

शान्तनु

चौथा पत्र

श्री हरिः

अधिगत्य त्वया प्रत्तं पत्रं मोमुद्यते मनः।
कथं चिरायितं तात स्ववृत्तप्रेषणे ननु॥ १॥
किं न स्मरसि कुम्भे प्राग्घरिद्वारे यदा वयम्।
मिलितास्तत्त्वचिन्तायां प्रावर्तिष्म यथासुखम्॥ २॥
साक्षिसाक्ष्यादिको भेदो, मुधैव परिकल्पितः।
जिज्ञासुपरितोषार्थं क्व ब्रह्म क्व भिदा यतः॥ ३॥
नाधिष्ठानं न चाध्यस्तं आत्मैवैको न चेतरत्।
यथा तथा भातु नाम भानं किञ्चिन्न भिद्यते॥ ४॥

देशकालौ तथा वस्तु प्रकाशयति यः सदा।
स्वयम्प्रकाशरूपस्त्वं स एवास्मीति निश्चिनु॥ ५॥
कदा, कुत्र, कथं केन मिलनं विरहोऽथवा।
त्वमर्थो वाऽहमर्थो वा यदि नास्ति पृथक्क्वचित्॥ ६॥
अत्र वाऽन्यत्र वा यत्र कुत्राप्यागत्य वा सुखम्।
आत्मारामश्चिरं शान्तः स्वनिष्ठस्तिष्ठ सादरम्॥ ७॥
त्वदीयः अखण्डानन्द, अधिवृन्दावनम्।

इन श्लोकोंका भावार्थ यह है कि तुम्हारे द्वारा प्रेषित मत्र प्राप्त करके मन आनन्दसे भर रहा है। तुमने अपना संवाद देनेभें विलम्ब क्यों किया? क्या तुमको स्मरण नहीं है कि पहले जब हमलोग हरिद्वारके कुम्भमें मिले थे तब परस्पर स्वच्छ, स्वच्छन्द वेदान्तकी चर्चा किया करते थे। साक्षी, साक्ष्य आदिका भेद मिथ्या कल्पित है। केवल जिज्ञासुओंके सन्तोषके लिए। वस्तुतः कहाँ ब्रह्म और कहाँ भेद, दोनों एक साथ नहीं रह सकते। आत्मा अद्वय है, उसमें अधिष्ठान-अध्यस्तका भेद भी नहीं है। भान चाहे जैसा हो भास्यगत भेदसे भानस्वरूप ब्रह्ममें अथवा आत्मामें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। जो सदा देश, काल तथा वस्तुका प्रकाशक स्वयं प्रकाश चिद् वस्तु है, वही मैं हूँ—ऐसा तुम निश्चय करो। यदि तुम और मैंका अर्थ कभी, कहीं, किसी रूपमें भी अलग-अलग नहीं है तो मिलन तथा विरहका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। यहाँ या कहीं भी रहकर आत्माराम एवं शान्त सुखमें निवास करो। आत्मनिष्ठ रहो।

पाँचवा पत्र

(श्री हरिः)

मातृतया मानतया मेयतया वस्तुतया,
भावतयाऽभावतया ब्रह्म भाति सर्वतया।
यावत्यो दृश्यकलनाः सर्वाः स्फूर्त्येकभूमयः,
तत्त्वाश्रायाः निर्विषयाः निःस्वरूपास्त्वमेव तत्॥

तुम्हें किसी शरीरकी क्या आवश्यकता है? तुम स्वयं ऐसे हो, जिसका किसीसे कभी वियोग नहीं होता। क्या हम लोगोंका शरीरका ही सम्बन्ध है। न, न, हम आत्म-रूपसे एक हैं। हमारे मिलनेमें मृत्यु और वियोग बाधक नहीं हो सकते। क्यों भाई, ठीक है न! शरीरको भूल जाओ, याद रखो कि मैं आत्मा हूँ और कुछ करना नहीं है। प्रिय श्रीआत्मानन्दजीको मेरी याद दिलाना। वे तो याद

करते ही हैं। मस्त रहो! मुझे अर्थात् अपनेको मत भूलो, यही उपदेश है—यही आदेश है। यथेच्छसि तथा कुरु!

आपका

शान्तनु

श्रीजीवानन्दजी ब्रह्मचारी श्रीआत्मारामजीके साथ ही मुझे कनखलमें मिले थे। वैद्य आत्मारामजीके प्रति उनकी महती श्रद्धा थी। वे उनके साथ मेरे पास आया करते थे। वे संगरूरके किसी मंदिरमें पूजा करते थे। बादमें उन्होंने मुझसे ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले ली थी और वृन्दावनमें मेरे पास आया करते थे। वे आत्मारामजीकी स्थितिके बारेमें सुनाया करते थे। वे बतलाते थे कि आत्मारामजी कभी-कभी बहुत देरतक ज्यों-का-त्यों बैठे ही रह जाते हैं। अब उनके मनमें कोई संकल्प या वासना नहीं उठती। कहीं आने-जानेमें भी रुचि नहीं है। जैसे नींदमें रहते हैं; परन्तु प्रश्न करनेपर उसका ठीक-ठीक उत्तर दे देते हैं। अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलते। शास्त्रोंमें कहा गया है कि संकल्प न हो, शरीर निष्क्रिय हो, न जाग रहे हों, न सो रहे हों; न स्मृति हो न विस्मृति हो, परेच्छासे व्यवहार हो। ये सब स्वरूप-स्थितिके लक्षण हैं।

शरीर छूटनेसे कुछ मास पूर्व उनके परिवारके लोग उन्हें मेरे पास लेकर आये थे। मुख-मण्डलपर विलक्षण प्रसन्नता थी। हाथ जोड़कर ऊँकड़ू बैठ जाया करते थे। बार-बार प्रणाम करते थे। कभी-कभी 'धन्योऽहम्-धन्योऽहम्' भी कहते। मैंने पूछा—'कैसा लगता है? जीव हो कि ब्रह्म हो?' उत्तरमें वे मुस्करा गये और बोले—'न जीव, न ब्रह्म।' वस्तुतः जीवत्वके भ्रमकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मत्वका उपदेश किया जाता है। भ्रान्तिकी समूल निवृत्ति हो जानेके पश्चात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। जैसे, अपनेको मनुष्य जाननेवालेके लिए, 'मैं मनुष्य हूँ' यह बार-बार दोहरानेकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही अपनी अद्वितीयताको जान लेनेपर 'मैं ब्रह्म हूँ', यह दोहरानेकी आवश्यकता नहीं रहती। कोई बोले, यह बात दूसरी है, किन्तु अज्ञान-निवृत्ति-रूप प्रयोजनकी पूर्ति हो जानेसे ब्रह्म-विचार भी बाधित हो जाता है।

श्रीआत्मारामजी अपने परिवारके साथ गाँव लौट गये और कुछ ही महीनोंमें उनकी आकृति टूट गयी। घड़ा टूट गया माटी तो थी ही! मरणोत्तर गतिके सम्बन्धमें सनातन-धर्मका ठोस दृष्टिकोण है। पूर्वजन्मकी वासना,

उपासना एवं कर्मके अनुसार जीवका सूक्ष्म शरीर जिसे लिङ्ग-शरीर भी कहते हैं, उत्तरकालीन गतिको प्राप्त होता है। जैसे, क्रोधाविष्ट—सर्प हो; मांसासक्त—गीध या व्याघ्र हो—पाप-पुण्यकी प्राय: समस्थितिमें मनुष्यकी आकृति!

यदि लौकिक आकृतिमें, प्रारब्ध, भोगका सामर्थ्य न हो तो यातना-शरीरकी प्राप्ति होकर परलोकमें भी भोग सम्पन्न होता है। कर्मके न्यूनाधिक्यके कारण दु:खाधिक्य अथवा सुखाधिक्य होता है। ब्रह्मलोकसे भी लौटना पड़ता है या ब्रह्माके साथ मुक्ति होती है परन्तु, यह सब तभीतक होता है जबतक अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण परिच्छिन्नताका भ्रम रहता है। स्वरूप-बोध हो जानेके पश्चात् देशका बाध हो जानेसे आना-जाना, कालका बाध हो जानेसे जन्म-मरण एवं दृश्यका बाध हो जानेसे शरीरकी प्राप्ति नहीं होती। कर्तृत्वका बाध होनेसे पाप-पुण्य, भोक्तृत्वका बाध होनेसे सुख-दु:ख भी नहीं रहते हैं। अतएव अज्ञानी जीवोंका जिस प्रकार प्राणोत्क्रमण होता है, उस प्रकार ज्ञानी पुरुषोंका नहीं होता। वह तो ज्यों-का-त्यों ब्रह्म ही है। उसकी उपाधि-मूलक आकार, विकार, संस्कार एवं प्रकारकी सारी गतिविधियाँ बाधित हो जाती हैं। समाधिकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। अतएव ज्ञानसे नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति-सी होती है। जिज्ञासुके साथ व्यवहार करनेके लिए ही, सत्य, ब्रह्म, आत्मा, मुक्ति, चिन्मात्र आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। वस्तुत: ब्रह्मात्मबोध, शब्दों एवं वृत्तियोंकी घुड़-दौड़को सर्वथा बाधित कर देता है।

❊

शान्तिनिष्ठ श्रीओंकारदत्त शास्त्री

सद्‌गुरुदेव स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजीके आश्रममें दैनिक भागवत-प्रवचन करके ज्यों-ही उठा त्यों-ही एक सीधे-सादे युवा व्यक्ति ने आकर प्रणाम किया। कपड़े साबुनके धुले नहीं थे। भले ही पवित्रजलसे धुले हुए हों, सो भी केवल धोती, कुर्त्ता, काँखके नीचे एक छोटी-सी पोटली थी। प्रणामके अनन्तर बड़ी सादगीसे उन्होंने प्रार्थना की कि मैं आपके आश्रममें कुछ दिन रहना चाहता हूँ। मैंने कहा—'आओ, मेरे निवास-स्थान, जे० के० मंदिरमें बनी मेरी कुटीपर चलो।' वे आये। श्रीपद्मबिहारी मंदिरसे प्रसाद आता ही था। दो-चार दिन बीत गये।

एक दिन उन्होंने बताया कि मैंने संस्कृतमें कुछ श्लोक लिखे हैं। आप देखकर ठीक कर दीजियेगा। दो-चार दिनके प्रवचन सुनकर उन्हें निश्चय हो गया था कि मैं व्याकरण एवं साहित्यसे परिचित हूँ। मेरे पास कितने ही लोग संस्कृतके श्लोक लिखकर लाते हैं, प्राय: कुछ भी तो ठीक नहीं होता—च्युत-संस्कृत, हतवृत्त, रसालंकार शून्य, च, वा, ह-से परिपूर्ण। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस व्यक्तिने क्या श्लोक लिखा होगा! अनुमति मिलनेपर वे ले आये, पढ़कर सुनाना चाहते थे। परन्तु मैंने अपने हाथमें ले लिया। एक-दो श्लोक पढ़ते ही मैं चमत्कृत हो गया। लिपि स्वच्छ एवं सुन्दर, भाषा—प्रवाहिनी, व्याकरणकी एक भी अशुद्धि नहीं—अलंकृत एवं रसपूर्ण। मैंने पूछा—'यह आपकी रचना है?' मुझे एकाएक विश्वास नहीं हुआ था। उन्होंने कहा—'जी, मैं ऐसे ही कुछ लिख लेता हूँ।'

उनका परिचय प्राप्त हुआ। वे महेन्द्रगढ़के पास किसी छोटे गाँवमें पैदा हुए थे। भिवानीके विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीताराम शास्त्री महाराजके शिष्य थे। यह भी उन्होंने बताया कि जब विद्या-मार्तण्ड शास्त्रीजीका लाहौरके सर्वतन्त्र-स्वतंत्र विद्यानिधि श्री नृसिंहदेव शास्त्रीसे न्याय, वेदान्त-विषयक गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ

था तब लेखनका कार्य वे ही करते थे। यह एक और विस्मयजनक बात थी कि वे वेद-वेदान्त-मीमांसा-न्यायके भी विद्वान् हैं। उनके व्याकरण और साहित्यका ज्ञान तो उनके श्लोकोंसे ही प्रकट हो रहा था। यह घटना आज जब ई० सन् १९८४ में मैं बोलकर लिखवा रहा हूँ उससे कम-से-कम ३४-३५ वर्ष पूर्वकी है। उनकी सरलता, शालीनता, सौजन्य, विनय, पवित्र एवं निस्पृह जीवन देखकर मैं तो मुग्ध हो गया। उनके पाण्डित्यको मैं समझता था। दूसरे लोग तो उन्हें एक साधारण ब्राह्मण पण्डित ही समझते थे।

वे प्रात:कृत्य, स्नान,सन्ध्या-वन्दन आदि करके भजन, सत्संगमें लग जाते थे। जो रोटी मिल जाती, वही खा लेते। कभी उन्होंने किसीसे शैत्य-निवृत्तिके लिए वस्त्र नहीं माँगा और न भोजनके लिए अन्न। स्वाध्याय करते, ध्यान करते। स्वाध्यायमें जप तथा पाठ। बहुत आवश्यकता होनेपर ही बोलते थे। प्राय: मौन रहते थे। यमुना स्नान करने जाते। एक पीतलके डिब्बेमें जल लाते थे। आने-जानेमें प्राय: चार मीलकी यात्रा हो जाया करती थी। कभी हँसते थे तो आवाज नहीं निकलती थी—नेत्र एवं मुख प्रफुल्ल हो जाते थे। वृन्दावन धामसे उनका प्रेम हो गया था।

भक्तोंकी दृष्टिसे वृन्दावन धाम भौतिक नहीं, दिव्य है। उसके कङ्कड़, पत्थर भी चिन्तामणि हैं। लता, वृक्ष, कल्प-वृक्ष हैं। गौएँ कामधेनु हैं। कुछ लोगोंका ऐसा भी विश्वास है कि बड़े-बड़े सन्त यहाँ वृक्षोंके रूपमें रहते हैं—जैसे, उद्धव आदि। लताओंके रूपमें भक्ति-रत माताओंका ही निवास है। कुछ लोगोंकी ऐसी भी भावना है कि लताके रूपमें गोपी एवं तरुके रूपमें श्रीकृष्ण हैं। यमुनाके श्याम बालुकाकण कृष्ण हैं एवं गौर बालुका-कण राधा हैं। वहाँके स्त्रीत्वमें श्रीराधारानीका प्रकाश है एवं पुरुषत्वमें श्रीकृष्णका। अत: वृन्दावन ब्रह्ममयी प्रेमभूमि है एवं भक्त-जन ध्यान करके प्रेमसे उसकी दिव्यताका साक्षात्कार करते हैं। स्वप्रकाश-अधिष्ठान अनुभव हैं। भावात्मक स्वप्रकाश-अधिष्ठान ही धाम है। अत: शास्त्रीय दृष्टिकोणसे दोनोंमें ही स्मृति-विस्मृतिसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। धाम-निष्ठासे त्याग, वैराग्य, समता, निर्वासनता, तितिक्षा आदि सभी गुण स्वयं आजाते हैं।

शास्त्री ओंकारदत्तजीकी धाम-भावना दृढ़ हो रही थी। परन्तु वे मेरे साथ रहे, ऐसा मुझे अच्छा लगता था। मैं उनसे शास्त्र-चर्चा करता था और उनके पाण्डित्यसे सन्तुष्ट एवं प्रभावित था। एक बार गंगाकुटी, कानपुर मुझे जाना था। मैंने उनसे कहा कि तुम भी मेरे साथ चलो। वे विनयी तो थे ही, मुझसे संकोच

भी कम नहीं करते थे। अत: मेरी आज्ञा मानकर वे साथ-साथ गये। आठ-दस दिन वहाँ रहे। भागवतपर मेरा प्रवचन था और सौ-वर्षसे भी अधिक आयु वाले स्वामी श्रीहीरानन्दजी महाराज भी श्रवण करते थे। सामने गंगाजी बहती थीं। आनन्द तो बहुत था, परन्तु शास्त्रीजी जिन्हें लोग 'वैद्यजी' के नामसे भी जानते थे, वहाँ रहकर भी वृन्दावनका ही स्मरण करते थे। लौटनेपर उन्होंने मुझसे कहा कि अब आप मुझे वृन्दावनसे बाहर जानेकी आज्ञा न दें। मैंने उनकी बात मान ली। आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि उसके बाद आजीवन वे कभी वृन्दावनसे बाहर नहीं गये। जिस वेशमें आये थे, प्राय: उसी वेशमें रहे। वैसा ही भोजन, वैसा ही स्वाध्याय, जप-तप।

किसी सम्पन्न व्यक्तिके मनमें मेरे प्रति कुछ शंकाएँ थीं। सामने कहने या पूछनेका तो उनका साहस नहीं होता था। वे शास्त्रीजीसे मिलने-जुलने लगे। वे जानना चाहते थे कि मैं एकान्तमें क्या करता हूँ। मेरे जीवनमें कोई तांत्रिक साधना तो नहीं है। वाणीमें प्रभाव, बिना माँगे धनका आना, स्त्रियों की भीड़, यह सब उनके संशय, सन्देहके कारण थे। उन्होंने शास्त्रीजीसे कहा कि स्वामीजीके पास कौन-कौन आते हैं और क्या-क्या करते हैं, इसकी सूचना आप मुझे दिया कीजिये। मैं आपके लिए ६० रु० मासिक जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था कर देता हूँ। शास्त्रीजीने सुन लिया, बोले नहीं। उनके जानेके बाद रोने लगे, व्याकुल हो गये। मेरे पास आये, कहने लगे कि मैं अपराधी हूँ। मेरे हृदयमें शान्ति नहीं है। बार-बार पूछनेपर उन्होंने अपने हृदयकी व्यथा प्रकट की। वे बोले—'मेरे हृदयमें कोई दोष न होता तो उसका ऐसा साहस कैसे होता कि मेरे सामने वह ऐसी बात करता। मुझमें श्रद्धाकी कमी होगी, दोषदृष्टिका बीज होगा। रुपयेका लोभ होगा। कुछ-न-कुछ कलुष अवश्य होगा।' मैंने उन्हें बहुत समझाया; परन्तु उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सका। वे बोले—'इस अपराधका एक ही प्रायश्चित्त है कि मैं आपसे दीक्षा ग्रहण करूँ और सदाके लिए शरणागत हो जाऊँ। मैंने उनकी बात मान ली। सत्पुरुष-हृदय ऐसा ही होता है कि वह अपने हृदयमें लेश-मात्र भी दोष हो तो उसे पर्वतके समान मानता है। स्वच्छ वस्त्रपर थोड़ा-सा दाग भी बड़ा दीखता है। शास्त्रीजीका हृदय ऐसा ही था।'

मैंने उन्हें अपने पास बैठाकर मानसी, चाक्षुषी एवं स्पार्शी दीक्षा दी। श्रीकृष्ण-मंत्रका सबीज उपदेश किया और ध्यान, उपासनाकी विधि बतायी। उन्होंने मृत्युपर्यन्त उसीके अनुसार अपनी साधना चालू रखी। वे जो नियम ले लेते थे, कष्ट सह करके भी उसका पालन करते थे। जो नियम-पालनके लिए

कष्ट सहन नहीं करता उसके नियम फलःप्रसूत नहीं होते अर्थात् अन्तःकरण शुद्धिके साधन नहीं बनते।

धीरे-धीरे आश्रममें उनके विशेष व्यक्तित्वकी चर्चा आरम्भ हो गयी। वे मेरे रहनेपर मुझसे पूर्व और न रहनेपर और वक्ताओंके साथ प्रवचन करने लगे। उनकी व्यवस्थित प्रवचन-शैली साधकोंको विशेषत: विरक्त भक्तोंको बहुत भाती थी। वे उदाहरण देकर अपने वक्तव्यको स्पष्ट करते। सामान्य जीवनसे बातचीतकी तरह व्याख्यान आरम्भ करते। मध्यमें गम्भीरसे गम्भीर वस्तुका निरूपण करते। अन्तमें फिर उसको मधुर कर देते। प्रवचनमें अशुद्ध शब्दों एवं वाक्योंका प्रयोग नहीं करते थे। जीवनके लिए उपयोगी बातोंका ध्यान रखते थे। आवाजमें चढ़ाव-उतार नहीं लाते थे। आवेशसे बचकर—जिससे श्रोताका चरित्र पवित्र हो, अन्तःकरण शुद्ध हो—ऐसी बात बोला करते थे। उनके भाषणसे श्रोताको यह ज्ञान हो जाता था कि वे व्याकरण, दर्शन एवं साहित्यके जानकार हैं। श्रीहरि बाबाजी महाराज बड़े प्रेम एवं ध्यानसे उनका प्रवचन सुनते थे एवं रात्रिकालीन सत्संगमें उनसे व्याकरण-सम्बन्धी बातें पूछा करते थे। शास्त्रीजीको निरुक्तका भी उत्तम ज्ञान था।

शास्त्रीजीके सत्संगमें अनेक भक्त-जन प्रमुखतासे भाग लेते थे। उनमें भक्त धर्मचन्दजी प्रधान थे। धर्मचन्दजी व्रज एवं वृन्दावनके रसिकोंके अनन्य प्रेमी हैं। व्रजके सन्त-शिरोमणि विद्वान्, रसिक श्रीप्रियाशरणजी महाराजके विशेष सेवक रह चुके हैं। 'समाज' के ध्रुपद-धमारके विशिष्ट गायक हैं। निद्रा विजयी हैं। ८०-८५ वर्षकी वयमें भी स्वावलम्बी हैं। नित्य यमुना-स्नान, ध्यान करते हैं। स्वयं भोजन बनाकर खाते हैं। अपना सब काम कर लेते हैं। अभी योजनोंतक अनायास चल लेते हैं। उनके सत्संगियोंमें अजमेरके रिटा० प्रिंसिपल मथुरादास, मारवाड़ी अर्जुनदास, सिन्धी सहानीजी आदि मुख्य हैं। वे सब भक्तजीके साथ शास्त्रीजीके पास आते। भक्ति-भगवन्तकी चर्चा करते। भक्तजीने शास्त्रीजीसे अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद भी करवाया था। इनके सत्संगियोंने शास्त्रीजीके दूध पीनेके लिए गाय रखवानी चाही; परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे जीवन-निर्वाहके लिए विशेष खट-पट करना पसन्द नहीं करते थे। जब तक पुराने वस्त्रोंसे काम चल जाय, नये वस्त्र भी नहीं लेते थे। कहीं इधर-उधर नहीं जाते थे। लोगोंके संसर्ग एवं आलापमें रुचि नहीं लेते थे। हास-परिहास तो कभी करते ही नहीं थे। प्रवचनके अतिरिक्त अन्य समयमें मेरे पास भी कम ही बैठते थे। कभी कोई व्याकरणकी बात पूछनी होती तो मैं उन्हें अपने पास बुलवा लेता था। उनका जीवन अत्यन्त शान्त एवं एकान्तप्रिय था।

शास्त्रीजीको स्वप्न प्राय: नहीं आते थे। ध्यान अच्छा लगता था। ध्यान सगुण-साकारका करते थे। विचार निर्गुण-निराकारका करते थे। उनसे बातचीत करनेपर जान पड़ता था कि दोनोंमें उनकी बुद्धि समान रूपसे प्रवेश करती थी। ध्यान कभी-कभी ऐसा गाढ़ा हो जाता जैसे 'प्रत्यक्ष' हो रहा हो। सगुण, साकारका प्रत्यक्ष होनेसे निर्गुण-निराकारका अपरोक्ष अनुभव सुगम हो जाता है। एक दृष्टिसे देखनेपर उनका व्यक्तित्व ऐसा लगता है जैसे उसमें अधर्मका विरोध हो, चित्त-वृत्तियोंका निरोध हो, भगवान्‌का अनुरोध हो और स्वरूप-दृष्टिसे सर्वथा अविरोध हो। उन्होंने चमत्कारोंको महत्त्व कभी नहीं दिया। अपने जीवनकी भी अलौकिक घटनाओंको भी कोई महत्त्व नहीं दिया। वे स्वयं सदाचारी थे और सबके जीवनमें सदाचार देखकर प्रसन्न होते थे।

मेरे आग्रहपर उन्होंने कुछ लेख लिखे। उनके दो-तीन लेखोंके कुछ उद्धरण आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं।

१. दुःख निवृत्तिके कुछ उपाय—

(क) शरीर एवं मनको ही दुःख होता है, आत्माको नहीं, आत्मा तो शरीरसे सर्वथा असंग, अलग है। जैसे घड़ेसे घड़ेके भीतर प्रतीत होनेवाला आकाश अलग है अथवा जैसे देहसे देहकी छाया अलग है। हम अपने अविवेकके कारण देह और आत्माके अलगावको नहीं समझते और देह या मन पर पड़नेवाली चोटको अपनी आत्मापर अर्थात् अपने पर पड़ी मान लेते हैं, इसीसे दुःखी होते हैं। किसी वनमें दो पुरुष जा रहे थे। सिंहकी गर्जना सुन वे दोनों अलग-अलग दो पेड़ोंपर चढ़ गये। सिंह पेड़पर तो नहीं चढ़ सका, वह एक पुरुषके पास गया और उसकी परछाईंपर उसने अपने पंजेका आघात किया। उस पुरुषने मूर्खताके कारण उस आघातको अपनेपर ही समझा और वह गिर पड़ा। सिंह उसे खाकर दूसरे व्यक्तिके पास गया और उसके प्रतिविम्ब पर भी उसने चोट की। वह पुरुष चतुर था। उसने सोचा, मेरा क्या बिगड़ता है। छायाको पीटता है तो पीटने दो। वह निश्चिन्त पेड़पर बैठा रहा। सिंह निराश होकर चल दिया।

(ख) सुख या दुःखके रूपमें प्रभुका ही विधान आता है और उनका विधान अपने जनोंके लिए कभी अमङ्गल रूप नहीं होता, मङ्गल ही करता है। वह प्रारम्भमें कटु भले ही प्रतीत होता हो; किन्तु परिणाम तो उसका मधुर ही होता है।

(ग) अपने ही प्रारब्धका फल सबको मिलता है। जैसे पुण्यका फल सुख हम स्वयं भोगते हैं वैसे पापका फल दुःख भी हम स्वयं भोगेंगे।—'सुखस्य

दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा' या 'काहु न कोउ सुख-दुःख कर दाता, निजकृत कर्म भोग सब भ्राता॥' व्यापारी लाभका सुख भोगता है, उसे घाटेके दुःखसे भी नहीं घबराना चाहिए।

(घ) दुःख न मिलता तो हमारी भोगासक्ति या अहंता, ममता कैसे दूर होती? खाने-पीनेके पदार्थोंसे दुःख होता है तो उनकी आसक्ति कटती है। शरीरमें या मनमें दुःख होता है तो अहंता शिथिल होती है एवं ममतास्पद स्त्री, बन्धु मित्रादिसे दुःख होता है, तो उनकी ममता छूटती है। ये तीनों ही प्रभुकी प्राप्तिमें बाधक हैं।

(च) हमारे मनकी कल्पना ही दुःखको बड़ा करके दिखाती है, वस्तुतः उतना दुःख होता नहीं। भय और द्वेषके कारण छोटी-सी वस्तु भी हमें बड़ी मालूम होती है अथवा बिलकुल न होने पर भी भय और द्वेष वस्तुकी प्रतीति करा देते हैं, जैसे ठूँठमें रातके समय भूतकी प्रतीति हो जाती है।

(छ) 'भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।' दुःख आनेपर उनका चिन्तन न करके अपना काम करता रहे।

(ज) दुःख आनेपर पूर्वानुभूत दुःखकी स्मृति करो कि वह दुःख जैसे नहीं रहा वैसे ही यह भी नहीं रहेगा।

'चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।'

(झ) शरीरका दुःख ओषधिसे, मनका किसी मनोरञ्जनसे, शीतोष्णका तितिक्षासे एवं धनादिके अभावका सन्तोषसे दूर करो।

(ट) वस्तुतः दुःख न किसी देशमें है, न किसी कालमें और न किसी वस्तुमें, वह केवल अपने ही मनकी कल्पना है।

(ठ) जो किसीको भी मन, वचन और कर्मसे पीड़ित करता है या किसीकी हिंसा करता है वह अत्यधिक पाप होनेसे इसी जन्ममें अन्यथा जन्मान्तरमें उनके द्वारा अवश्य पीड़ा एवं हिंसा पाता है। अतः मानवको चाहिए कि मनसे भी कभी किसीका अनिष्ट चिन्तन न करे। जो किसीको दुःख नहीं देता वह कभी दुःखी हो ही नहीं सकता।

२. दोष निवृत्तिके कुछ उपाय—

..............विषयोंमें, रूप ही एकमात्र सर्वाधिक बाधक प्रतीत होनेसे उसीके बचावके लिए देखे, सुने कुछ साधन प्रस्तुत किये जाते हैं। फिर शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध भी तो उसीके अन्तर्गत हैं। शब्दादिकोंके लिए भी ये साधन सुतरां उपयोगमें लाये जा सकते हैं।

(क) विषयका सदर्शन—ध्यानसे दर्शन करें। सामान्य दृष्टि पड़ते ही सावधान हो जायँ तथा उसमें महत्त्व बुद्धि एवं गुणका आरोप भी न करें।

(ख) विषयको भगवद्रूप समझकर मन ही मन प्रणाम कर लें। रूपका दर्शन चाहे बाहर हो चाहे भीतर, दोनोंमें समान ही बात है।

(ग) प्राणायाम करनेसे भी मनकी चञ्चलता मिट जाती है, क्योंकि प्राणसे ही सब चेष्टा होती है। प्राणके बिना मन कुछ नहीं कर सकता—''वायुः सर्वमिदं जगत्।''

(घ) द्वेष, भय, शङ्कासे भी विषय अधिक बलवान् बनकर साधकको त्रास पहुँचाता है। जैसे किसी साधकने अपने गुरुसे ध्यानकी बात पूछी तो गुरुजीने उसका निरूपण करते हुए यह भी कह दिया—'देखो, यह सब करते समय बन्दरका ध्यान मत करना' अब बेचारा साधक जब-जब ध्यानके लिए बैठता तब-तब हठात् उसे बन्दरका ध्यान ही होता। अपने ध्येयका नहीं। वह उसे हटानेकी कोशिश करता तो वह अधिकाधिक बल पकड़ता। अतः द्वेषात्मक वृत्ति एवं उसीके अवान्तर रूप घृणा, शंका, भय—ये सब अपने लक्ष्यसे साधकको गिराते ही हैं। अतः इनसे सावधान रहे।

(च) अपने अङ्गोंकी ओर भी विशेष ध्यानसे कभी अनावश्यक न देखे। विशेष साज-सज्जासे दूर रहे। साधारण वेश रखे। तेल, साबुनका हो सके तो सर्वथा त्याग ही अच्छा! नहीं तो ओषधिके समान अत्यावश्यक ही प्रयोग करें—''नाकामी मण्डनप्रियः।'' मण्डनसे कामवासना बढ़ती है।

(छ) जैसे दमनीय अश्व अधिक खींचनेसे भी बिगड़ता है तथा अधिक ढीला छोड़ना भी बुरा है, ऐसे ही मनकी भी दशा है। कभी-कभी अधिक नियंत्रणसे भी अधिक चञ्चल होता है। ऐसी दशामें मनको कुछ शिथिल भी कर देना हितकर होता है। शिथिल करनेपर पतनावस्थाकी ओर जाता दीखे तो पुनः खींचकर शासनमें ले ले।

(ज) जहाँ चित्तका अधिक आकर्षण होता हो, ऐसे दृश्यमें कभी भाग न ले। जिसे देखकर निर्मलताकी जगह हर्ष—रजोगुण आवे, भोगोन्मुखता बढ़े, उसे सदाके लिए त्याग दे। विषयका पुनः-पुनः दर्शन, चिन्तन, अनुसन्धान करनेसे ही विषय सत्ता, स्फूर्ति, बल पाकर साधकको खींचते हैं। आसक्तिकी वृद्धिका भी यही कारण है।

''ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः''

अतः इनका चिन्तनादि छोड़कर अपने लक्ष्यका ही चिन्तन करता रहे। राग, द्वेष, भय, घृणा, शंका आदि भावोंसे चिन्तन होता है। उस चिन्तनसे विषयका बल बढ़ता है। विषयसे रस खींचनेकी प्रवृत्तिको अभ्यास द्वारा दूर करे।

(झ) मनको या तो प्रकृतिका कार्य समझे या भगवान्‌की वस्तु। मनसे ममत्व हटाये बिना उसका नियंत्रण असम्भव है। जिसको हम अपना समझते हैं, उसकी अधिक चिन्ता होती है। अतः मनमें क्या आया, क्या गया—इसका ही अनुसन्धान होता रहता है। सद्भावना आनेपर सुख एवं विपरीत आनेपर दुःख तथा उससे द्वेष भी होता है। अतः जो साधक मनको अपना न मानकर विक्रीत पशुकी तरह प्रभुको स्वीकार कर लेता है, वह शनैः-शनैः निश्चिन्त हो जाता है। भले ही प्रभु इसमें अच्छी वस्तु भरें या बुरी, हम तो उन्हींकी ओर देखेंगे—मनकी ओर नहीं। इस प्रकार ममत्व हटते ही उपेक्षा हो जानेसे मन स्वतः स्वस्थ हो जाता है।

(ट) स्त्रियोंके साथ कभी भूलकर भी हास-परिहास न करे। हास शृङ्गारका पूर्वरूप है। जो किञ्चिन्मात्र भी हास करता है, वह विषयके गर्तमें अपनेको गिरा देते हैं 'हसता लभ्यते नारी' तथा अनावश्यक व्यवहार भी न करे। स्त्रियोंको भी पुरुषोंसे इसी प्रकार सावधान रहना चाहिए।

शास्त्रीजीको लोग 'वैद्यजी' भी कहा करते थे। वृन्दावनमें इस नामसे उनकी प्रसिद्धि भी हो गयी थी; परन्तु वे रस-भस्म न बनाते थे, न रखते थे। जड़ी-बूटी भी न लाते थे, न देते थे। हाँ कभी-कभी किसीको रोगका कारण और उसके निवारणका उपाय बता दिया करते थे। उनका विश्वास था—गो-सेवा करनेसे समस्त रोगोंकी निवृत्ति हो जाती है। गायके दुग्ध, घृत, दधि, मक्खन, गोमूत्र, गोबर आदिमें एक अद्भुत शक्ति मानते थे और गायोंकी सेवामें चमत्कार! उनका ऐसा कहना था कि जो अपने धर्मके पालनमें दृढ़ निष्ठा रखता है, धर्म आपत्ति-विपत्तिके समय उनकी रक्षा करता है। धार्मिक पुरुषको संकटके समय घबराना नहीं चाहिए और धर्म श्रद्धाका परित्याग नहीं करना चाहिए। शास्त्रीजीका अतिथि-सेवामें भी अतिशय आदरका भाव था। अपने इन विश्वासों का समर्थन करनेके लिए वे अनेक दृष्टान्त भी दिया करते थे। दृष्टांत वर्तमान युगके भी होते थे और इतिहास-पुराणोंके भी। जीवनमें विशुद्ध सौन्दर्यको प्रकाशित करनेके लिए सदाचार, सद्भाव एवं सद्‌गुणोंपर बहुत बल दिया करते थे। सादा-जीवन, उच्च-विचारके वे जागते हुए जीवित उदाहरण थे।

उन्होंने संस्कृतमें बहुत-सी रचनाएँ की थीं। मुझे पता नहीं कि वे वृन्दावनमें किसीके पास या पुस्तकालयमें रखी हुई हैं अथवा उनके बड़े भाई

जिन्होंने मुझसे संन्यास ले लिया था, अपने साथ ले गये हैं। हाँ, मेरे लिए जो उन्होंने सैकड़ों श्लोक लिखे हैं, वे सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्टके द्वारा दो पुस्तकोंके रूपमें प्रकाशित हुए हैं और मेरे पास दोनों हैं। उनमें-से कुछ श्लोक, मेरे प्रति जो उनके मनमें आदर या प्रशंसा के भाव थे उसका विज्ञापन करनेके लिए नहीं, केवल उनकी काव्य-रचनाका प्रसाद, सौन्दर्य, माधुर्य, ओज, रस, अलंकार, प्रवाहका दिग्दर्शन करानेके लिए आपके सम्मुख उपस्थित हैं—

जनानां यद्‌गानं भ्रमतिमिरहानं वितनुते
पदाम्भोजध्यानं दिशति परमानन्दपदवीम्।
स्मरामि प्रातस्तं प्रणतजनताजुष्टचरणम्
अखण्डानन्दं श्रीगुरुवरमहं ब्रह्म परमम्॥ १॥

जिसका गुणगान सर्वदाके लिए जनताके भ्रमतमका नाशक है, जिसके पदाम्भोजका ध्यान परमानन्द-पदवीका दान करता है; विनयी, सद्‌गुणसम्पन्न भक्तगण जिनके चरणोंकी सेवा करते हैं, उन परब्रह्मस्वरूप अनन्तश्री गुरुवर अखण्डानन्दजीका मैं प्रातः स्मरण करता हूँ॥ १॥

पवित्रा यद्वाणी प्रविशति विचित्रा हृदि यदा
तदाकारा छिन्ना भवति निखिलाकारघटिता।
स्मरामि प्रातस्तं नयनरमणीयं सुखकरम्
अखण्डानन्दं श्रीगुरुवरमहं ब्रह्म परमम्॥ २॥

जब उनकी पवित्र एवं विचित्र वाणी हृदयमें प्रवेश करती है तब निखिल नाम-रूपोंसे निर्मित यह नानात्वरूप संसारका कारागार छिन्न-भिन्न हो जाता है। उन्हीं परब्रह्मस्वरूप लोचनचमत्कारकारी, सुखकारी अनन्तश्री गुरुवर अखण्डानन्दजीका मैं प्रातः स्मरण करता हूँ॥ २॥

यदन्तश्चातुर्यं विलसति समाधुर्यमखिलम्
गुणाली यं नित्यं वरयति मरालीव दयितम्।
स्मरामि प्रातस्तं सरुचिकरुणापूर-मधुरम्
अखण्डानन्दं श्रीगुरुवरमहं ब्रह्म परमम्॥ ३॥

जिनके हृदयमें माधुरीके साथ-साथ सम्पूर्ण चातुरी शोभा पाती है एवं जैसे मराली अपने प्रियतम हंसका वरण करती है, वैसे ही सद्‌गुणोंकी पंक्ति जिन्हें नित्य-निरन्तर वरण करती है, उन करुणावरुणालय मधुरातिमधुर परब्रह्मस्वरूप अनन्तश्री गुरुवर अखण्डानन्दजीका मैं रुचिके साथ प्रातःस्मरण करता हूँ॥ ३॥

अमरतापि मृतिं समुपैति सा विहितपुण्यबलेन जिता तु या।
अमरतावर्णं यदि ते प्रियं कुरु तदा शरणं चरणं गुरोः॥ ४॥

जो वेद-विहित पुण्य-बलसे मिलती है, वह अमरता भी एक दिन मर जाती है। अतः यदि आपको असली अमरत्व अभीष्ट है, तो गुरुदेवके चरणमें शरण ग्रहण कीजिये॥ ४॥

किं ज्ञानं को विवेको यदुपतिविषया का रतिर्वा मनोज्ञा
का वा व्यापारलीला भवति गतिजुषां साधकानां हिताय।
एतज्ज्ञेयं समस्तं विघटित-विशयं यत्प्रसादेन लब्धं
सोऽयं लोके प्रकाशं रविरिव कलयन् कीर्तनीयो यतीन्द्रः॥ ५॥

ज्ञान क्या है? विवेक किसे कहते हैं? श्रीकृष्णकी सर्वोत्तम भक्ति कैसी है? प्रगतिशील साधकोंके हितार्थ उनकी व्यवहार परिस्थिति कैसी हो? आदि समस्त साध्य-साधन सम्बन्धी तत्त्व जिनकी कृपासे करामलकवत् ज्ञात हुए, भुवन भास्करकी तरह लोकमें ज्ञानलोकको प्रकट करते हुए वे हमारे यतीन्द्र ही कीर्तनीय हैं॥ ५॥

धनं यद्धन्यानां शरणरहितानां च शरणम्,
अनन्यानां सेव्यं फलति सकलं वाञ्छितफलम्।
सदा भव्यं भव्यं भवति निहितं भावभवने
अखण्डानन्दानां श्रयति सुकृति कोपि चरणम्॥ ६॥

जो धन्य पुरुषोंके धन एवं शरणहीनके शरण हैं, अनन्य-भावापन्नके सेवनीय, सभी वाञ्छित फलोंके दानमें समर्थ हैं, भावसम्पन्न हृदय-भवनमें निहित होकर भव्यरूपसे भासित होते रहते हैं, श्रीगुरुवर अखण्डानन्द सरस्वतीके ऐसे चरणयुगलको कोई पुण्यात्मा ही आश्रय बनाते हैं॥ ६॥

मायाधीता गीता कलुषभरभीतेन मनसा,
निपीता सा वाणी श्रुतिशिखरनीता कथमपि।
न वीता मे चिन्ता हर! हर! शुभैषाऽजनि मतिः,
अखण्डानन्दानां चरणवरणं शोकहरणम्॥ ७॥

मन असद्वासनाओंसे भीत है, यह सोचकर गीताका भी मैंने अध्ययन किया एवं यथामति किसी प्रकार कुछ उपनिषदोंका अवलोकन भी किया। किन्तु हर! हर! चिन्ताने मुझे न छोड़ा। फिर सन्मतिका उदय होनेपर समझा कि श्रीगुरुवर अखण्डानन्द सरस्वतीका चरण वरण करना ही शोकहर्ता है (गुरूपसत्ति बिना साधन निरर्थक है)॥ ७॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसाक्षिकमहो यत्तत्त्वमुज्जृम्भते,
जीवेशादि-विवर्तभूतमखिलं यस्येति सङ्गीयते।
ज्ञातृज्ञेयविभागहीनमनिशं यच्चिन्त्यते धीधनैः,
तत्तत्त्वं कृपयादिशत् सकरुणः कस्मै चिदस्मै नमः॥ ८॥

अहो जो तत्त्व जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इस अवस्थात्रयका साक्षी है एवं जीव, ईश्वर, जगत्—यह जिसका विवर्तरूप कहलाता है। जो ज्ञाता-ज्ञेयरूपसे अविभक्त विचारशीलोंके विचार योग्य है, उस तत्त्वको जिन करुणामयने प्रदान किया, उन अनिर्वचनीय गुरुत्वको नमस्कार है॥ ८॥

शास्त्रीजी सदा प्रसन्न रहते थे। स्पष्ट लगता था कि जैसे मनमें कोई असन्तोष न हो। अपने आप किसीको उपदेश नहीं करते थे। कोई पूछता तो बतला देते थे। श्रीशांकर-सम्प्रदाय एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु-सम्प्रदायके ग्रन्थोंका अध्ययन करते थे। रसिकोंकी वाणियोंमें रस लेते थे। शरीरमें कोई रोग होता तो किसीको बतलाते नहीं थे। प्रतिकूलसे प्रतिकूल परिस्थितिको भी सह लेते थे। उनके जीवनमें तितिक्षा, समता एवं असंगताके भाव स्पष्ट रूपसे देखे जा सकते थे। उन्होंने ऐसा तो कभी नहीं कहा कि मुझे भगवान्के दर्शन हुए हैं या तत्त्व-साक्षात्कार हो गया है, परन्तु, कुछ लोगों-की ऐसी श्रद्धा उनपर थी कि उन्हें श्रीकृष्ण भगवान्का दर्शन हुआ। तत्त्व साक्षात्कारके सम्बन्धमें तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वे कभी-कभी ब्रह्मात्मैक्य-सम्बन्धी प्रश्न मुझसे करते थे, वे घन-चिन्तनके परिचायक थे और उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया था कि षट्लिङ्गोंके द्वारा परम तात्पर्यका विचार करनेपर आत्मा और ब्रह्मकी एकता ही सिद्ध होती है। जो आत्मासे पृथक् हो, वह चेतन कैसा? जो ब्रह्मसे भिन्न हो उसमें पूर्णता कैसी? वे अपने आपमें पूर्ण थे।

उन्हें मृत्युका भय नहीं था। मैं पुनः-पुनः सुनाया करता था—'जिसका कहीं बाह्य पदार्थोंसे मोह होता है, वही उनके छूट जानेकी कल्पना करके मृत्युसे भयभीत होता है। मृत्यु तो प्रपञ्चकी आत्यन्तिक विस्मृति है और विश्रान्ति रूप मधुर-निद्रा है। केवल देह और देहिकमें आसक्त ही उससे भयभीत होते हैं। उनकी देहमें स्थिति द्रव्योपलब्धि-स्थान कब चैतन्य प्रतिविम्बको ग्रहण करनेके अयोग्य हो गया, अर्थात् कब चिदाभासके ग्रहणकी शक्ति मिट गयी—इसका पता न उनको चला, न दूसरोंको।'

भक्ति-निष्ठ चन्द्रमा पण्डित

वे आयुर्वेदके विद्वान् थे, परन्तु चिकित्सा नहीं करते थे। अच्छे संगीतज्ञ थे, परन्तु सार्वजनिक रूपसे गाते नहीं थे। गृहस्थ आश्रम भरपूर था, परन्तु किसीके साथ लगाव नहीं था। वे भक्त थे, परन्तु कभी किसीने रोमाञ्च, अश्रुपात या रोदनकी अवस्थामें नहीं देखा। उनके हृदयमें आजीवन, संसारसे विरक्ति रही। भगवान्के प्रति अनुरक्ति रही। सद्गुणोंकी अभिव्यक्ति रही और जीवन भर वह प्रसन्नता मुख-मण्डलपर छलकती रही, जिसका कभी ह्रास नहीं हुआ। लम्बा, साँवरा, हृष्ट-पुष्ट शरीर, भस्माच्छादित भाल, भगवन्नामके जपमें संलग्न भगवान्के स्मरणमें मग्न, वह थे चन्द्रमा पण्डित—जिन्हें मैं स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजकी कुटियापर प्राय: देखा करता था। बरसोंतक हम लोगोंने आपसमें बातचीत नहीं की। मैं स्वामीजीकी सेवा एवं सत्संगमें रहकर समयपर घर लौट जाता था और वे जप, ध्यान करके अपने घर लौट जाया करते थे। हम दोनोंके गाँवोंसे स्वामीजीकी कुटिया लगभग पांच मील पड़ती थी। वे थे बरह (वाराणसी) के रामगढ़के वासी और मैं था महाइच (वाराणसी) के महराई का। हम दोनों एक दूसरेको देखते; मुस्कराकर हाथ जोड़ लेते थे। कोई बातचीत नहीं होती थी।

एक बार श्रीस्वामीजी महाराजने श्रीमद्भागवतके नव-योगेश्वरोंके प्रसंगपर प्रवचन किया। स्वामीजीकी विद्या, बुद्धि, शारीरिक व्यक्तित्व, भाषण बहुत ही प्रभावशाली थे। हम दोनों समयसे पहुँचते और प्रवचन सुनते। स्वामीजी महाराज जब भागवतधर्मका निरूपण करते, श्रोता स्तब्ध रह जाते। ऐसा लगता जैसे हमारी सारी सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द, स्वामीजीके भाषणसे एक हो गया हो।

इन्हीं दिनों चन्द्रमा पण्डितसे बातचीत हुई। दोनों एक स्वरसे स्निग्ध-मुग्ध-भावसे प्रवचनकी प्रशंसा करते रहे। हम दोनोंमें कभी कोई सांसारिक या पारिवारिक चर्चा नहीं हुई। मैं अबतक उनके परिवारके किसी भी व्यक्तिको नहीं जानता हूँ। मिले भी हों, तो स्मरण नहीं है। थोड़े वर्षोंके बाद मैं 'कल्याण'के सम्पादन विभागमें चला गया। वे स्वामीजीका सत्संग करते रहे।

स्वामीजीका जीवन पूरा होनेके बाद उनका मन संसारसे विरक्त हो गया। जैसे भगवान्से प्रेम होनेपर संसारसे वैराग्य हो जाता है वैसे ही सद्गुरुसे प्रेम

होनेपर भी संसारसे वैराग्य हो जाता है। संसारकी सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील, नश्वर तो हैं ही, वे अपने रागीको पहचानती भी नहीं। उनके लिए अपने मालिक या सज्जनके हाथ रहना अथवा किसी दुष्ट-दुर्जन या किसी पराये के हाथ रहना समान ही है। उनकी जड़ता तो स्पष्ट है ही। जो चलते-फिरते सगे-सम्बन्धी हैं, वे भी किसीके प्रति पूर्णरूपसे निष्कपट नहीं होते। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई और मित्र-मित्र भी परस्पर एक-दूसरेके प्रति पूर्णरूपसे निष्कपट नहीं होते। कोई-न-कोई बात ऐसी अवश्य होती है जो दूसरेसे छिपायी जाती है। यही कारण है कि महात्मा एवं शास्त्रोंने इस संसारको 'माया' कहा है। एक सपना-सा आ रहा है, इसमें अपना कुछ नहीं है। यह बात बाहर देखनेसे अवगत नहीं होती। परन्तु, जब अपने ही मनकी वास्तविकताका चिन्तन-मनन होता है, तब प्रकट हो जाती है। स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजका वियोग होनेपर चन्द्रमा पण्डितका मन संसारकी ओरसे उदास हो गया। इसके ह्रास, विनाशका चिन्तन होने लगा। अब उनके पास एक आश्रय था तो श्रीसरला माताजीका।

ये सरलामाताजी परमहंस रामकृष्णकी पत्नी श्रीशारदा माताजीकी शिष्या थीं। उन दिनों माताजीकी उम्र ८०-९० वर्षके बीचमें रही होगी। परन्तु उनका स्नेह, वात्सल्य, स्फूर्ति, क्रियाशीलता सभी गुण अद्भुत थे।

स्वामीश्री योगानन्दपुरीजी महाराज, माताजी के प्रति बहुत आदर-भाव रखते थे। जिन दिनों श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज किसी स्त्रीसे नहीं मिलते थे, उन दिनों माताजी उनके पास राम-घाटमें आयी थीं। लोगोंने मना किया—'बाबा किसी स्त्रीसे नहीं मिलते।' माताजीने कहा-'जाकर उनसे पूछ आओ कि वह माँके पेटसे निकला है कि नहीं।' श्रीउड़ियाबाबाजी उठकर स्वयं उनके पास आगये। वे वृद्धावस्थामें भी बहुत बढ़िया-बढ़िया व्यञ्जन अपने हाथ से बनाती थीं और बड़े प्रेमसे सबको खिलाती थीं। मैं दृढ़तासे कह सकता हूँ कि वह स्वाद फिर कभी कहीं किसीके भी बनाये हुए भोजनमें नहीं आया। मुझे तो वे 'रे' कहकर पुकारा करती थीं।

चन्द्रमा पण्डितजी के लिए उन्हींका सत्संग और उपदेश प्राप्त होता रहता था। माताजी उन दिनों वाराणसीमें शिवाला घाटके पास किरायेके एक मकानमें रहने लगी थीं और उसका नाम 'श्रीरामकृष्ण नित्यानन्द आश्रम' रख दिया। मैं कभी-कभी उनके पास जाया करता था। वहाँ चन्द्रमा पण्डितजी मिल जाया करते थे। माताजी परमहंस रामकृष्ण और शारदा माँके जीवन-प्रसंग और उपदेश सुनाया करती थीं। वह जीवनके अपूर्व दिन थे, जब वे सामने बैठाकर खिलाती जाती थीं और शारदा माँके मातृत्व, सरलता, विनय, समभावना और सहृदयताका वर्णन करती जाती थीं।

माताजीका शरीर पूरा होनेके पश्चात् चन्द्रमा पण्डितजीके लिए संसारमें कोई लगाव नहीं रहा। वे दण्डीस्वामी श्रीचन्द्रशेखराश्रम हो गये। थोड़े ही दिनोंके बाद वे मेरे पास वृन्दावनमें आ गये। बीसों वर्षतक थोड़ा बहुत सम्पर्क रहनेके कारण वे मुझे बहुत मानते थे और मुझसे अपनी मानसिक स्थिति, साधन-भजन एवं अनुभवकी बातें कहा करते थे। मैं यथा-स्मृति उन्हें आपके सम्मुख रख रहा हूँ, उन्हींके शब्दोंमें—

यथा-समय मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हो गया था। वेदाध्ययनके नामपर केवल गायत्री एवं सन्ध्योपासनाके मंत्र मुझे सिखाये गये। थोड़ा-बहुत संस्कृत पढ़नेके बाद जीविकाकी दृष्टिसे आयुर्वेदका अभ्यास करने लगा। बड़ा होनेपर परिवारका निर्वाह ठीक-ठीक हो जाता था, इसलिए आयुर्वेदके ज्ञानका कोई विशेष प्रयोग नहीं हुआ। रस-भस्म बनाता नहीं था। जड़ी-बूटियोंका प्रयोग करता था और उसमें भी कोई किसीसे लोभ-लाभकी इच्छा नहीं रखता था। कभी-कभी सन्ध्या-वन्दनके मंत्रोंपर ध्यान जाता। सृष्टिका क्रम और उसकी यथापूर्व योजना अर्थात् सृष्टि जैसे पहले थी वैसे ही परिकल्पित हुई—उसका भी एक क्रम है। कारणवारिसे ही काल आदिकी सृष्टि हुई और यथार्थ सत्य एवं सांस्कारिक सत्यके दो विभाग बने। साथ-ही-साथ दिनमें, रातमें हमारी इन्द्रियोंसे, मनसे, वाणीसे पाप-कर्म होते रहते हैं, उनके निवारणार्थ, देवताओंसे प्रार्थना करनी चाहिए। जल, अग्नि, सूर्य आदिमें चैतन्य देवता स्थित हैं। प्राणायाम भी जीवनके लिए आवश्यक है। गायत्रीका ध्यान, जप भी करना चाहिए। ये सब बातें धीरे-धीरे समझमें आने लगीं। परन्तु अपने इस ज्ञानसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। यन्त्रवत् सब काम करता जाता।

जप करते समय मन एकाग्र नहीं होता था। गायत्री देवीका ध्यान भी नहीं हो पाता था। पण्डितजीने गायत्रीके ध्यानके लिए प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या के लिए तीन रूप बताये थे। वह भी एक कठिनाई थी। मेरा ज्ञान बढ़े, किसी अच्छे ज्ञातासे यह बात समझूँ—यह अभिलाषा तीव्र होने लगी। उन्हीं दिनों मैने सुना मेरी जन्मभूमि रामगढ़से ४-५ मील दूर गंगाजीके तटपर सहेपुर ग्रामके बगीचेमें एक बहुत उच्चकोटिके महात्मा निवास करते हैं। मैं गया। स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराज न केवल संस्कृत, अंग्रेजी एवं बंगलाके महान् विद्वान् ही थे अपितु वे वेदान्त-ज्ञान एवं वैदिक, तांत्रिक उपासनाओंके अनुभवी महापुरुष भी थे।

उनके दर्शन-संसर्ग एवं आलापसे हृदयमें श्रद्धा एवं प्रसादकी वृद्धि होने लगी। मैंने उनसे निवेदन किया कि मुझे आप दीक्षा दीजिये। स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराजने आज्ञा की कि एक बार तुम गायत्रीकी दीक्षा भी ले चुके हो। यदि तुम

गायत्रीकी उपासना नहीं करोगे और दीक्षाको कार्यान्वित नहीं करोगे तो गायत्री देवीका अनुग्रह प्राप्त नहीं होगा। यदि पहली ही दीक्षा प्रयोगमें न लायी जाय तो दूसरी दीक्षा अपना कार्य कैसे कर सकेगी! उनकी आज्ञासे मैंने गायत्री-पुरश्चरण किया। पुरश्चरण २४ लाख जपका होता है। पुरश्चरणके लिए अपेक्षित विधि-विधानका ज्ञान उन्हींसे प्राप्त हुआ। उन्होंने सूर्य-मण्डलसे प्रवाहित अमृत-धारामें स्नान बताया। अपने दोषोंको मणिपूरक चक्रके त्रिकोण कुण्डमें ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके हवन करनेकी रीति भी बतायी। उदाहरणार्थ—ॐ अविद्यां जुहोमि स्वाहा इत्यादि। शयनके पूर्व शरीरगत पृथिवी भागको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको शिर-स्थित सहस्रारमें लीन करके शान्त-चैतन्यमें स्थित हो जानेकी पद्धति भी बतायी। शरीरमें मूलाधार-पर्यन्त पृथिवी, स्वाधिष्ठानपर्यन्त जल, मणिपूरक-पर्यन्त तेज, अनाहत-पर्यन्त वायु, विशुद्ध-पर्यन्त आकाश, आज्ञा-पर्यन्त सविशेष चैतन्य एवं सहस्रार-पर्यन्त विशुद्ध चैतन्यकी स्थिति है। जो निद्राके पूर्व, पूर्व-पूर्वका उत्तर-उत्तरमें विलय कर लेता है और शुद्ध-चैतन्यमें स्थित होकर शयन करता है और जागनेपर उत्पत्ति क्रमसे सबका चिन्तन करके व्यवहार करता है, कुछ मासमें ही उसकी निद्रा समाधि हो जाती है और व्यवहारमें राग-द्वेष क्षीण होने लगते हैं। मैं स्वामीजीके आदेशानुसार गायत्रीकी उपासना में लग गया।

गायत्री-जपके समय एक-एक शब्दपर ध्यान रखता। संख्या भी रखता। इससे चित्तमें उत्साह बना रहता कि इतना हो गया। जैसे व्यापारीको रुपयेकी संख्या बढ़नेपर हर्ष होता है वैसे ही मुझे जपकी संख्या बढ़नेपर आनन्द होता था। स्वाध्याय भी करता। लोगोंके साथ व्यवहार करता। एक समय अन्न दूसरे समय फल—यह क्रम चलने लगा। अब कभी-कभी गायत्रीके अर्थपर भी ध्यान जाता है। गायत्रीका प्रतिपाद्य, सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर है। वह स्वयं प्रकाशमान एवं लीला-शक्ति सम्पन्न है। उसका ज्योतिर्मय स्वरूप ही वरणीय है। वह रहता कहाँ है? हमारी बुद्धि, वृत्तियोंको प्रेरित करता रहता है अर्थात् अन्तर्यामी है एवं हमारे हृदयमें स्थित है। ध्यानकी एक विशेष धाराका प्रवाह हुआ। परमेश्वर दूर नहीं निकट है। केवल आदि-अनादि कालमें सृष्टिका निर्माता ही नहीं, इस समय हमारी वृत्तियोंका संचालक एवं नियंत्रक है। प्रश्न उठा—'क्या हम उसका दर्शन कर सकते हैं?' यह प्रश्न लेकर हम स्वामीजीके पास गये।

श्रीस्वामी योगानन्दजी महाराजने अनुग्रह किया कि अब तुम गायत्री देवीका ध्यान मत करो। गायत्री छन्द है। मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवता गायत्री देवी

है, सृष्टि, स्थिति, प्रलयकी उपाधिसे उसकी ब्राह्मी, वैष्णवी एवं शाम्भवी शक्तिके रूपमें उपासना होती है। तीनोंकी नियामक-शक्ति एक ही है और शक्तिमान परमेश्वर है। वह परमेश्वर कहीं दूसरे देशमें, कालमें दूसरी वस्तुके रूपमें नहीं रहता। वह तुम्हारे हृदयमें रहकर अनादि बीज-संस्कृतिकी उपाधिसे तुम्हारी वृत्तियोंका संचालन करता है। वही सविता अर्थात् सृष्टिकर्त्ता है और देव अर्थात् लीला, क्रीड़ाका सूत्रधार चेतना है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा नियन्ता, नियम्य आदिकी त्रिपुटियाँ उसीसे बनती हैं। वह अन्यत्र रहकर सृष्टिका निर्माण नहीं करता, तुम्हारे सम्मुख रहकर सृष्टिको प्रकाशित करता है। तुम परमेश्वरके भी द्रष्टा एवं प्रकाशक हो। त्रिपुटियोंमें परिवर्तनकी प्रतीति होती है; परन्तु ज्ञान-स्वरूप तुम एक ही रहते हो। देश, काल, वस्तु, सर्जन-विसर्जन, उपाधि-उपहित, सब प्रतीतिमात्र है। तुम दृग्मात्र हो। अपने स्वरूपका ज्ञान ही वरणीय भर्ग है। भर्ग माने अविद्या एवं उसके कार्यको भर्जन करनेवाला। भूननेवाला, जलानेवाला। ध्यानका अर्थ है—तादात्म्य, उससे एकत्वका अनुभव। मेरे सामनेसे जैसे कोई आवरण हट गया हो। जिसको मैं अन्धकार समझता था, वही महाप्रकाश हो। इस आत्म-ज्योतिके प्रकाशमें भूः, भुवः, स्वः की पृथक्ता अपने आप समाप्त हो गयी। केवल परिपूर्ण, अद्वितीय आत्म-तत्त्व ही शेष रहा। वह तत्त्व जिसमें कालकी दाल नहीं गलती, जिसमें देशका निर्देश-प्रवेश नहीं होता, जिसमें वस्तुदृष्टिसे आत्मा-अनात्माका भेद नहीं है। मैं सोचने लगा मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। किसे जानूँ? किसे पाऊँ? किसे छोड़ूँ? क्या करूँ? गायत्री-मन्त्रके तात्पर्यका पर्यालोचन करनेसे महावाक्यार्थका बोध हो जाता है। पूर्वार्द्धमें 'तत्'-पदार्थकी प्रधानता है और उत्तरार्द्धमें 'त्वं'-पदार्थकी। महावाक्यार्थ, अकार-उकार-मकार एवं अमात्र रूपसे प्रणवमें समाहित है। प्रणवसे महावाक्य, महावाक्यसे गायत्री एवं गायत्रीसे चारो वेद; अर्थात् गायत्री वेदमाता है।

स्वामीजीके ज्ञानकी गम्भीरताका अपरोक्ष अनुभव होने लगा। इन्हीं दिनोंमें स्वामीजीका शरीर पूरा हो गया। थोड़े दिनोंमें काशीमें ही जहाँ स्वामीजीका शरीर पूरा हुआ था वहीं श्रीमाताजीका शरीर भी पूरा हो गया। संसारसे कोई सम्बन्ध रहा नहीं। मैं दण्डी स्वामी चन्द्रशेखराश्रम हो गया। संन्यासमें सर्वप्रायश्चित्त श्राद्ध, बिरजा होम, प्रैषोच्चारणके साथ-ही-साथ पञ्चीकरण, त्रिवृत्तकरण, पञ्चकोष-विवेक, अवस्था-त्रय-विवेक आदिके द्वारा महावाक्यार्थका बोध कराया जाता है। स्वामीजीके अनुग्रहसे इन सबका मुझे पहले ही अधिगम हो चुका था।

अन्तःकरणमें सत्त्व, महत्त्वका भाव नहीं था। अन्तःकरण कुछ भी करे, न करे; समाहित हो, विक्षिप्त हो, संसारका कोई विक्षेप नहीं था। एकाएक अन्तःकरणमें एक विशेष भावका उदय हुआ। वह भाव था—आनन्दका, रसका। संक्षेपमें वह भक्तिभाव था। मनमें यह भी आता कि तत्त्वज्ञानके साधनके लिए रसास्वादन त्याज्य है, क्योंकि वहाँ आत्मामें भोक्तापनका भाव ला देता है। भक्ति-भावमें भी भक्तका स्वयं रस लेना, प्रेमके विपरीत है, क्योंकि प्रेम प्रियतमको रस देनेके लिए होता है। स्वयं रस लेनेके लिए नहीं। इस प्रकारके विचार होनेपर भी रसकी धारा अवरुद्ध नहीं होती, प्रवाहित होती थी। अन्ततोगत्वा इस प्रकारका चिन्तन उदय हुआ कि अन्तःकरणकी महत्ता एवं सत्ता बाधित है। यह न मैं हूँ, न मेरा है। यह ऐसा रहे कि न रहे—ऐसा आग्रह भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें यह निराकार रहे कि साकार, रसास्वादन करे कि न करे, सचिन्त हो किंवा निश्चिन्त, मुझपर इसका क्या प्रभाव! होने दो जैसा होता है। जब मैंने अन्तःकरणसे अहंता-ममता छोड़ दी तब उसमें भगवान्‌की लीला प्रकट होने लगी, व्यष्टिका अहं भाव छूटते ही समष्टिका अहं भाव प्रकट हो जाता है। व्यष्टि प्रतिविम्ब है, समष्टि विम्ब है। विम्ब, प्रतिविम्बसहित अन्तःकरण प्रतीति-मात्र अर्थात् मिथ्या है। जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले अनेक-अनेक पुरुषोंके अन्तःकरण होते हैं; वैसे ही इस अन्तःकरणके भी नाना रूप हैं। ऐसा लगता है, जैसे इस अन्तःकरणमें भक्तिका कोई अनिवर्चनीय बीज रहा हो, वह स्वयं अंकुरित हो गया। श्रीकृष्णकी लीलाओंका अपने आप आभास होने लगा। जो होता है सो होने दो। जो मेरा नहीं है, वह भगवान्‌की लीलास्थली बन जाय तो अच्छा ही है। जिस तत्त्वमें सम्पूर्ण जगत्‌की प्रतीति हो रही है, उसीमें व्रज एवं वृन्दावन है। है ब्रह्म—उसमें एक विशेष रेखा-सी खिंच गयी—रूप हो गया। रूपका नाम रख दिया। जैसे सत्‌में कारण-कार्य होता है, चित्‌में ज्ञाता-ज्ञेय होता है वैसे आनन्दमें भोक्ता-भोग्य होता है। शुद्ध चिद्, वृत्ति और आभास तीनोंका स्पन्दन एवं निस्पन्दता दोनों प्रतीतिमात्र होनेपर भी लीलाका रूप ग्रहण कर लेती हैं। यही आस्वाद्य-आस्वादक भाव हो जाता है। परन्तु दोनोंमें कोई विभाजक रेखा नहीं होती। आस्वाद्य ही आस्वादक है और आस्वादक ही आस्वाद्य है। भेद-भ्रम मिट जानेके कारण, नाम-रूपमें पृथक्ता होनेपर भी एकत्व बना रहता है। जैसे सत्-ही-सत् है, चित्-ही-चित् है—ऐसा बोला जाता है, वैसे आनन्द-ही-आनन्द है—यह भी कहा जाता है। कभी आस्वाद्यका नाम 'राधा' तथा आस्वादकका नाम 'कृष्ण'। कभी आस्वाद्यका नाम 'कृष्ण' और आस्वादकका 'राधा'। 'परस्पर दोऊ चकोर दोऊ चन्दा।' अथवा यों कहें—'एक स्वरूप सदा द्वय

नाम'। नामका भेद तत्त्वमें भेद उत्पन्न नहीं करता। रूपका भेद भी अपरिच्छिन्न तत्त्वमें केवल ज्ञानात्मक रेखा-मात्र ही होता है। क्रिया तो आनन्दका उल्लास, विलास या लीला है। अनन्त रस-समुद्रमें दो लहरियाँ उठती हैं, वे एक दूसरेकी ओर आकृष्ट होती हैं, परस्पर मिलती हैं, एक होती हैं, दायें-बायें होती-सी लगती हैं; परन्तु वस्तुत: उनमें भेद नहीं होता। भेद लीला है, अभेद स्वरूप है। पूर्वाचार्योंने इसीको स्वाभाविक, अचिन्त्य अथवा औपाधिक नाम दिया है। आभूषण बननेपर भी स्वर्ण स्वर्ण ही है। तरंग उठनेपर भी जल जल ही है। परिपूर्ण तत्त्व कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। यही राधाकृष्णकी लीला है।

चन्द्रमा पण्डित अथवा दण्डीस्वामी श्रीचन्द्रशेखराश्रमजी वृन्दावनके आश्रममें, जब मैं जे०के० वालोंके 'पद्म-बिहारी' मन्दिरमें रहता था और उसके बाद जब 'आनन्द वृन्दावन' का निर्माण होने लगा, तब वहाँ बहुत वर्षोंतक रहे। शरीर वृद्ध हो गया था। दीखता भी कम था। अधिकांश समय लेटे रहते थे। छड़ीके सहारे नित्य-कर्मके लिए चलते-फिरते। बोलते बहुत कम थे। उनके मुखारविन्दपर मुस्कान खेलती रहती थी। न ऊधोका लेना, न माधोका देना। गेरुये रंगकी बगलबन्दी पहनते थे। दण्ड उनके पास रखा होता था। कोई अपना कष्ट बताता, तो कोई जड़ी-बूटी भी बता दिया करते थे। सब आत्मा, आत्मा-भगवान्; भगवान् ही सब—यही उनका अनुभव था। इसके बाद कुछ नहीं। सम्भवत: मेरी अनुपस्थितिमें उनका शरीर छूटा होगा। भण्डारा भी हुआ होगा। परन्तु उसके बारेमें मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। उनके शरीरकी मिट्टी वृन्दावनकी चिन्मय मिट्टीमें मिल गयी। वृन्दावन कोई स्थूल सृष्टि नहीं है। अगणित भक्तोंने उसका ध्यान किया है। ध्यानमें स्थूलता नहीं रहती, सूक्ष्मता आजाती है। सूक्ष्मतामें भगवत्-दर्शन होनेके कारण, वह ध्येय, भगवन्मय, चिन्मय हो जाता है। रूपमें ध्यानसे तन्मयता आती है, चाहे कहीं भी रहें। नाम साथ-साथ जाता है, उसका उच्चारण करना पड़ता है, परन्तु धाममें शरीर छोड़नेवालेको, न ध्यान करना पड़ता है, न उच्चारण। उसका शरीर धामसे एक हो जाता है। इसका अर्थ है धाममें शरीरका छूटना भगवत्प्राप्तिके लिए ज्ञान, ध्यान, स्मरण, जप, पूजा आदि किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं रखता। धाम, ब्रह्मस्वरूप है। भगवत् कृपासे ही उसमें निष्ठा होती है।

❀

श्रीजयदयाल गोयन्दका—मेरी दृष्टिमें

संगीतके चमत्कारी आविष्कारक एवं गायक श्रीविष्णु दिगम्बरने प्रयागमें कुम्भमेलेके अवसरपर श्रीगीता ज्ञान-यज्ञका आयोजन कर रखा था। तत्कालीन बड़े-बड़े महात्मा एवं विद्वान् उसमें पधारे हुए थे। मैं संस्कृतका विद्यार्थी था और उस सभामें श्रोताके रूपमें उपस्थित था। मञ्चपर अकस्मात् एक अवधूत आकर खड़े हो गये। कमरमें लंगोटी, हाथमें डण्डा, धूलि-धूसरित शरीर। बोले—'मैं व्याख्यान दूँगा।' उन्हें कोई रोक नहीं सका। वे बोलने लगे। गीता कोई शास्त्र नहीं है, यह दो मित्रोंका परस्पर सम्वाद है। युद्धके प्रारम्भमें अर्जुन रोने लगा, विषादग्रस्त हो गया। श्रीकृष्णने उसके कन्धेपर हाथ रखा एवं बड़े प्रेमसे कहा—'मित्र,' तुम्हारा यह क्रिया-कलाप अनुचित तथा अन्-अवसर है। नपुंसक-भाव छोड़ो! उठो!' मित्र ने मित्र की बात समझी। विषादके स्थानपर प्रसादका उदय हो गया। इतना बोलते-बोलते अवधूतका गला रुँध गया। आँखोंमें आँसू आये और वह कुछ आकुल-व्याकुल होकर मञ्चपरसे उतर गया और मेलेकी भीड़में समा गया। उसी मञ्चपर मुझे पहले-पहल सेठ श्रीजयदयालजीके दर्शन मिले।

सेठजीके सम्बन्धमें सुना था कि वे गीताके विद्वान् हैं। स्वयं भगवानने उन्हें गीताके प्रचारकी आज्ञा की है। उनकी एक मानसिक आकृति कल्पित हो गयी थी। गौर-वर्ण, सुकुमार शरीर, पीत वस्त्रसे परिवीत। परन्तु, उनकी झाँकी तो सर्वथा विपरीत थी। गेहुँए रंगका शरीर। शरीरपर बगलबन्दी, सिरपर राजस्थानी पगड़ी, कानोंमें मुर्की। देखनेपर स्पष्टरूपसे मारवाड़ी सेठ ज्ञात होते थे। आश्चर्य हुआ हैं। यही हैं भक्तराज! (श्रीभारतधर्म-महामण्डलने सेठजीको 'भक्तराज' की उपाधिसे अलंकृत किया था। परन्तु उन्होंने कभी इस उपाधिका उपयोग नहीं किया और न तो स्वीकृति ही दी) मनमें कल्पित आकृति बदल गयी और उस समय मिलना-जुलना नहीं हो सका। मैं अपने व्याकरणके गुरु पण्डित श्रीरामभवन उपाध्यायके साथ सेवाके लिए मालवीयजीकी सनातनधर्म-सभामें भाग लेने गया था और गुरुजीकी अनुज्ञासे ही उस सभामें सम्मिलित हुआ था।

छ: वर्षके बाद अर्द्धकुम्भका मेला आया। मैं उन दिनों झूसी, प्रयागमें श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराजके संवत्सर-व्यापी संकीर्तन-यज्ञमें सम्मिलित था

एवं श्रीमद्भागवतपर प्रवचन करता। प्रवचनके अतिरिक्त समयमें मौन रहता, फलाहार करता, नित्य त्रिवेणी-स्नानका सौभाग्य मिलता। श्रीब्रह्मचारीजीके कारण ही अनेक महात्माओंके दर्शन एवं अलापका सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहीं सेठ श्रीजयदयालजी भी आये। जब वे किसी महात्मासे प्रश्नोत्तर करते तब कई बार मैं भी होता और इस बातसे प्रसन्नता होती कि सेठजीने गीताका कितना गहन अध्ययन, गम्भीर चिन्तन किया है। वे 'गीतामें निष्काम-कर्मका प्रतिपादन है'— यह तो कहते थे परन्तु लोकमान्य तिलकके समान यह नहीं कहते थे कि ज्ञान होनेके अनन्तर भी कर्म ही कर्त्तव्य है। उनका कहना था-'ज्ञानी स्वतन्त्र है। वह कर्म करे चाहे न करे। उसके लिए कोई अनिवार्य आदेश या बन्धन नहीं है।' एक दूसरी विशेषता उनकी यह थी कि वे भामती-प्रस्थानके समान निष्काम-कर्मको केवल विविदिषा अर्थात् जिज्ञासाका ही साधन नहीं मानते थे। वे विवरण-प्रस्थानके समान निष्काम-कर्मको ज्ञानका भी साधन मानते थे। सगुण साकारके दर्शनमें भक्ति स्वतन्त्र, निर्गुण निराकारके साक्षात्कारमें ज्ञान स्वतन्त्र। साथ ही वे ज्ञानी पुरुषके जीवनमें किसी प्रकारका दोष या विकार स्वीकार नहीं करते थे। उनके झूसी आनेसे सत्संगका रंग कुछ और निखर गया। महात्माओंमें विचार-विमर्श होने लगे। सेठजी निर्भीक भावसे महात्माओंके बीचमें इस विचारका संस्थापन करते कि निष्काम-कर्म जिज्ञासा, ज्ञान एवं निराकारके ज्ञानमें साधन तो है ही, सगुण साकारके दर्शनमें भी स्वतन्त्र साधन है।

महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराजसे 'अविद्या-लेश' के सम्बन्धमें अच्छा सत्संग हुआ। प्रश्न यह है कि तत्त्वज्ञान होनेके अनन्तर कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्वकी निवृत्ति हो जानेपर ज्ञानीके व्यक्तिगत जीवनमें उसके रोग, भोग, योग, संयोग, वियोग आदि कैसे निष्पन्न होते हैं? वेदान्तियोंका उत्तर है-'ज्ञान होनेपर संचित एवं क्रियमाण कर्म तो नाश एवं असंश्लेषको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु प्रारब्ध-कर्म शरीर पर्यन्त रहते हैं। इन प्रारब्ध-कर्मोंकी सिद्धि 'अविद्या-लेश' से होती है। अविद्या-लेशका अर्थ यह है कि जैसे किसी दोने अथवा पात्रमें चम्पाका पुष्प रख दिया जाय तो पुष्पके हटा लेनेपर भी कुछ समयतक उसकी गन्ध बनी रहती है। इसी प्रकार अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी उसका गन्ध-लेश बना रहता है और शरीर-पात-पर्यन्त भोगका निर्माण करता है। इसीसे तत्वज्ञानीमें आचार्यत्व मठाधिपतित्व आदिकी सिद्धि होती है।' सेठजीको स्वामीजीके इस प्रतिपादनसे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे फिर वही प्रश्न किया। बाबाने कहाकि तत्त्वज्ञानीकी स्व-दृष्टिसे

न अविद्या है, न अविद्या-लेश। अविद्या न थी, न है, न होगी। ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति होती है वह पहले से निवृत्त ही होता है। निवृत्ति नहीं निवृत्ति-सी होती है। ज्ञानसे जिसकी प्राप्ति होती है, वह नित्य प्राप्त ही होता है। अप्राप्तकी-सी प्राप्ति नहीं होती। प्राप्तकी ही प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि तत्त्व-दृष्टिसे न अविद्या है, न प्रारब्ध है। वह तो अन्य दृष्टिसे ज्ञानी पुरुषमें कल्पित है अर्थात् अज्ञानीकी दृष्टिसे ही है। सेठजीको इस उत्तरसे बहुत प्रसन्नता हुई।

उन दिनों महात्माओंके समाजमें श्रीकरपात्रीजी महाराज उदीयमान सूर्यके समान चमक रहे थे। उनके वैराग्य और ज्ञानकी छटा धीरे-धीरे फैलने लगी थी। सेठजीका उनसे संवाद हुआ। सेठजीका कहना था कि ज्ञानीके जीवनमें किसी प्रकारका काम-क्रोधादि रूप विकार नहीं होने चाहिए। यदि ज्ञानीके जीवनमें भी विकार रहे तो कोई ज्ञान क्यों चाहेगा? सदाचारकी मर्यादा भंग हो जायेगी। आदर्श बिगड़ जायेगा। श्रीकरपात्रीजी महाराजका कहना था कि यदि लोगोंको यह ज्ञात रहेगा कि ज्ञानीके जीवनमें भी कदाचित् काम-क्रोधादि दोष आ सकते हैं तो लोग ज्ञानीसे भी सावधान रहेंगे और यह सर्वथा निर्विकार है, इस अन्धविश्वासके वशमें होकर अपनी बहू-बेटियोंको ज्ञानियोंके पास नहीं भेजेंगे। अतएव निर्विकारताके विश्वासमें धोखा होनेकी सम्भावना है। जब शास्त्र कहता है कि ज्ञानीका ज्ञानोत्तर पापसे संश्लेष नहीं होता, तो इसको स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरी बात यह है कि कोई भी विचारवान पुरुष केवल मनमें विकार आनेसे ही अपनेको अज्ञानी मानने लग जाय तो तत्त्वनिष्ठा होनेमें ही बाधा पड़ेगी। राग-द्वेषसे इतना द्वेष कि अपने यथार्थ सत्य, निर्विकार आत्मतत्त्वकी उपेक्षा हो जाय, ऐसा उचित नहीं है। परन्तु सेठजी अपने विचारोंमें दृढ़ रहे। उन्हें ज्ञानीके जीवनमें किसी प्रकारका विकार स्वीकार नहीं था। यही कारण है कि पञ्चदशी और विचार-सागरके आभासवादको स्वीकार नहीं करते थे।

उन्हीं दिनों पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी, अन्त्यजोंको द्वादशाक्षर, अष्टाक्षर, पञ्चाक्षर आदि मन्त्रोंकी दीक्षा देने लगे थे। काशीके क्या, समग्र भारतवर्षके सनातन-धर्मी पण्डितोंके दो दल हो गये। कुछ पक्षमें, कुछ विपक्षमें। श्रीकरपात्रीजी महाराज विपक्षमें थे। शास्त्रार्थका निर्णय हुआ। ऋषिकेशमें श्रीकरपात्रीजी महाराज एवं पं. मालवीयजीका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थमें क्या हुआ- यह लिखनेमें मेरा कोई तात्पर्य नहीं है। हमारा यह कहना है कि उस शास्त्रार्थमें श्रीजयदयालजी गोयन्दका एवं श्रीगौरीशंकर गोयन्दका मध्यस्थ बनाये गये थे। श्रीगौरीशंकर गोयन्दकाने स्पष्टरूपसे श्रीकरपात्रीजीकी जीत बतायी। परन्तु श्रीजयदयालजी

गोयन्दाकाने कहा कि एक रकमसे करपात्रीजी ठीक हैं तो एक रकम(दृष्टि) से मालवीयजी ठीक हैं। शास्त्रोंके प्रमाणकी दृष्टिसे करपात्रीजीका पक्ष परिपुष्ट था, युक्तियोंकी दृष्टिसे मालवीयजीका। इससे श्रीकरपात्रीजी महाराज सेठजीसे कुछ रुष्ट हुए। उन्होंने संकीर्तन एवं वर्ण-व्यवस्थाके सम्बन्धमें एक विस्तृत निबन्ध लिखा था, जो गीता प्रेससे प्रकाशित नहीं किया गया। कहीं और से प्रकाशित हुआ। ईशावास्योपनिषद्के विद्या, अविद्या एवं सम्भूति, असम्भूति-सम्बन्धी सेठजीके व्याख्यानका भी श्रीकरपात्रीजीने खण्डन किया था- वह भी 'कल्याण' पत्रमें प्रकाशित नहीं किया गया, कहीं अन्यत्र ही प्रकाशित हुआ। परन्तु श्रीकरपात्रीजी महाराज गोरक्षाके आन्दोलनमें प्रवृत्त हुए, तब सेठजी श्रीजयदयाल गोयन्दका एवं भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दारने उसमें इतना सहयोग दिया कि श्रीकरपात्रीजी प्रसन्न हो गये। मुझसे करपात्रीजीने कहा कि पुरानी बातें भूल जानी चाहिए।

सेठजी का मुख्य दृष्टिकोण सदाचार एवं चरित्रके पवित्रतापर था। अतएव पञ्चदशी एवं विचार-सागर पढ़नेवालोंके सम्बन्धमें सदा सावधान रहते थे, वे कहीं उच्छृङ्खल न हो जायँ। वे खुलकर इन दोनों ग्रन्थोंका विरोध करते थे। उदाहरणके रूपमें आप यो समझें कि व्यभिचार एक निषिद्ध-कर्म है और पाप है। यदि उसको कोई प्रारब्ध-भोग बताने लगे तो यह सेठजीको सह्य नहीं था। निषिद्धका आचरण तो कर्तृत्व एवं वासनाकी प्रधानतासे ही होता है, उसको प्रारब्धपर डालना वे उचित नहीं समझते थे। उन्होंने स्वामी श्रीमंगलनाथ महाराजसे वर्षोंतक वेदान्तकी शिक्षा प्राप्त की थी, अतएव वे इस सम्बन्धमें इतने पक्के थे कि कोई कुछ भी कहे, अपनी प्रखर युक्तिओंसे उसका खण्डन कर देते थे। उन्हें कलकत्तेके श्रीहीरालालजीकी पसन्दका अत्यन्त कटु अनुभव था, अतएव कहीं किंचित् भी शंका हो जाती तो वे उसका सार्वजनिक विरोध करने लगते थे। सावधानता और स्पष्टवादिता ये दोनों गुण उनमें पर्याप्त रूपसे थे।

ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजके साथ मैं गोरखपुरके संकीर्तन यज्ञमें गया। गोयन्दका-बगीचेमें ही उसका आयोजन था। मैं प्रतिदिन श्रीमद्भागवतपर प्रवचन करता। सेठजीको गोपीकृष्णका प्रेम, चीरहरण, रासलीला, माखन-चोरी आदिके प्रसंग पसन्द नहीं थे। मैं भागवतपर प्रवचन करता तो सेठजीके आक्षेपोंका निवारण भी करता, परस्पर कानाफूसी भी होती। परन्तु, श्री भाईजी हनुमान प्रसादजी सबका समाधान कर देते। उन्हें श्रीकृष्ण-लीलासे बहुत प्रेम था। बादमें यह रुचि-भेद अत्यन्त स्पष्ट हो गया था। श्रीभाईजी वहाँ रासलीला कराने लगे थे। लोग किसी-किसी स्वरूपमें विशेष भाव भी करने लगे थे और प्रसाद भी लेने लगे

थे। निश्चय ही यह बात सेठजी और उनके अन्तरंग अनुयायियोंको नहीं भाती थी। गोयन्दाका-बगीचेका ही कालान्तरमें 'गीता-वाटिका' नाम हो गया।

सेठजी फोटो खिंचवाने और जीवित व्यक्तिकी जीवनी प्रकाशित करनेका भी विरोध करते थे। उनका कहना था कि इससे देहात्मभावकी पुष्टि होती है और अपना नाम, यश, पूजा, प्रतिष्ठाकी वृद्धि-समृद्धिकी वासना बढ़ती है। उन्होंने यह भी कह दिया कि मेरी मृत्युके पश्चात् भी कोई मेरी जीवनी न लिखे। जो लिखेगा वह पापी होगा।

सेठजी, हनुमानबख्श गोयन्दका और घनश्याम जालान पूर्व जन्ममें परस्पर सम्बन्धी थे और इसी कारण स्वयं मुक्त होनेपर भी सेठजीने इन लोगोंके उद्धारके लिए स्वेच्छासे जन्म लिया था। यह चर्चा लोगोंमें चला करती थी। एक दिन एकान्तमें सेठजीसे मिलकर इसके सम्बन्धमें प्रश्न किया कि क्या आपको किसीके पूर्व जन्मका ज्ञान हो जाता है ? वे हँसकर बोले-'हाँ', यदि मैं चाहूँ तो किसीके पूर्व जन्मको जान सकता हूँ। जैसा कि हनुमानबख्श और घनश्यामके विषयमें लोग कहते हैं, वैसा मुझे एक बार आभास हुआ था और मैंने उसे कहा था। इसपर वे स्वयं कहने लगे कि कोई भी चाहे तो वह अपने पूर्व जन्मको जान सकता है। इसकी युक्ति यह है कि पवित्र होकर एकान्तमें बैठ जाय। सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदिके अनन्तर, चित्तको अपनी स्मृतियोंपर एकाग्र करे। जन्मके बाद जो-जो व्यक्ति और घटनाएँ मनमें आयी हैं, उनको छोड़ते-छोड़ते उस स्थितिमें पहुँच जाय जब चित्तमें इस जन्मके किसी दृश्यका परिग्रहण न रहे धीरे-धीरे चित्तकी ग्रन्थियाँ खुलती जायेंगी और वह पूर्व अवस्थामें पहुँचता जायेगा। गर्भमें एवं पिताके वीर्यमें आनेके पूर्व वह कहाँ था, क्या था इसका प्रकाश हो जायेगा योग-दर्शनमें इस बातका स्पष्ट निर्देश मिलता है।

एक बार मैं गीता-भवनके सत्संग-हालमें बैठा हुआ था। दो-चार सत्संगी भी होंगे। सेठजी उठकर खड़े हो गये और कहने लगे कि कई भाई कहते हैं कि सेठजी सत्संगपर इतना धन-व्यय क्यों करते हैं ? प्रतिवर्ष हजारों लोगोंका आना-जाना, खाना-पीना, रहना-सहना, सब प्रबन्ध करना पड़ता है। क्या आवश्यकता है ? मैं यह कहता हूँ कि यह मेरा शौक है। सब लोग अपने-अपने शौकके लिए क्या-क्या नहीं करते हैं ? सिनेमापर कितना खर्च होता है ! मैं तो सत्संगपर खर्च करता हूँ। उस समय उनके चेहरेपर उत्साह एवं उल्लासके भाव स्पष्ट रूपसे चमक रहे थे।

सेठजीकी गीता-तत्त्वविवेचनी पहले गीता-तत्त्वाङ्कके रूपमें प्रकाशित की गयी थी। तत्त्वाङ्क लिखनेका काम अधिकांश बाँकुड़ामें ही सम्पन्न हुआ था।

सेठजीके भक्त बाँकुड़ाको वैकुण्ठ कहते थे। मारवाड़ी भाषामें दोनोंके लिए 'ब', 'क', 'ट' तीन अक्षर लिखे जाते हैं-प्रसंगानुसार पढ़ लिया जाता है। बाँकुड़ामें मैं लगभग चार महीना रहा। सेठजी, भाईजी, स्वामी रामसुखदासजी, स्वामी चक्रधरजी, हरिकृष्णदास गोयन्दका गीतार्थ-निर्णयमें सम्मिलित होते थे। कभी-कभी स्वामी श्रीचक्रपाणिजी भी बुलाये जाते थे। जिस समय किसी-किसी श्लोकके अर्थ-निश्चयमें मतभेद होता उस समय श्रीभाईजीकी भावना और श्रीहरिकृष्णदासजीकी कर्कश तर्कोंकी टक्कर देखते ही बनती थी। श्रीरामसुखदासजी, शंकराचार्य आदिकी संस्कृत-टीकाओंका तात्पर्य बताते। हरिकृष्णदासजीका श्रीभाष्यके प्रति विशेष आग्रह था। वाद-विवादमें दोनोंका चेहरा लाल हो जाता। जैसे अपने-अपने अर्थका आवेश हो गया हो। उस समय सेठजीकी व्यवहार-निपुणता देखनेमें आती। वे हँसकर बोलते-'भाई! टीका तो मेरे नामसे प्रकाशित होनी है। इस सम्बन्धमें मेरा जो मत है वही लिखा जायेगा। फिर तो दोनों ही चुप हो जाते। मेरा काम था लिखी हुई प्रश्नोत्तरात्मक टीकामें कहीं किसी प्राचीन आचार्यके प्रति कोई कटु आक्षेप न हो। खण्डन-मण्डन तो होते ही थे। परन्तु, अनजानेमें भी किसीका अपमान नहीं होना चाहिए। जब मैं कभी किसी अर्थ-विशेषपर बल देता तो सेठजी बड़े प्रेमसे बोलते- 'ऐसा अर्थ भी हो सकता है। मुख्य रूपसे मेरा अर्थ लिख दो और प्रश्नके रूपमें इनका अर्थ लिखकर उत्तरमें लिख दो कि हाँ, ऐसा भी हो सकता है।'

भारतवर्षके प्रसिद्ध सन्त श्रीमंगलनाथजी महाराजसे सेठजीने गीताका अध्ययन किया था। स्वामीजीके 'विचार-बिन्दु', 'वीर-विजय' आदि ग्रन्थ वेदान्तकी प्रमाण-प्रमेयकी प्रधान उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। उनके त्याग-वैराग्यकी उन दिनोंमें बहुत ही प्रसंशा थी। वे शांकर-सिद्धान्तके अनुभवी महापुरुष थे। सेठजी उनके सिद्धान्तको पूर्णरूपसे मानते थे। श्लोकोंके अर्थमें सेठजीका मतभेद था। परन्तु, तात्पर्यमें कोई मतभेद नहीं था।

एक दिन एकान्तमें मैंने सेठजीसे उनकी श्रद्धाके सम्बन्धमें प्रश्न किया। सेठजीने शंकराचार्य और स्वामी मंगलनाथजीपर अपनी १५ ॥ आना श्रद्धा बतायी। मैंने पूछा कि यह दो पैसेकी कमी क्यों है? उन्होंने बताया कि शंकराचार्यने तत्त्वज्ञानके लिए कर्मत्यागकी जो अनिवार्य आवश्यकता बतलायी है, वह मुझे मान्य नहीं है। स्वामी श्रीमंगलनाथजी महाराजने गौशालाकी भूमिके लिए अदालतमें मुकदमा किया, यह मुझे पसन्द नहीं आया। सेठजीका स्वभाव ऐसा था कि वे वेद-शास्त्र, पुराणको स्पष्ट रूपसे अनुचित या खण्डनीय नहीं कहते थे।

उनके बोलनेकी शैली यह थी कि 'यह बात मेरी समझमें नहीं आयीजी।' 'हमको यह जँचता नहीं है।' 'हमको इसमें रुचि नहीं है।' किसी भी विवादसे अपनेको अलग कर लेनेका उनमें अद्भुत कौशल था।

तीर्थ-यात्रा स्पेशल ट्रेनमें, सेठजीने मुझे एक पूरा बर्थ दिया था। लगभग तीन महीने, साथ-ही-साथ यात्रा करते रहे। तीर्थोंके प्रति सेठजीकी कुछ विशेष रुचि नहीं थी। सब स्टेशनों और शहरोंमें सेठजीका सत्संग जमता। अग्रिम पार्टी पहलेसे ही पहुँचकर वहाँ प्रचार कर दिया करती थी। सेठजीकी दृष्टिसे वह प्रचार-यात्रा थी, तीर्थ-यात्रा नहीं थी। मैंने यह गौरसे देखा कि सेठजी किसी भी मन्दिरका प्रसाद या चरणामृत नहीं लेते थे। चरणामृत सिरपर डाल लेते थे। मैंने सेठजीसे पूछा- 'आप प्रसाद क्यों नहीं लेते हैं?' उन्होंने कहा कि चरणामृतमें कैसा जल पड़ता है, इसका कुछ ठीक नहीं है। प्रसादको कौन-कौन, किस-किस कामनासे लाकर लगाते हैं, वह भी कुछ ठीक नहीं है। हँसकर बोले कि मनुष्यने तो भगवान्‌को भोग लगा दिया परन्तु, भगवान्‌ने उसको ग्रहण किया या नहीं, इसका पता नहीं चलता। हाँ, निश्चय हो जाय कि भगवान्‌ने ग्रहण कर लिया तो प्रसाद लेनेमें कोई आपत्ति नहीं। मैंने उनकी बात सुन ली। यह तो अपने-अपने भावकी बात है और हमलोग तो तीर्थोंमें प्रसाद लेते ही थे।

तोताद्रिमें यात्रियोंने वहाँके अभिषेक-तैलकी महिमा सुनकर कि उसे शरीरपर लगानेसे चर्मरोग मिट जाते हैं, टीन-पर-टीन भरकर ट्रेनमें रख लिये। वहाँ तेलकी कोई कीमत नहीं ली जाती। ज्ञात होनेपर सेठजीने सबको डाँटा और 'यह प्रसादकी मर्यादाके विपरीत है, अन्याय है, बेईमानी है', कहकर सबसे कीमत वसूल की, जो सैकड़ो रुपयोंमें हुई और मन्दिरमें जमा करवायी। उनकी न्याय-निष्ठा आदर्श थी। मार्गमें रेलवे कर्मचारियोंको पुरस्कार तो दिलवाते थे, परन्तु घूस देनेको मना करते थे। आप इसीसे उनकी धार्मिक कट्टरताका अनुमान लगा सकते हैं कि उन्होंने जगन्नाथपुरीमें वहाँका प्रसाद केवल स्वयं न खाया हो, इतना ही नहीं अपने अनुयायी यात्रियोंको भी सर्वथा रोक दिया। उनका कहना था कि 'पुरीमें प्रसाद खानेकी महिमा शास्त्रमें लिखी है, वह ठीक है, परन्तु वह महिमा वर्णाश्रम-मर्यादाके अनुसार नहीं है, शास्त्रोक्त-विधिसे जो प्रसाद मिलता है, वही लेना चाहिए। धर्मकी मर्यादा तोड़नेसे उच्छृङ्खलता फैलती है।'

इस यात्रामें कुम्भकोणम् आदि तीर्थोंमें वहाँके विद्वानोंकी खोज भी करायी जाती। सेठजी उन्हें बड़े आदरसे बुलाते और सत्कार, दक्षिणा देते। इसी प्रसंगमें हमारी तीर्थयात्रा ट्रेन त्रिवन्नामल्लाई गयी। दक्षिण प्रदेशमें भगवान् शंकरके जो पाँच

महत्त्वपूर्ण लिङ्ग हैं-पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश उनमेंसे अग्नि लिङ्ग वहाँ है। कहते हैं कि कभी-कभी वहाँ एक प्रज्वलित ज्योतिके दर्शन होते हैं। वहीं श्रीरमण महर्षिका आश्रम है। वे उन दिनोंमें वहाँ वर्तमान थे। सेठजी एवं दूसरे सत्संग-प्रेमी उनका दर्शन करनेके लिए वहाँ गये। मैं भी साथ था।

श्रीरमण महर्षि लंगोटी मात्र धारण किये एक तख्तेपर प्रायः लेटे रहते थे। आश्रममें दूसरे जिज्ञासु रहा करते थे। उनसे हिन्दी भाषा में प्रश्न किया गया कि ध्यान किसका करना चाहिए? वे प्रश्नोंके उत्तर में प्रायः किसी पुस्तककी ओर संकेत कर देते थे कि अमुक पुस्तक पढ़ लो। परन्तु, हमलोगोंके साथ उन्होंने बातचीत की। एक सज्जन थे, जो हिन्दीमें किये प्रश्नोंको उन्हें तमिलमें समझा देते और वे तमिलमें उत्तर दे देते। फिर हमलोगोंको हिन्दीमें समझा दिया जाता। ध्यान सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने कहा कि यह प्रश्न करनेवाला कौन है? कहा गया जिज्ञासु। वे बोले-'जिज्ञासु कौन?' जिसको जाननेकी इच्छा है। अच्छा, तो यह इच्छा किसे है? बस, उसीका ध्यान करो अर्थात् आत्म-ध्यान, आत्म-चिन्तन ही करने योग्य है- रमण महर्षिने कहा। सेठजीने घुमा-फिराकर सगुण साकारके ध्यानकी बात करनी चाही, परन्तु श्रीरमण महर्षिने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। बिल्लुपुरम् स्टेशनसे एक ओर त्रिवन्नामलाई है तो दूसरी ओर पाण्डिचेरी। हमलोगोंका मन पाण्डिचेरी जानेका था, परन्तु सेठजीको वहाँ जाना पसन्द नहीं था। क्योकि योगी अरविन्दके आश्रममें शास्त्रोक्त वर्णाश्रम-व्यवस्थाका पालन नहीं होता। सेठजी अपने निश्चयपर अडिग रहे। परन्तु, हमलोग उनसे अनुमति लेकर आश्रममें गये और २४ घन्टेसे अधिक वहाँ रहे। निश्चय ही सेठजीने अरुचिसे ही वह अनुमति दी थी।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीका मन था कि कल्याणका श्रीमद्भागवत-विशेषांक निकाला जाय। सेठजीका कहना था कि इसमें-से कुछ अंश जैसे माखन-चोरी, चीर-हरण, रास-लीला आदि निकाल दिये जायँ। भाईजीको यह पसन्द न था। भाईजीने रतनगढ़में रहनेका निश्चय किया। सेठजीने सारे सम्पादन-विभागको भाईजीके साथ गोरखपुरसे रतनगढ़ भेज दिया। मैं भी रतनगढ़ चला गया।

सेठजीने रतनगढ़में आकर भाईजीको मना लिया। निश्चय यह हुआ कि अनुवाद मैं करूँगा भाईजी देखते जायेंगे और कहीं विषम स्थल होगा वहाँ टिप्पणी भी लिखी जायेगी। विशेषांकके प्रकाशनके लिए समय बहुत कम था। अतः मैं मूल पुस्तक लेकर बैठ जाता और अनुवाद बोलता जाता तथा श्रीदेवधर शर्मा लिखते जाते। जब देवधरजीके हाथ ठिठुरने लगते तब अंगीठीपर सेंक लिया करते थे। करोड़पति गोली आदि मुँहमें डालते भी जाते थे। कभी मैं तकियेके सहारे लेट भी

जाता। दिनमें १०-१० घण्टेतक अनुवाद-लेखनका कार्य होता। लगभग ४ महीनेमें तैयार हो गया। भागवतका कोई भी अंश छोड़ा नहीं गया। इस कार्य-कलापमें श्रीभाईजीकी भागवतपर श्रद्धा, प्रीति एवं सेठजीकी उदारता, दोनों ही प्रकट हुई। अन्यथा श्रीमद्भागवतका ज्यों-का-त्यों प्रकाशन सम्भव नहीं हो सकता था। इस प्रसंगमें मैंने काशीके महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़से परामर्श किया था। उनका कहना था कि यदि मूल ग्रन्थमें कोई परिवर्तन किया जायेगा, चाहे वह संकोच हो या विस्तार, तो उसके समग्र पाठसे जो अपूर्व उत्पन्न होता है, वह नहीं हो सकेगा। अतः पाठके लिए समग्र ग्रन्थ ही होना चाहिए। सेठजीका ध्यान अपूर्वकी उत्पत्तिपर नहीं था, भगवद्भाव, तत्त्वज्ञान एवं सदाचारकी समग्रता पर था।

वहीं रहते समय श्रीहनुमान-पुस्तकालयसे अनेक ग्रन्थोंका अनुशीलन करके मैंने छोटी-छोटी ८-१० पुस्तकें लिखीं थी। सेठजी भी बीच-बीचमें वहाँ आते-जाते रहे।

एक बार मैंने सेठजीसे कहा कि मैंने सुना है कि आप लोगोंको ध्यान करवा देते हैं। मेरा ध्यान भी लगवा दीजिये। मेरे मनमें कौतूहलका भाव ही अधिक था, ध्यान करनेका कम। पहले ही मैंने प्रमाण-प्रमेयका निश्शेष्कर अप्रमेय स्व-स्वरूपके ब्रह्म होनेका निश्चय कर लिया था। अतः ध्याता-ध्यानमें मेरी कोई रुचि नहीं थी। सेठजीने सहर्ष स्वीकार कर लिया और किसी सेठके मकानकी छतपर झुटपुटेमें, मैं उनके साथ बैठ गया। वे लगभग डेढ़ घण्टेतक आत्माकी असंगता, पूर्णता एवं अद्वितीयताका निरूपण करते रहे और मैं बिना हिले-डुले, अधखुली आँखोंसे बैठकर उनके द्वारा किया हुआ विवेचन सुनता रहा। वे मेरे अन्तःकरणमें एक दृढ़ विश्वास एवं ब्रह्ममयी भावना उत्पन्न कराना चाहते थे। सचमुच मेरा मन एकाग्र हो गया और उनके विवेचनसे सुख तो मिला ही, यह भाव भी दृढ़ हो गया कि सेठजी अद्वैत-वेदान्तके सिद्धान्तको ठीक-ठीक समझते हैं। यदि हल्के शब्दोंमें कहा जाय तो यह कि मैंने मन-ही-मन सेठजीको पास कर दिया।

हरिद्वारमें कुम्भका मेला था। अर्द्धकुम्भ था, अथवा पूर्णकुम्भ, इसका ठीक स्मरण नहीं है। मेलेमें गीताप्रेसकी पुस्तकोंकी दुकान लगायी गयी थी। मैं ठहरा भी दुकानमें ही था। जब मैं वहाँसे चल पड़ा तो पीछेसे मेलेमें आग लग गयी और उसमें गीताप्रेसकी वह दुकान भी जलकर भस्म हो गयी। दुकानका बीमा कराया हुआ था। पूरे रुपये मिल गये। सेठजीके सामने बात आयी। उन्होंने सब हिसाब-किताब देखा और आज्ञा दी कि जो पुस्तकें बिक गयी थीं उनका रुपया वसूल करना तो अनुचित है। उनकी आज्ञासे वे रुपये बीमा कम्पनीको वापस कर दिये

गये। वे चाहते थे कि सारा काम ईमानदारीसे हो। बल्कि वे तो ऐसा भी कहते थे कि ईमानदारीसे व्यापार करने पर मुक्ति भी मिल जाती है।

जिस वर्ष हरिद्वारमें कुम्भ या अर्द्धकुम्भका मेला होता था, उस वर्ष सेठजीका सत्संग स्वर्गाश्रममें न होकर कहीं अन्यत्र हुआ करता था। मुझे दो प्रसंगोंका स्मरण है—एक बार कर्णवासमें और दूसरी बार वृन्दावनके श्रीजीके बगीचेमें। सेठजी व्यवहारमें बहुत ही निपुण थे। वृन्दावनमें श्रीजीके बगीचेमें सेठजीका सत्संग-प्रवचन होता था। उन्हें रासलीला पसन्द नहीं थी। एक स्पष्टवादीके नाते वहाँ उन्होंने कहा—'यदि रासलीला देखनेसे किसीका कल्याण होता तो एक बार देखनेसे ही हो जाता, बार-बार देखनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।' उनके मुखसे यह वाक्य निकलनेके बाद मैंने बोलना प्रारम्भ कर दिया—'क्या यह बात आप भगवन्नामके सम्बन्धमें भी कह सकते हैं कि एक बार नाम लेनेसे ही कल्याण हो जाय, बारम्बार नाम लेनेकी आवश्यकता नहीं है?' मैं कोई एक घण्टे तक व्याख्यान देता रहा। मेरे मनमें यह सद्भाव भी था कि कहीं वृन्दावनके लीलारसिक सेठजीका अपमान न कर दें! सेठजी चुपचाप सुनते रहे। शान्तिसे सत्संग पूरा हुआ।

सत्संगसे उठनेके बाद सेठजी मेरा हाथ पकड़कर एकान्तमें ले गये। उन्होंने मुझसे कहा—'आपने बहुत अच्छा किया कि बीचमें बोलना प्रारम्भ कर दिया। आपने बहुत उत्तम श्रीकृष्णकी प्रेममयी लीलाएँ सुनायीं। आप ऐसा न करते तो सम्भव है कि वृन्दावनके कुछ भक्तोंको कष्ट पहुँच जाता और वाद-विवाद बढ़ जाता, सत्संगमें बाधा पड़ती।'

मेरे हृदयपर उनकी विचारशीलताकी अमिट छाप है।

सेठजीके सत्संगमें सीतामऊके राजा साहब आया करते थे। ७० वर्षसे अधिक उम्र रही होगी। ५० वर्षसे उन्हें सत्संगका अभ्यास था। एक दिन सत्संगमें सेठजीने बड़े विनयके साथ महाराजासे पूछा कि आपने इतने वर्षोंसे सत्संग करके अपने जीवनके लिए क्या निश्चय किया है? उन्होंने कहा कि मैंने दो निश्चय किये हैं—एक तो सत्संग कभी नहीं छोड़ना चाहिए। उससे सदाचारमें आस्था बनी रहती है। भजनका रस बढ़ता है और भगवत्-तत्त्व सम्बन्धी चिन्तन होता है। दूसरा यह कि चाहे कहीं भी रहें परन्तु नाम-जप नहीं छूटना चाहिए। यदि ये दोनों बातें जीवनमें आ जायँ तो जीवन मंगलमय हो जायेगा और समरसता बनी रहेगी। महाराजा बड़े सरल स्वभावके थे और वे सेठजीके परमभक्त थे।

जिन दिनों 'गीता-तत्त्व-विवेचनी' टीका लिखी जा रही थी, श्रीभाईजी,

स्वामी रामसुखदासजी, बाबा चक्रधरजी सब वहीं रह रहे थे। मैं भी था। श्रीमोहनलालजीका एक नन्हा-सा बच्चा शरीर छोड़ गया। मोहनलालजी सेठजीके छोटे भाई तो थे ही, दत्तक पुत्र भी थे। बच्चेको लेकर हमलोग श्मशान गये। लौटनेपर देखा कि सेठजी अत्यन्त व्याकुल हैं। सब लोग उनकी सेवा-शुश्रूषामें लग गये। समझाने लगे—'आप इतने दु:खी हो जायेंगे तो लोग क्या कहेंगे?आप इतने विचारवान्, भगवद्भक्त, सत्पुरुष हैं। लोग कहेंगे कि जब इनका दु:ख नहीं मिटा तो भगवान्के मार्गपर चलनेसे हमारा क्या मिटेगा!' सेठजीने कहा—'यदि घर-बाहरका कोई भी प्राणी मेरे सामने दु:खी होकर आयेगा, तो मैं फिर दु:खी हो जाऊँगा। इसलिए तुमलोग प्रतिज्ञा करो कि कोई दु:खी नहीं होगा तो मैं व्याकुल नहीं रहूँगा।' ऐसा ही किया गया और सब ठीक-ठाक हो गया। मैंने दूसरे दिन एकान्तमें सेठजीसे पूछा—'क्या सचमुच आपको इतना दु:ख हुआ? सेठजीने कहा—'जब मैं दु:खी हो गया, तो सबलोग समझदार हो गये और मुझे समझाने लगे। अकेले मेरे अभिनयी दु:खी होनेसे सबका दु:ख मिट गया।' लोगोंका दु:ख मिटानेकी भी कला होती है जो किसी-किसी सत्पुरुषको आती है।

कर्णवासमें सेठजीका सत्संग बड़े जोर-शोरसे चलता था। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज भी वहाँ थे। भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार भी आये थे। सेठजी महात्माओंकी रहनी पर बहुत बल देते थे। वे किसी महात्मामें किञ्चित् भी त्रुटि या दोष पसन्द नहीं करते थे और झूठ-मूठ भी कभी किसी महात्माका कोई दोष बता दे तो उसे सच मानते थे एवं आलोचना प्रारम्भ कर देते थे। उनका विचार था कि महात्माके जीवनमें दोष देखनेके लिए कोई छिद्र या अवसर भी नहीं होना चाहिए। वे हमेशा दोष देखनेवालेका ही पक्ष लेते थे, महात्माका नहीं।

मैं अब समझता हूँ कि यह उनका दृष्टिकोण कितना उत्तम था। जिस समय सेठजीका सत्संग सन्ध्या-वन्दनके लिए उठ जाता था, उसी समय श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज गंगा-तटपर जाते थे। वे स्नान करके बालुकामें पुलिनपर मस्तीसे खिलते हुए बैठ जाते थे। उस चलते-फिरते बोलते 'ब्रह्म' की यह बात मुझे बारम्बार याद आती है, जब उन्होंने दोनों हाथोंमें बालू भरकर उठाया था और गिराते हुए कहा था—'शान्तनु! जबतक ये बालूके कण साक्षात् ब्रह्म न जान पड़े, तबतक ज्ञान अधूरा है। उनकी दृष्टिमें यज्ञ करना और घास छीलना बराबर ही था। वे सेठजीके सत्संगमें आग्रह-पूर्वक ले जानेपर जाते थे। चुपचाप प्रसन्न मुद्रामें बैठे रहते और सत्संग पूरा होनेपर उठ जाते। उनका नि:स्पन्द आसन जिसने देखा होगा, अभीतक उसको उसकी स्मृति होगी।

मेरे भागवतके अनुवादको लोगोंने बहुत पसन्द किया। सेठजीको भी बहुत अच्छा लगा। अतएव महाभारतका विशेषांक प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ। उसमें भी मेरी यह राय थी कि ग्रन्थमें कोई घटा-बढ़ी न की जाय। 'मैं देश, काल, पात्रके भेदसे सभी प्रसंगोंकी व्याख्या कर दूँगा।'—मैंने कहा। परन्तु सेठजीका यह निश्चय था कि पूरा महाभारतका प्रकाशन उनकी नीतिपर खरा नहीं उतरेगा और ग्रन्थ भी बहुत बड़ा है। उसका संक्षिप्त प्रकाशन ही होना चाहिए। मैंने भी मान लिया कि यदि संक्षिप्त शब्द रखकर प्रकाशन होता है तो घटानेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

अनुवादका कार्य आरम्भ हुआ। आदि-पर्व एवं सभा-पर्वके संक्षिप्त अनुवाद लिखे गये। थोड़ा-सा वन-पर्वका भी अनुवाद हुआ। परन्तु मेरे मनमें बार-बार बात खटकती थी कि कहीं बादमें लोग असली ग्रन्थ ही इतना है, ऐसा न समझने लगें। वस्तुत: महाभारतका एक-एक पात्र मनोवृत्तियोंके अभिव्यञ्जनमें सहायक होता है और सब मिलकर महाभारत एक सर्वाङ्गीण ग्रन्थ हो जाता है। जो महाभारतमें है वही सर्वत्र है। जो महाभारतमें नहीं है, वह कहीं नहीं है। ऐसी व्यासकी प्रतिज्ञा है। मनुष्यके व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवनमें भी परिस्थितियोंमें कितना हेर-फेर होता रहता है, उसमें क्या-क्या आवश्यकता होती है। युद्धके पूर्व एवं युद्धके पश्चात्, पर्वतीय-भूमि एवं सम-भूमि, अर्थात् देश, काल, वस्तु,व्यक्ति, अवस्था, वय, रुचि प्रवृत्तिके भेदसे सभी बातोंकी संगति लग जाती है। 'भारत-तात्पर्य-प्रकाश', 'भारत-तात्पर्य-निर्णय' एवं नीलकण्ठी टीकामें महाभारतके सभी प्रसंगोंको भक्तिपरक एवं तत्त्वज्ञानपरक माना गया है। निर्वेद स्थायीभाव है। शान्तरस ही प्रतिपाद्य अंगी है। ऐसी स्थितिमें मनमें बड़ी दुविधा होती थी कि मैं जो महाभारतको संक्षिप्त कर रहा हूँ, उसमें कहीं तात्पर्यका लोप ही न हो जाय। सन्तोष था तो इतना ही कि उस ग्रन्थपर संक्षिप्त-महाभारत लिखना स्वीकार कर लिया गया था। इस सम्बन्धमें मेरी स्थिति स्पष्ट थी।

मैं बाल्यावस्थासे ही ऐसे विद्वानोंके साथ रहा था, जो शास्त्रके अक्षर-अक्षर, प्रत्येक पंक्ति एवं वाक्यको यथार्थ स्वीकार करते थे और उसकी संगति लगाते थे। श्रीलक्ष्मणशास्त्री द्राविड़, श्रीपञ्चानन तर्करत्न, श्रीवृद्ध वामाचरण भट्टाचार्य, श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री आदि विद्वानोंका मत था कि शास्त्रोंको न मानना, उनके किसी एक अंशको न मानना, परम्परागत अर्थोंको बदलना, यह सब एक ही कक्षामें है और नास्तिकताकी ही अभिव्यक्ति है। शास्त्र-विप्लव एवं धर्म-विप्लव समानार्थक ही है। महाभारतपर नीलकण्ठने, श्रीमद्भागवतपर श्रीधर स्वामीने जो टीकाएँ लिखी हैं, उनके द्वारा जो पाठ स्वीकृत हुआ है, उनको बदलनेका हमें कोई

अधिकार नहीं। उनके सामने और भी परिपुष्ट प्रमाण रहे होंगे। हमें उनकी परम्पराको स्वीकारकर शास्त्रोंकी संगति लगानी चाहिए। जहाँ हम संगति नहीं लगा पाते वहाँ शास्त्रका दोष नहीं हमारी बुद्धिका दोष है। यह सब ऊहापोह मनमें चल ही रहा था कि मैं भगवद्-इच्छासे प्रयाग, कुम्भके मेलेमें चला गया।

सम्भवत: वह मेला अर्धकुम्भीका था। एक स्थानपर ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराजका पट्ट लगा हुआ था। मैं महाराजके पास पहले जाया करता था और तीन वर्ष पहले उनसे संन्यास लेनेका निश्चय भी हो चुका था। जब निश्चय हुआ था, तब वे शंकराचार्य नहीं थे। इधर तीर्थ-यात्रा भागवत अंकका सम्पादन आदि कार्योंमें लग गया था। उनके सम्मुख जाते ही मैंने प्रथम वाक्य यही कहा कि 'अब मैं आ गया हूँ।' उन्होंने संन्यासका दिन निश्चय कर दिया।

मैं काशीमें पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजीको भागवत सुनाकर अपना सामान गीताप्रेस दूकानमें छोड़कर प्रयागराज आगया और चुपचाप संन्यासी होकर मध्यप्रदेशमें कटनीके पास एक नदीके निकट रह गया। श्रीभाईजीको चिट्ठी लिख दी कि अब मैं महाभारतके संक्षिप्त अनुवादका काम नहीं करूँगा। अनुवाद हुआ, अंक छपा। लोगोंके कामकी बहुत बढ़िया वस्तु बन गयी। उसमें सारा प्रयास सेठजी और घनश्यामदासजी जालानका ही रहा। वे ही पसन्द करते थे कि कितना रखा जाय और कितना छोड़ा जाय! सेठजीको महाभारतका बहुत अच्छा अभ्यास था। गीतार्थका निरूपण करनेके लिए वह आवश्यक भी था। उनकी पकड़ भी बहुत सूक्ष्म थी।

सेठजीको वेदान्तके साथ-साथ धर्मशास्त्रका ज्ञान बहुत उच्चकोटिका था। उनके घरमें प्रतिदिन बलिवैश्वदेव होता था। एक दिन मुझे कहीं पूर्वाह्नमें ही जाना था। सेठजीने मुझे 'बलिवैश्वदेव'के पहले ही भोजन करा दिया। मैंने पूछा ऐसा क्यों? वे बोले कि अतिथिको भोजन कराना तो '**बलिवैश्वदेव**'का ही अंग है। आपके भोजनके बाद 'बलिवैश्वदेव' होगा। बाँकुड़ामें एक सत्पुरुष आये हुए थे। उन्हें भोजनके लिए आमन्त्रित करनेको सेठजीने अपने भाई श्रीहरिकृष्णदासजीको भेजा। सत्पुरुषने आमन्त्रण पानेपर कहा कि आज तो तुम भोजन कराओगे, कल कौन करायेगा? हरिकृष्णदासजी चुप हो गये। सेठजीने दुबारा भेजा कहलवाया कि जिसने कल भोजन दिया था वही आज देगा और अगले कल भी वही देगा। भोजन देनेवाला एक ही है। तब प्रसन्न होकर सत्पुरुष भोजन करने आये।

मैं बद्रीनाथ जाने लगा तो बोले कि एक टिन घी आपके साथ भेज देता हूँ। मैंने कहा कि उसके लिए एक कुली यहाँसे भेजना पड़ेगा और लौटते समय वह खाली लौटेगा। हमारे साथियोंको कम्बल दिये और एक चिट्ठी लिखवा दी कि मुझे

जहाँ जो आवश्यकता पड़े; दे दिया जाय। जितना रुपया मैं माँगू; मुझे दिया जाय और मेरे अर्थात् सेठजीके खातेमें लिख दिया जाय। ईश्वर-कृपासे मुझे कहीं कुछ लेना अथवा माँगना नहीं पड़ा, यह एक दूसरी बात है।

यह एक प्रसंग भी स्मरणीय रहा-सेठजीने मेरी पुत्री कमलाके विवाहके अवसरपर कह दिया था कि आप बर्तनोंकी दूकानमें घुस जाइये और आप चाहे जितना बर्तन ले जाइये! मैंने दूकानसे १००-१५० रुपयेके बर्तन लिये थे। मैं हृदयसे यह बात कहता हूँ कि मुझे बर्तन मिलनेकी कोई प्रसन्नता नहीं हुई परन्तु सेठजीकी उदारता और विश्वासने मुझे गद्‌गद कर दिया था। यह घटना संन्यासी होनेके २-३ वर्ष पूर्वकी है।

कभी-कभी लोग सेठजीपर, उनके सामने ही बहुत आक्षेप करते थे। परन्तु उसका उनके मुखपर या व्याख्यानपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। एक बार कोई साधु-महात्मा उनके व्याख्यानके समय वटवृक्षके नीचे आये। बीचमें टोका-टोकी करने लगे। व्यक्तिगत आपेक्ष भी किये। परन्तु सेठजी हँसते हुए उनके आक्षेपोंके सन्दर्भमें ही उत्तर देते गये। व्याख्यान चालू रहा। उस साधुने यहाँतक कह दिया कि अभी तुम 'तत्त्व-विवेचनी' बेचा करो। मुक्ति तो तुम्हें सात जन्ममें भी नहीं होगी। सेठजी हँसकर बोले 'सात जन्ममें न सही, आठवें जन्ममें तो होगी। मुक्तिका होना तो निश्चित हो गया न!' वे साधु महाशय अपना-सा मुँह लिये वहाँ से चल दिये।

परमार्थ-निकेतनमें दैवी सम्पद् महामण्डलका कोई उत्सव था। श्रीहरिबाबाजी, श्रीआनन्दमयी माँ, ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्रीशान्तानन्दजी सरस्वती आये थे। दूसरे महात्मा भी थे। दिव्यजीवन संघके स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वतीने आनन्द-मग्न होकर संकीर्तन किया था। रासलीलाकी मण्डली वृन्दावनसे गयी थी। सेठजीको रासलीला पसन्द नहीं थी। उन्होंने वृन्दावनमें एक बार कहा था कि यदि रास-लीला सच्ची है तो एक बारके लीलाके दर्शनसे ही भगवत्प्राप्ति हो जानी चाहिए। एक बार तो यहाँ तक कहा कि रासलीलाके दर्शनसे मनमें विकार भी होता है। परन्तु मैंने उस समय यह कहकर सेठजीको रोक दिया था कि आपका तर्क तो भगवान्‌के नामपर भी लागू होता है। एक बार नाम लेनेसे कल्याण हो जाय तो दूसरी बार लेनेकी क्या आवश्यकता है। परमार्थ-निकेतनकी रासलीलाका भी सेठजीने विरोध किया और अपने सत्संगियोंको जानेसे रोक दिया। वे अपने निश्चयके इतने दृढ़ थे कि उसके विरुद्ध किसीके सामने भी झुकते नहीं थे।

वहीं वटवृक्षके पास गंगाजीके तटपर सेठजीका सत्संग हो रहा था। गंगाजीकी हर-हर ध्वनि, सामने ऋषिकेशकी हरी-हरी झाड़ी, एक ओर पहाड़।

इस मनोरम दृश्यका आनन्द लेते हुए श्रीआनन्दमयी माँ और उनका परिकर उधरसे निकला। गङ्गा किनारे माँ बैठ गयीं। लोगोंके कहनेपर सेठजी माँके पास आगये। उनके सत्संगी भी साथ थे। वहाँ आकर सेठजीने प्रणाम तो किया नहीं एक आक्षेपात्मक प्रश्न कर दिया। उन्होंने माँसे कहा कि सुना है कि आप अपना उच्छिष्ट लोगोंको देती हैं, और फोटो खिंचवाती हैं। ऐसा क्यों करती हैं? यह बात ध्यानमें लेनेकी है कि सेठजी इन दोनों बातोंके बहुत विरोधी थे। दूसरे महात्माओंका भी विरोध करते थे। अनजानेमें भी उनका कोई फोटो ले ले तो उसको नष्ट करवा देते थे। उच्छिष्ट तो कभी किसीको देते ही क्या! सेठजीके आक्षेपात्मक प्रश्नोंके उत्तरमें माँने कहा- 'पिताजी! आजकल फोटो तो कुत्तोंको भी लेते फिरते हैं और उच्छिष्ट तो जैसे-तैसे खाते ही रहते हैं। इसमें क्या महत्त्व रखा है? बीचमें ही मैं बोल पड़ा कि सेठजी आप जैसे सत्पुरुषके लिए इस तरह आक्षेप करना और दोष-दर्शन करना क्या उचित है? गुण-दोषकी दृष्टि तो संसार-दृष्टि ही है। इसके बाद सेठजी चुप हो गये। वे देश, कालके अच्छे ज्ञाता थे और दूसरेकी बातमें कोई सार हो तो ग्रहण कर लेते थे।

जिन दिनों गीता प्रेसके अधिकारियोंने, जिनमें सेठजी, भाईजी, घनश्यामदासजी प्रमुख थे, यह निश्चय किया कि हिन्दी टीकासहित पूरा महाभारत प्रकाशित किया जायेगा, उन दिनों मैं कानपुरमें गंगाकुटीमें रह रहा था। भागवतका मेरा अनुवाद लोगोंको बहुत पसन्द आया था। इसलिए उन लोगोंने निश्चय किया कि मुझसे ही पूरे महाभारतका अनुवाद कराया जाय। सेठजी, भाईजी, गोस्वामी चिम्मन लालजी, श्रीरामसुखदासजी, घनश्यामजी जालान सभी धुरन्धर कानपुर पधारे। सेठजीने आग्रह किया कि आप महाभारतका अनुवाद कर दीजिये! मैंने कहा कि अब मुझसे इतना विस्तृत कार्य नहीं हो सकेगा।

सेठजीने कहा कि हम दस लाख रुपया बैंकमें रख देंगे। आप अपने साथ पण्डित रख लीजिये और आपकी जहाँ इच्छा हो, गंगातटपर रहिये। एक अन्न-क्षेत्र खोल देते हैं, उसमें महात्मालोग भोजन करते रहें और यह काम कर दीजिये। परन्तु उस समय मेरी रुचि इस काममें नहीं हुई और मैंने साफ-साफ इन्कार कर दिया।

कानपुरसे मुझे वृन्दावन लौटना था। सेठजी, स्वामी रामसुखदासजी, घनश्यामदास जालान और मैं रेलगाड़ीके एक-ही डिब्बमें बैठे। रास्तेमें बीच-बीचमें सत्संगकी चर्चा भी हो जाया करती थी। 'ज्ञानी कैसा होता है?' यह प्रसंग था। स्वामीजीने गीताके लक्षण बताये। घनश्यामदासजीने ज्ञानीके निर्दोष होनेका वर्णन किया। मैंने कहा कि अभी तक आप लोगोंके ज्ञानीका अन्त:करण छूटा नहीं

है। घनश्यामदासजी चौंके। सेठजी हँसने लगे। वे बोले-'इनकी दृष्टि सूक्ष्म है।' सेठजी ज्ञानीकी स्थितिको अनिर्वचनीय कहा करते थे। उनका आग्रह था कि ज्ञानी का चरित्र आदर्श होना चाहिए, उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्धमें उनका अनुभव बहुत गम्भीर था। वे सब कुछ ठीक-ठीक समझते थे; परन्तु लोगोंके लिए जो हितकारी हो, वही मानते और कहते थे।

सेठजी मुझे कितना अपना समझते थे और कितना आदर देते थे, इसके सम्बन्ध में मैं दो घटनाओंका उल्लेख करना चाहता हूँ। इनमें-से-कौन-सी घटना पहले और कौन पीछे है, इसका स्मरण मुझे नहीं है।

उन दिनों मैं कलकत्तामें स्व० श्री लक्ष्मणप्रसाद पोद्दारके यहाँ इजराइल स्ट्रीटमें ठहरा हुआ था। श्रीमद्भागवतकी कथा होती थी। श्रीसीताराम सेक्सरिया, श्रीबद्रीप्रसाद, श्रीईश्वरीप्रसाद गोयन्दका, श्रीभगीरथ कनोडिया कभी-कभी आया करते थे। सेठजीका सत्संग भी गोविन्द-भवनमें होता था। एक दिन मेरे पास हीरालालजी गोयन्दका आये। उन्होंने आग्रह किया कि आप मेरे घर चलें। मैंने सोचा कि उनके काण्डको बीस-पचीस वर्ष बीत चुके हैं, जानेमें कोई हानि नहीं है, स्वीकार कर लिया। जब इसका समाचार सेठजीको मिला तब वे अपने सत्संग-मण्डल सहित मेरे पास आये और उन्होंने कहा कि हीरालालके घर जाना ठीक नहीं है। आप यदि जायेंगे तो उन्हें अनुचित महत्त्व मिलेगा और मुझे दुःख होगा। सेठजीकी बात माननेमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। मैं हीरालाल के घर नहीं गया। सेठजी यदि मुझे अपना और आदरके योग्य नहीं समझते तो मुझे रोकनेके लिए नहीं आते। यह उनके सद्भावका ही एक प्रतीक है।

दैवी सम्पद् महामण्डलके मुखपत्रके रूपमें 'परमार्थ'का प्रकाशन किया गया था। महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीशुकदेवानन्दजी एवं श्रीभजनानन्दजी महाराजके प्रेमपूर्ण अनुरोधपर मैंने स्वीकार कर लिया था कि सम्पादकके रूपमें मेरा नाम छपे। सम्भवतः एक अंकपर मेरा नाम छपा। जब सेठजीको यह बात मालूम पड़ी तो फल-फूल, सत्संग-मंडली, कल्याणके मैनेजर श्रीबजरंगलाल चाँदगोठियाके साथ मेरे पास आये। उन्होंने कहा कि यदि आपका नाम सम्पादकके स्थानपर छपता है, तो पहले कल्याणमें छपेगा। मैंने कहा कि मेरे मनमें सम्पादक बननेकी कोई वासना नहीं है। सेठजी बोले कि आप अभी पत्र लिखिये कि 'परमार्थ'के सम्पादकके रूपमें मेरा नाम न छापा जाय। मेरे मनमे सेठजीके प्रति बहुत आदर था। मैंने उनकी बात मान ली कि ठीक है। परन्तु उन्होंने मुझपर विश्वास नहीं किया। बोले कि लिखकर पत्र हमें दे दो, पोस्ट हम करवायेंगे। मैंने पत्र लिखकर

उन्हें दे दिया और मैं 'परमार्थ'के सम्पादकत्वसे बच गया। वैसे स्वामी श्रीसदानन्दजी मुझसे बहुत प्रेम करते हैं और पूरा-का-पूरा नारद-भक्ति-दर्शन, उन्होंने विशेषांकके रूपमें प्रकाशित कर दिया। ब्रह्मचर्याङ्कमें भी बहुत-से लेख प्रकाशित किये।

सेठजी स्त्री-दीक्षाका कड़ा विरोध करते थे। एक बार वृन्दावनमें बाबा हितदासजीसे इस सम्बन्धमें कुछ वाद-विवाद हो गया। शास्त्रार्थकी ठनी। बाबा हितदासजी मेरे पास आये और कहा कि शास्त्रोंमें स्त्री-दीक्षाका विधान कहाँ-कहाँ है? मैंने उनको अनेक स्थल बता दिये। यह समाचार श्रीसेठजीको मिल गया। मिला या नहीं मिला यह तो मुझे मालूम नहीं, परन्तु रात्रिमें नौ बजेके लगभग सेठजी, स्वामी श्रीरामसुखदासजी और एक-दो दूसरे सज्जन मेरे पास आये और कहा कि शास्त्रोंमें स्त्री-दीक्षाका निषेध कहाँ-कहाँ है, वह बतला दीजिये। मैंने ऐसे अनेक स्थल बतलाये। सेठजीके अनुरोधसे मैंने रातमें पुस्तकालय खुलवाया, अनेक ग्रन्थ निकलवाये और दिखाये। सेठजीको सन्तोष हो गया। परन्तु, लोगोंके बीच-बचावके कारण दूसरे दिन शास्त्रार्थ नहीं हुआ। मैं अपनी बुद्धिपर तरस खा रहा था और सेठजीके भिन्न-भिन्न प्रसंगोंको कई बार याद कर रहा था। वे कहा करते थे-

एक रकम सेती यह काम ठीक है।

दूसरी रकम सेती यह ठीक नहीं है।

वे अनिर्वचनीयताके पक्के समर्थक थे।

सेठजी अपने नियमके बड़े पक्के थे। तीर्थयात्रा स्पेशल-ट्रेनमें उनके साथ लगभग तीन महीने रहना हुआ परन्तु उनके सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जपमें कोई अन्तर नहीं आया। उन्होंने बताया-५० वर्षसे मेरे सन्ध्या-वन्दनमें कभी कोई बाधा नहीं पड़ी है। जहाँ जल नहीं मिलता था, वहाँ मैंने बालूसे ही अर्घ्य दे दिया। मैंने पूछा-'सेठजी बालूसे अर्घ्य देनेका विधान तो कहीं नहीं है। इस पर बोले कि मृत्तिका कोई भी कण जलसे रहित नहीं होता। अतः साक्षात् जल उपलब्ध न होनेपर बालुकासे अर्घ्य दिया जा सकता है। है न, सूझ बूझकी बात!

तीर्थयात्रा-ट्रेन, भावनगर गयी थी। वहाँका राजमहल देखनेके लिए लोगोंने आमन्त्रित किया। सेठजी दल-बल सहित वहाँ पधारे। जलपानका अच्छा प्रबन्ध था। वहाँके अधिकारियोंने बहुत-बहुत आग्रह किया। परन्तु, सेठजीने स्वीकार नहीं किया। अधिकारियोंने कहा-'अच्छा जल ही पी लीजिये!' वे लोग बार-बार आग्रह करते। सेठजी बार-बार कहते 'हमलोग भोजन करके आये हैं, भूख नहीं

है।' ट्रेनमें लौटनेपर मैंने पूछा कि सेठजी, वे लोग पानी पीनेका आग्रह करते थे और आप कहते थे कि भूख नहीं है। यह तो ऐसा था कि प्रश्न कुछ, उत्तर कुछ। सेठजी बोले कि प्यास तो लगी थी। कैसे कहता कि प्यास नहीं है, झूठ न बोलना पड़े इसलिए कह रहा था कि भूख नहीं लगी है। अपने आचारके पालनके लिए कभी-कभी ऐसा भी करना पड़ता था।

स्पेशल-ट्रेनकी यात्रामें कहीं-कहीं रेलवे कर्मचारी सताते भी थे। पानी बन्द कर देते, कहते आगे रास्ता नहीं मिल रहा है। यह निश्चय हो गया कि इन लोगोंको कुछ दिये बिना काम नहीं चल सकता। कानून-कायदा दिखानेसे या अधिकारियोंको 'तार' देनेसे कोई काम नहीं बन पाता। जब यह समस्या सेठजीके सामने रखी गयी कि रिश्वत या घूस देना तो आपके नियमोंके विरुद्ध है, क्या किया जाय? सेठजीने निर्णय दिया कि अपना काम जब कोई करता है, तो उसको पुरस्कार दिया जाता है। इन कर्मचारियोंको 'अग्रिम पुरस्कार' दो! बस, काम निकल गया। व्यावहारिक निपुणता तो उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी।

सेठजीका राजस्थानमें स्वामी बरवन्नाथजी, उत्तमनाथजी, मुक्तिनाथजी आदि के साथ साक्षात् अथवा परम्परा या सत्संगका सम्बन्ध था। परन्तु स्वामी मंगलनाथजी महाराजसे तो उन्होंने वेदान्तका विधिवत् अध्ययन किया था। मधुसूदनी गीता उन्होंने नाथजीसे पढ़ी थी। वे पञ्चपादिका, विवरणके सिद्धान्तोंका आश्रय लेकर लोक-प्रचलित आभासवाद एवं अवच्छेवादका खण्डन कर दिया करते थे। साधारणत: छोटे-मोटे वेदान्तियोंको विवरण-प्रस्थानकी जानकारी नहीं होती, अत: वे सेठजीका विरोध करने लगते थे। इसपर सेठजी हँसते भी थे, समझाते भी थे। परन्तु, यह बात नहीं बताते थे कि वे कैसे वेदान्तकी ही बात कर रहे हैं। उदाहरणार्थ-'कर्मयोगका फल विविदिषा अर्थात् जिज्ञासाकी उत्पत्ति है अथवा ज्ञानकी उत्पत्ति है। इस विषयमें वे विवरणका मत लेकर ज्ञानका ही प्रतिपादन करते थे। परन्तु, भामती-प्रस्थानवाले विवरण न जाननेके कारण सेठजीका विरोध किया करते थे। इस सम्बन्धमें हमारी बात श्रीकरपात्रीजी महाराजसे हुई थी, सेठजीका मत शास्त्रके विरुद्ध नहीं था।'

ध्याननिष्ठ श्रीझगरूसिंहजी कानूनगो

भजनकी गहराई—

मैं पास ही खड़ा था। वे मेरी आँखोंके सामने ही घोड़ेपरसे गिर पड़े। एक क्षणका भी विलम्ब न हुआ—उठे, घोड़ेपर बैठ गये। घोड़ा सधा हुआ था। लगभग दो मील दूर, उन्हें निवास-स्थान पर ले गया। बेसुध-देहको चपरासियोंने घोड़ेपरसे उतारा और पलंगपर लिटा दिया। मेरे मनमें चिन्ता थी। मैं खा-पीकर उनके निवास-स्थानपर गया। वे तीन-चार घण्टेसे बेसुध पड़े थे। बीच-बीचमें उनका शरीर पलंगसे ऊपरकी ओर दो फुटतक उछल जाता और उनके मुँहसे एक गम्भीर ध्वनि निकलती—'हरि ओम् तत्सत्'। यह क्रिया हर ५-१० मिनटमें एक बार होती थी। मैं २-३ घण्टेतक वहाँ बैठकर यह देखता रहा। चोट लगनेके ६ घण्टे बाद सकलडीहासे डॉक्टर आये। इंजेक्शन लगाया। थोड़ी देर बाद होश आया और उन्होंने हाथ जोड़कर मुझे प्रणाम किया, बोले, 'पण्डितजी, आप कब आये?' उस मूर्च्छित अवस्थामें अनजानमें 'हरि ओम् तत्सत्'की ध्वनि निकलना उनके जीवनमें गम्भीर चिन्तन एवं ध्यानका परिचायक था।

परिचय—

उनका जन्म आजमगढ़ जिलेके ललमेउआ-मेहनाजपुर नामक एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। अन्य सम्बन्धियोंके नाम मुझे भूल गये। उनके पुत्रका नाम चन्द्रशेखर सिंह है। वे मेरे शिष्य हैं और चुर्क सीमेण्ट फैक्ट्री, उ० प्र० में काम करते हैं। कानूनगो साहब झगरू सिंह, वाराणसी जिला, चन्दौली तहसीलके अन्तर्गत महाइच परगनेमें नियुक्त थे। मेरी जन्मभूमि उसी हलकेमें पड़ती है, सन् १९३१ की जनगणनामें सत्याग्रहियोंने घर-घरपर लिखे हुए नम्बर मिटा दिये थे। मेरे घरका नम्बर भी मिटा दिया गया था। उसीकी जाँच करनेके लिए वे आये थे। मैंने स्पष्ट कह दिया था कि नम्बर मिटानेवालोंको मैं जानता हूँ। परन्तु, मैं किसी भी दशामें उनका नाम नहीं बताऊँगा। इस धृष्टतापर मुझे ग्रामके मुख्य पदसे मुक्त कर दिया था। उसी जाँचके अवसरपर वे घोड़े परसे गिरे थे।

विनम्रता—

वैसे कानूनगो साहबके साथ मेरा परिचय कुछ वर्ष पहले ही हो गया था। मैं आवाजापुर गाँवमें अपनी वंश-परम्पराके शिष्य ठाकुर भगवान सिंहकी बैठकमें बैठा था, उनके परिवारके एवं दूसरे लोग नीचे बैठे हुए थे। क्योंकि मै गुरु था, इसलिए वे लोग मेरे बराबर नहीं बैठते थे, उसी समय कानूनगो साहब आये। प्रणाम करके वे भी नीचे बैठे। लोगोंने आग्रह किया—'आप ऊपर बैठ जाइये।' परन्तु, वे न माने। सत्संगकी चर्चा होती रही। मुझे जहाँतक स्मरण है, प्रसंग यह था कि मनुष्यके शरीरपर ग्रहोंका क्यों प्रभाव पड़ता है ? हमारे पिता, पितामह, बड़े-बड़े ज्योतिषी थे। मैं भी उनकी पद्धतिसे ज्योतिषका प्रतिपादन करता था। उन्हीं दिनों मेरे मार्केशकी दशा चल रही थी। सत्संगके प्रसंगमें मैंने बताया कि अच्छे-अच्छे महात्माओंने मुझे यह बताया है कि हम मृत्युको तो दूर नहीं कर सकते। परन्तु, मृत्युका भय दूर कर सकते हैं। आत्मा अजर-अमर है। उसे मृत्यु कभी स्पर्श नहीं कर सकता। मृत्यु शारीरिक है, भय मानसिक है। ज्ञानके द्वारा भय दूर हो सकता है। साधक भाव, बाधक भाव, समान सत्तामें ही होता है। यह बात कानूनगो साहबको बहुत अच्छी लगी। विनय एवं मुस्कानके साथ उन्होंने प्रणाम किया। मैंने कहा, 'मिलेंगे।'

त्यागकी भावना—

मेरे पितामहकी मृत्युके अनन्तर उनकी जमीनपर मेरा नाम चढ़ गया था। परन्तु भूलसे कुछ जमीनपर नाम नहीं हो सकता था। पटवारीने कहा कि कानूनगो साहबको अधिकार है, वे कर देंगे। वही मुझे उनके पास ले गया। स्वागत-सत्कारके पश्चात् उन्होंने मेरा काम कर दिया। पटवारीका कहना था कि ऐसे अवसरपर कानूनगोको कुछ पुरस्कृत करनेकी प्रथा है। मैंने पाँच रुपये उन्हें दिये। आग्रह करनेपर संकोचके साथ उन्होंने स्वीकार कर लिये और अपने मनमें यह निश्चय कर लिया कि यह अन्तिम लेना है। अब कभी किसीसे कुछ ग्रहण नहीं करूँगा। उन्हीं रुपयोंसे उन्होंने मेरे नामसे 'कल्याण' मँगा दिया। अब हमारा उनके पास जाना-आना, सत्संग प्रारम्भ हो गया।

श्रीजगदीशानन्द गिरि—

कानूनगो साहबके पास कभी-कभी एक संन्यासी आया करते थे। उनका नाम था, स्वामी श्रीजगदीशानन्द गिरि। वे अपने जीवनकी एक घटना सुनाया करते थे। उनका कहना था कि वे लाहौरके मेडिकल कॉलेजमें पढ़ते थे। वैराग्यका उदय होनेपर गुरुकी खोजमें उन्होंने सारे भारतवर्षकीयात्रा की। परन्तु, कहीं श्रद्धा

नहीं हुई। एक दिन आत्महत्याका संकल्प करके जब ये छतसे कूदनेको तत्पर हुए तो नीचेसे आवाज आयी, 'ठहरो, मैं आ रहा हूँ', नीचेसे एक महात्मा काषाय-वस्त्र धारण किये हुए ऊपर चढ़ आये। उन्होंने कहा, 'मरनेसे न गुरु मिलता है, न जन्म-मरणकी परम्परा छूटती है। तुम्हारे गुरु हिमालयमें आदि बद्रीनाथसे कुछ दूर एक गुफामें समाधिस्थ बैठे हैं। तुम जाकर उनसे मिलो।' इतना कहकर वे चले गये और इन्होंने हिमालय-यात्रा की।

स्वामी जगदीशानन्दजी कहते थे कि वे ठीक स्थानपर पहुँच गये। वहाँ एक झील थी, गुफाएँ थीं, कोई मनुष्य नहीं मिला। मैं जब भूख-प्याससे छटपटाने लगा, तब एक महात्मा मेरे पास आये और बोले कि तुम्हारे गुरुजीकी समाधि टूटनेमें अभी छह महीनेका विलम्ब है। प्रतीक्षा करो, तब मिलेंगे। मैंने कहा, 'इतने दिनोंतक मैं खाऊँगा क्या ?' फिर महात्माने एक बड़ा-सा कटोरा दिया। जिसमें समयपर बढ़िया भोजनकी सामग्री आ जाया करती थी। इस प्रकार कुछ दिन बड़े आनन्दसे बीत गये।

स्वामीजी कहते थे, 'इस चमत्कारसे मुझे आश्चर्य हुआ ही, एक अपूर्व वासना भी मनमें उठ खड़ी हुई। वह यह कि कटोरा लोगोंको दिखा-दिखाकर लोगोंको श्रद्धालु एवं भगवद्-भक्त बनाऊँगा। मैं आदि बद्रीसे लौट पड़ा। कटोरा गिरकर फूट गया। पुनः प्रयत्न करनेपर भी कोई फल न निकला। मैं तबसे कुछ विक्षिप्त-सा रहता हूँ और भोजनकी वासना तीव्र हो गयी है।' स्वामी जगदीशानन्दजी हमारे घरपर भी आते थे और अपनी पसन्दका भोजन बनवाकर खाया करते थे।

स्वामीजीके मिलनेसे एक लाभ यह हुआ कि उन्होंने कानूनगो साहबको एक अंग्रेजी पुस्तक दी। वह एफ. ए. अॅलेक्जेण्डरकी लिखी हुई हैं—'In the Hours of Meditation.' अंग्रेजी नाम है। कानूनगो साहब वह पुस्तक अंग्रेजीसे अनुवाद करके हिन्दीमें मुझे सुनाया करते थे। वह मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैंने उसे हिन्दीमें लिख लिया और उसका अधिकांश बार-बार पढ़नेसे कण्ठस्थ हो गया। वह पुस्तक क्या थी, विषादमें प्रसादका सञ्चार करती थी। निराश, उदासके—हृदयमें आशा तथा उत्साह भरती थी। उसके कुछ वाक्य उद्धृत करनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता :

१. मनुष्यके जीवनमें एक ऐसा समय आता है जब वह प्रपञ्चको भूलकर अपने अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश कर जाता है, अर्थात् स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह स्थिति परमात्माके अत्यन्त सन्निकट है, क्योंकि वहाँ केवल

परमात्मा ही रहता है। इससे अधिक पवित्र समय और कोई नहीं होता। यह जाना नहीं, लौटना है।

२. तुम कोई किसीके प्रकाशमें लखनेवाली वस्तु नहीं हो। तुम वह महाप्रकाश हो, जिसमें सब प्रकाश समा जाते हैं। अपने व्यक्तिगत जीवनको परमात्माके शक्ति-समुद्रमें तरंगायित होने दो। प्रयत्न मत करो। हाथ-पाँव मत पीटो। तुम डूबोगे नहीं, तैर जाओगे।

३. प्रत्येक अवस्थामें, चाहे वह बाहरसे कितनी बुरी क्यों न हो, परमात्मा तुम्हारे साथ है। उदास या निराश होना मूर्खता है। पूरे उत्साहके साथ आगे बढ़ो। अपने लक्ष्यपर वैसे ही टूट पड़ो, जैसे बाज-पक्षी अपने शिकारपर झपट पड़ता है।

४. एक पगली छलांगमें ही तुम्हारे और तुम्हारे लक्ष्यके बीच जो अन्तर है, उसको मिटा दो। लक्ष्य तुम्हीं हो, कोई दूसरा नहीं। अपने स्वरूपमें जम जाओ। इधर-उधर झाँकनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

श्री योगानन्द पुरी—

मेरी जन्मभूमिसे ५-६ मील दूर गंगातटपर एक सहेपुर नामका ग्राम है। वहाँ स्वामी श्री योगानन्दजी पुरी महाराजकी कुटिया बनी हुई थी। गाँवके लोगोंने नियम बाँध लिया था—प्रत्येक घरसे प्रतिदिन भिक्षा आया करती थी। वे वहीं निवास करते थे। मनोरम उद्यान, बड़ा बाग, पास गंगाजी। कभी-कभी मचानपर भी रहते थे। भव्य-दिव्य शरीर, प्रसन्न-गम्भीर वाणी, वेदान्तका उत्तम ज्ञान एवं अपने सद्‌गुरु स्वामी श्रीनित्यानन्दजी पुरी महाराजकी अनन्य उपासना। वे कहा करते थे कि मेरे गुरुके चित्रपटमें-से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता प्रकट हो-होकर मुझे दर्शन दिया करते हैं। श्रीमद्भागवतपर अत्यन्त गम्भीर एवं हृदयग्राही प्रवचन भी किया करते थे। वे परमहंस रामकृष्णकी परम्परामें थे। मैंने उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी विधिपूर्वक क्रियावती दीक्षा ली थी और उन्होंने मुझपर शक्तिपात एवं अभिषेक अनुग्रह किया था। मेरे साथ कानूनगो—श्री झगरूसिंहजी जाने लगे। छुट्टियोंका दिन प्रायः सत्संगमें ही व्यतीत होता था।

कानूनगो साहबका शील-स्वभाव इतना मधुर था—उनके प्रत्येक व्यवहारसे इतना सौम्य सौजन्य छलकता था कि उनके सम्पर्कमें आकर लोग उनके भक्त बन जाते थे। स्वामी योगानन्दजीने भी उनको बहुत पसन्द किया और आज्ञा की, 'तुम क्षत्रिय वंशमें पैदा हुए हो, अबतक तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है। तुम व्रात्यीय प्रायश्चित्त करवाकर यज्ञोपवीत ग्रहण करो।' उन्होंने आज्ञा मान ली। मेरे घरपर ही यज्ञोपवीत संस्कारका आयोजन हुआ। सैकड़ों लोग

इकट्ठे हुए। गोदानके पश्चात् संस्कार सम्पन्न हुआ। मुझसे उन्होंने गायत्री मन्त्रकी दीक्षा ली थी। तबसे वे आजीवन प्रतिदिन दो समयका सन्ध्या-वन्दन और गायत्री-जप निष्ठापूर्वक करते रहे।

व्यवहारमें परिवर्तन—

कानूनगो साहबके व्यवहारमें इतना परिवर्तन हो गया कि साधारणतः लोग सोच भी नहीं सकते। प्रत्येक पटवारी उन्हें हर महीनें दो रुपये दिया करता था। वह लेना उन्होंने बन्द कर दिया। जो जमींदारों और किसानोंसे समय-समयपर उनका काम कर देनेसे ऊपरकी आमदनी होती थी, वह भी सर्वथा छोड़ दी। घोड़ा बेचकर साइकिल खरीद ली। रसोइयेको भी छोड़ दिया। नौकर सब सामान तैयार कर देता। अपने हाथों भोजन पका लेते थे। कभी-कभी उनकी पत्नी जब साथ रहतीं, तो वे भोजन बनाया करती थीं। अपने विशेष सम्बन्धियों और मेरे घरके सिवाय कहीं और भोजन नहीं करते थे। भोजन भी केवल उन्नीस ग्रास करते थे। सरकारी कानूनके अनुसार वे रातके समय अपने क्षेत्र महाइच परगनेके बाहर नहीं रहते थे। सरकारी कामसे जाना होता तो दूसरी बात थी। उनके सम्पर्कसे बहुत-से पटवारियोंमें भी भक्ति-भाव एवं सदाचारका सञ्चार हुआ। बभनियाँवके श्री रघुवंशलालजी बादमें संन्यासी हो गये। नीरापुरके श्रीचन्द्रशेखरलालकी जपनिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि गाढ़ निद्रामें उनकी श्वासध्वनिके साथ स्पष्ट रूपसे 'ॐ नमः शिवाय'का उच्चारण होता और उसे सब लोग सुन सकते थे। स्वयं मैंने भी सुना था।

मोकलपुरके बाबा—

मेरी जन्मभूमिसे आठ-नौ मील दूर एक बलुआ नामका ग्राम आता है। वहाँ गंगाजीकी धारा मीलों तक पश्चिम-वाहिनीके रूपमें प्रवाहित होती है। वहाँसे गंगा पार करके तीन-चार मील चलनेपर एक मोकलपुर गाँव मिलता है। वहाँ एक महात्मा रहते थे। श्रीगोपीनाथ कविराजकी जीवनीमें उनका नाम 'टोरीवाले बाबा' लिखा है। हम उन्हें 'मोकलपुरके बाबा' कहा करते थे। वस्तुतः वे सिद्ध पुरुष थे और उनका अनुभव पूर्ण था। उनके लिए गंगाजीने अपने बीचमें एक स्थान दिया था—जिसके चारों ओर गंगाजीकी धारा बहती थी एवं मध्यमें वह टीला था। हम लोग कभी-कभी उनका दर्शन करने जाया करते थे। वे कहते थे कि चालीस वर्षसे मैं यहाँ (गंगाजीके पेटमें) रह रहा हूँ, परन्तु परमार्थकी जिज्ञासासे कोई नहीं आया। अब तुम लोग तीन व्यक्ति आने लगे हो। उन तीनोंमें, मैं, झगरूसिंह कानूनगो और सुदर्शनसिंह 'चक्र'की गणना थी, बाबा कभी-कभी कहा करते थे

कि घाससे मांस बनता है, अर्थात् जौ, गेहूँ, फल-फूल आदि वनस्पतियोंसे प्राणियोंका शरीर बनता है। मांस मिट्टीसे एक होकर घास हो जाता है। मांस और घास दोनों गंगा मैयाकी गोदमें बनते रहते हैं और बाँगड़ (परमात्मा) निर्निमेष देखता रहता है। उसका कुछ बनने-बिगड़नेसे सम्बन्ध नहीं है। वे शरीरमें ही पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति दिखा दिया करते थे। एक बार उन्होंने हम लोगोंको उपदेश किया था कि सत्यका अनुभव कर्म-साध्य नहीं है। बिना कुछ किये इतना हो गया है, तो कुछ करनेपर इससे छुट्टी कैसे होगी? 'बाबा निग्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ थे, उनमें सिद्धियाँ भी बहुत थीं, परन्तु कानूनगो साहबकी सिद्धियोंमें रुचि नहीं थी। वे शुद्ध-रूपसे परमात्माके साक्षात्कारके लिए ही उत्कण्ठित थे। हम लोग रविवार के दिन प्रातःकाल उठते ही चौदह मीलके लगभग बाबाके पास जाते, सत्संग करते और सायंकाल, रात तक लौटकर घर आ जाया करते थे। यह क्रम बहुत दिनोंतक चलता रहा। दो बार मोकलपुरके बाबा नावपर हमारे गाँव आये, कानूनगो साहबने उनकी सारी व्यवस्था और सेवा का प्रबन्ध किया। हजारोंकी भीड़ होती, लोग अपना दुःख-दर्द दूर करनेके लिए आशीर्वाद लेते, बाबाका कहना था कि सब-में-सब है। प्रकृतिकी अनन्त शक्तियाँ एक तृणमें भी होती हैं, संकल्पसे वे जग जाती हैं। उनका यह भी कहना था कि ब्रह्माकी और मच्छरकी आत्मा एक ही है। भेद सर्वथा मिथ्या है।

बाबा गुलाबचन्दजी—

वाराणसीमें चेतगंज म्युनिसिपॉलिटी-ऑफिसके पास एक बाबा गुलाबचन्दजी रहते थे। वे मूलतः अघोर-पंथके थे। उनकी सिद्धियाँ बहुत प्रसिद्ध थीं। एक मुसलमान नौजवानको तो उन्होंने मृत्युके अनन्तर जीवित कर दिया था। वह कब्रमें गाड़ दिया गया था। बाबाने इस शर्तपर कब्र खुदवाई कि यदि वह जीवित न होगा, तो मुझको भी कब्रमें गाड़ देना। वह जीवित निकला। मुझे मालूम नहीं है कि वह अभी है या नहीं, परन्तु बाबाके पश्चात् वही उनके आश्रमको सम्भालने लगा था। बाबा एक 'आवाजेखल्क' नामकी पत्रिका भी, फारसी भाषामें निकालते थे। उनकी सूझ-बूझ, उक्ति-युक्ति विलक्षण थी। उनके पास मुन्शी भगवतीलाल, मुन्शी रघुवंशलाल एवं ठाकुर रामवृक्ष सिंह जाया करते थे। कानूनगो साहबको भी वे लोग ले गये। मैं भी गया। वे पत्थरकी एक पटियापर बैठा करते थे, और लोग नीचे बैठते। जबतक हमलोग बैठते, उनकी सामान्य चेष्टा शास्त्रके विरुद्ध नहीं होती थी। वे राम-नामकी महिमा सुनाया करते थे। अवतार रामकी अपेक्षा घट-घट-वासी रामकी चर्चा अधिक करते। अन्तर्मुख होनेके लिए वे कान और आँख, दोनोंको बन्द करनेकी विधि सिखाते थे। सचमुच, उस विधिसे

बैठनेपर मन शान्त हो जाता। उन्होंने अपने १०८ भक्तोंके मनोभावका चित्रण करनेके लिए प्रत्येकके प्रति एक-एक भजन लिखा था। एक भजन कानूनगो झगरूसिंहके लिए भी था। भजन तो मुझे याद नहीं है, परन्तु उसमें जो झगरूसिंहजीके शील-स्वभाव, अन्तर्मुखता, विनय आदि सद्गुणोंका वर्णन था, वह एक आदर्शके रूपमें था। सचमुच उनकी चित्तकी शान्तिका, सौजन्यका स्मरण आनेपर अब भी चित्त गद्गद हो जाता है।

मधईपुरके बाबा—

वाराणसीके पास एक शिवपुर उपनगर है। काशीकी परिक्रमा तीसरे दिन वहाँ रुका करती है। वहाँसे कोई तीन मील दूर एक मधईपुर ग्राम पड़ता है। वहाँ एक महात्मा रहा करते थे। उनका नाम था, रामप्रताप 'अविनाशी।' काले कम्बलकी लंगोटी पहना करते थे। श्रीझगरूसिंहजीकी उनपर पूर्ण श्रद्धा हो गयी थी। मधईपुरके बाबाने ही उन्हें ध्यानविधिका उपदेश किया और उनका ध्यान घण्टोंतक स्थित रहा करता था। वह ध्यान क्या था—परमात्माके चिन्तनकी एक धारा। उस ध्यानमें बहिर्दृष्टि तो थी ही नहीं, अन्तर्दृष्टिमें भी वृत्तिकी स्थिरता नहीं थी। वृत्तिका प्रवाह बना रहता था। परन्तु उसका लक्ष्य एक था। प्रक्रिया चाहे अवस्थात्रयकी हो, चाहे पंचकोषकी हो या त्रिवृत्तकरणकी हो—आत्मा प्रकृति, प्राकृतसे असंग है, इस दृष्टिसे विवेक किया जाता था। बाबाका कहना था कि संसारके विषयोंसे निवृत्त करके मनको आत्माकी ओर आकृष्ट करनेके लिए यौगिक निरोधकी प्रक्रिया उपयुक्त है। परन्तु परमात्माके साक्षात्कारके लिए वह पर्याप्त उपयोगी नहीं है। सगुण परमात्माके दर्शनके लिए प्रेमपूर्वक भगवदाकार-वृत्ति चाहिए और निर्गुण तत्त्वके साक्षात्कारके लिए ब्रह्माकार वृत्ति चाहिए। भक्ति एवं वेदान्त वृत्ति-सिद्धान्त हैं, निरोध-सिद्धान्त नहीं। बाबाका कहना था कि मनुष्यके शरीरमें जितने मोड़ हैं, वे सब रेफके समान हैं और जितने श्वेत अस्थिखण्ड हैं, वे शिवके समान हैं। शरीरमें भी दिव्यता ही है—इसकी अदिव्यताका चिन्तन करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। दोष-चिन्तन केवल मोहकी निवृत्तिके लिए है।

मधईपुरके बाबाका जीवन भी विलक्षण था। मधईपुरके ही एक पवित्र ब्राह्मण-वंशमें उनका जन्म हुआ था। सोलह-सत्रह वर्षकी उम्रतक कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे। भोजनके समय नमक माँगने पर, भाभीने व्यंग्य कर दिया, 'कमाकर लाओ, फिर माँगो। निकम्मेको कुछ माँगनेका हक नहीं।' भाभीकी बात चुभ गयी। चुपचाप वे घरसे निकल पड़े और बम्बई पहुँच गये। वहाँ तीन

दिन भूखे रहनेके बाद, रातके समय एक साधुने मिठाइयाँ दी और कह दिया कि कल तुम्हें काम मिल जायेगा, सम्पदा भी मिलेगी, लेकिन उसे अपनी मत समझना। बाबा हलवाईकी दूकान पर खानेवालोंको पानी पिलाने लगे। हलवाई इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपनी सारी सम्पत्ति बाबाको दे दी। थोड़े-ही दिनोंमें उसकी मृत्यु हो गयी। बाबा लाखोंके स्वामी हो गये। अब उनके मनमें भाभीको रुपये भेजनेका संकल्प हुआ। बीमार पड़े—मरणासन्न हो गये। फिर वही महात्मा उनके पास आया और तीन दिनके भीतर सब दान करा दिया और बाबाको लेकर कटनीके पास किसी पहाड़ी गुफामें आ गया। वहाँ ११ वर्ष तक गुफामें बन्द रखकर साधना करवायी, जिसमें सूर्यका दर्शन नहीं था। उस महात्माने ही उनके मल-मूत्र विसर्जन, स्नान, भिक्षा आदिकी व्यवस्था अपने जिम्मे ले रखी थी। बादमें उस महात्माने उन्हें मुक्त कर दिया और वे पुन: अपने गाँवमें ही आकर बाहर एक कुटियामें रहने लगे थे। इस तरह दस बजे दिनमें एक-दो फुल्के खाकर वे कुटीका द्वार बन्द कर लेते एवं पुन: ६ बजे प्रात:काल खोलते थे। बीचमें न खाते-पीते थे, न किसीसे मिलते-जुलते थे। मैं और कानूनगो साहब, काशीसे यथासम्भव वाहनके द्वारा शिवपुर पहुँचकर, फिर पैदल ही उनके पास जाया करते थे। ६ बजेसे १० बजे तक वहाँ रहते थे। महीनेमें एक दिन तो उनके पास जाना हो ही जाता था। उनके उपदेशकी शैली ऐसी थी कि विषयोंकी प्रधानतासे वे निरूपण नहीं करते थे। आत्म-प्रकाश, बुद्धि-वृत्तिके द्वारा किस प्रकार विषयोंको प्रकाशित करता है, यह बतलाया करते थे। आत्म-चैतन्य ही देश, काल एवं वस्तुओंको प्रकाशित करता है। चिन्तनमें विषयकी उत्पत्तिका क्रम नहीं चाहिए, भानका क्रम ही जिज्ञासुके लिए अधिक उपयोगी है। किसी अज्ञातसे सृष्टि हुई, यह तो अज्ञानकी स्वीकृति है। ज्ञानसे सृष्टि प्रकाशित होती है, यह अपरोक्ष है। इसलिए स्वयं-प्रकाश, सर्वावभासक, भानस्वरूप आत्माका चिन्तन ही सरल मार्ग है। कानूनगो साहब ठा० झगरूसिंहजीके हृदयमें यह उपदेश पूरी तरह बैठ गया था और वे आजीवन यही चिन्तन करते रहे। बाबाने जीवनमें दोषों एवं दुर्गुणोंसे बचनेके लिए कई युक्तियाँ भी बतायी थीं—उनकी चर्चा बाबाके जीवन-प्रसंगमें बतायेंगे।

मुझे सन्-सम्वत्की तो ठीक-ठीक स्मृति नहीं है, परन्तु उस वर्ष बनारस जिलेका कांग्रेस राजनीतिक सम्मेलन कमालपुरमें होना था। मैं उस सम्मेलनका कोषाध्यक्ष था। इसलिए हर मीटिंगमें जाना होता था। उसी मीटिंगमें भाई

सुदर्शनसिंह 'चक्र' एवं श्रीनन्दकिशोर तिवारीसे भेंट हो गयी। दोनोंको मैं अपने घर ले आया। मित्रता हो गयी और कानूनगो साहबसे मिलना भी हुआ। इन दोनोंका शील-स्वभाव, कानूनगो साहबको बहुत भाया, जो कि सचमुच बहुत उचित स्थानपर था और मुझे भी बहुत पसन्द था। 'चक्र'जी अधिकांश बरसोंतक मेरे घरपर ही रह गये और घण्टोंतक एकान्तमें बैठकर भगवान्‌का ध्यान करते थे। मेरे घरपर गोष्ठी जुड़ने लगी। प्रात:काल धानापुरसे कानूनगो साहब, स्वामी गणेशानन्दजी 'अवधूत' आ जाते। 'चक्र'जी तो वहाँ होते ही। गीताकी भिन्न-भिन्न टीकाओंको लेकर बैठ जाते, उनके अर्थ एवं तात्पर्यपर विचार करते। मेरा संस्कृतका अभ्यास अच्छा था। मैं शब्दोंका नया-नया अर्थ कर देता। इससे कानूनगो साहबकी रुचि संस्कृतमें बढ़ी और उन्होंने केवल गीताके श्लोकोंसे ही व्याकरणके नियमोंका अच्छा धारण कर लिया। अब उन्हें संस्कृत समझनेमें कोई असुविधा नहीं होती थी। वेदान्तके ग्रन्थ भी पढ़ने लगे। उन्हीं दिनों गोयनका संस्कृत कॉलेजके प्राचार्य श्रीचण्डीप्रसाद शुक्लने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य'का हिन्दी अनुवाद किया था। कानूनगो साहबने दो-चार दिन पढ़कर उसे मेरे पास लौटा दिया। उनका कहना था, 'इस ग्रन्थमें उन प्रश्नोंका उत्तर दिया गया है जो हमारे मनमें कभी नहीं उठते। यह ग्रन्थ वाद-विवादके लिए उपयोगी है, जिज्ञासुओंके लिए नहीं।'

सौम्य-स्वभाव—

प्राय: प्रतिदिन में नौ-दस बजे दिनके लगभग, श्रीमद्भागवतकी कथा करता था, पहले दिनोंमें तो केवल मेरी माताजी ही श्रोता होती थीं और मैं वक्ता। उनकी आँखोंमें आँसू होते थे और आनन्दमें बैठी रहती थीं। बादमें 'चक्र'जी के आ जानेपर वे भी एक श्रोता हो गये। वे श्रीकृष्ण-चरित्र सुनकर बेसुध हो जाया करते थे और चार-चार, पाँच-पाँच घण्टोंतक उसी अवस्थामें पड़े रहते थे। स्वामी गणेशानन्दजी उनकी हँसी उड़ाते थे, क्योंकि वे घनघोर वेदान्ती थे। परन्तु कानूनगो साहब 'चक्र'जीकी मूर्च्छा और गणेशानन्दजीके उपहास, दोनोंमें ही सौम्य, शान्त, एकरस बैठे रहते थे। उनका ज्ञान और भक्तिमें कोई आग्रह नहीं था। परमात्माका चिन्तन ही उन्हें अभीष्ट था। मुझे याद है, एक बार मैंने 'तृणसे लेकर मूल प्रकृति पर्यन्त चंचलता भरपूर है, यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी चंचल हैं। रामकृष्ण आदि अवतार, सनक आदि परमर्षि, जो कुछ भी है, चंचल है, जो कोई भी है, चंचल है, ऐसा निरूपण किया। कानूनगो साबहने बहुत पसन्द किया। केवल आत्मा ही अचल है और सब

चंचल एवं मिथ्या ही है। उनका स्वभाव था, छोटे-मोटे गुणको भी बड़े आदर और विनयके साथ अंगीकार करते थे।

कानूनगो साहब झगरूसिंहजीकी मूर्ति-पूजा, व्रत एवं तीर्थ-यात्रामें कोई विशेष रुचि नहीं थी। विरोध भी नहीं था। इसका कारण यह था कि एक बार हमसे मिलनेके पहले वे अपने पदसे त्यागपत्र देकर हिमालयमें चले गये थे। वहाँ उन्हें तीर्थ-जीवी और ढोंगी साधुओंसे मिलना हुआ। ध्यान, ज्ञानकी चर्चा बहुत कम मिली, पुजारियोंका दृष्टिकोण भेंट-पूजातक ही सीमित था। अत: वे एक सप्ताहके भीतर ही लौट आये। उनके अफसरने त्यागपत्र रोक रखा था, आगे नहीं बढ़ाया था। लौट आनेपर उसने ही फाड़कर फेंक दिया। वे अपने पदपर फिरसे काम करने लगे। उनका स्वभाव था कि जिस पक्षमें उन्हें सत्य प्रतीत होता था, उसको स्वीकार कर लेते थे, उनकी ध्यानमें रुचि थी। बाहरके वेश अथवा आडम्बरमें नहीं।

हमलोगोंने सुना था कि चित्रकूटमें भजन करनेवाले महात्मा निवास करते हैं। अत: मैं और कानूनगो साहब दोनों एक बार चित्रकूट गये। कामदगिरिकी परिक्रमा की। उन दिनों वहाँ कुछ ऐसा था कि लड़कियाँ चारों ओरसे घेर लेती थीं और पैसा लेकर ही छोड़ती थीं। आजीविकाके स्थान अधिक थे, कहीं-कहीं भजनके। श्रीरामनारायणजी ब्रह्मचारी, स्फटिकशिला, अनसूया, हनुमान धारा आदि बहुत अच्छे लगे। परन्तु वहाँ ध्यान-ज्ञानका कोई स्थान नहीं मिला, हमलोग पीली कोठीवाले स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजके पास गये। मैं उनका दर्शन ऋषिकेशके पास चन्द्रभागा नदीके ऊपरी हिस्सेके एक नालेमें कर चुका था।

उन्होंने जाते ही कहा, 'तू ब्रह्म है!' मैंने बड़े विनयसे कहा कि 'महाराज, मैं तो अज्ञानी हूँ।' उन्होंने झिड़ककर कहा कि जब तुझे यह ज्ञान है कि तू अज्ञानी है, तो तू अज्ञानी कैसे है? अपनेको अज्ञानी जाननेवाला है। उनकी युक्ति अकाट्य हुआ करती थी और वे बच्चोंको भी वेदान्तकी गम्भीर बातें समझा दिया करते थे। कानूनगो साहबको भी वे अच्छे लगे। परन्तु ध्यानमें निष्ठा होनेके कारण गाँवमें घूम-घूमकर 'शिवोऽहम्'का प्रचार करना उन्हें रुचिकर नहीं लगा। वैसे स्वामीजीके महात्मापनमें उनकी श्रद्धा भी बहुत हुई।

बौद्धिक चिन्तनकी ओर झुकाव—

मैं जब झूसी, प्रयागमें रहने लगा और वहाँसे श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराजके साथ गोरखपुर चला गया, उन दिनोंमें एक-आध वर्षतक कानूनगो साहबसे भेंट नहीं हुई। हाँ, वे मेरी याद करते रहते थे और ठण्डके दिनोंमें

उन्होंने एक कश्मीरी दुशाला मेरे लिए भेजा था। आने-जानेवाले लोगोंसे उनके सौजन्य, ध्यान और विशुद्ध चरित्रके समाचार मिलते रहते थे। वे संकीर्तन, गाना, बजाना, नाचना, लीला, अभिनय इन बातोंको साधारण लोगोंके लिए तो उपयोगी समझते थे परन्तु जो अन्तर्मुख होना चाहते हैं, उनके लिए निदिध्यासन मात्रको ही आवश्यक समझते थे, वे बहुत अध्ययन, तर्क-वितर्कशालिनी बुद्धि एवं प्रवचनके प्रति आकृष्ट नहीं होते थे। यहाँतक कि प्रमाण, प्रमेयवाले वेदान्तके श्रवणमें भी उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। वे विवरण-प्रस्थानके श्रवण मात्रसे ज्ञानवाली शैलीके अनुयायी नहीं थे। वे भामतीकारके श्रवण, मननके अनन्तर निदिध्यासनके परिपाकसे, आत्मा, ब्रह्मकी एकताका साक्षात्कार मानते थे। अतएव, जिन महात्माओंके पास ध्यान-निष्ठाको प्रोत्साहन मिलता था, वहीं जाते थे। गोरखपुरमें आनेपर श्री भाईजी हनुमान प्रसाद पोद्दारसे बहुत प्रभावित हुए। श्री जदयालजी गोयनकाके सत्संगमें भी चरित्र-शुद्धिकी दृष्टिसे बहुत आकर्षण हुआ, परन्तु वे अपने ध्यानमें लगे रहे। वे २-३ घण्टेतक बिना हिले-डुले, निष्कम्प बैठे रहते थे, मुखकी साधारण मुद्रा थी। न विषाद, न प्रसाद। एकरस सौम्यता मुखमण्डलपर विराजमान रहती थी।

एकान्त-प्रियता—

मेरे संन्यासी होनेके बाद कभी-कभी उनसे मिलना होता था। मिलते, तो रात-रातभर मैं और वे दोनों वेदान्तकी चर्चा किया करते थे। उन्हें वाद-विवाद या शास्त्रार्थ सम्बन्धी विवेचन पसन्द नहीं था। वे सीधे ही अष्टावक्र-गीताके श्लोकोंका पाठ कर दिया करते थे, जब मैं ब्रह्मात्मैक्यका उपपादन करनेके लिए प्रमाण एवं युक्तियोंका प्रयोग करता तो वे बहुत प्रसन्न होते थे। परन्तु कहते थे, 'इस सबका सार यही है कि आत्मा नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। विचारोंका बहुत बोझ बुद्धिपर न लादा जाय तो अच्छा रहता है।'

वे श्रीवृन्दावन धाममें भी दो-चार बार आये। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज ब्रह्माकार-वृत्ति करनेपर बहुत बल दिया करते थे। वे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अथवा विधिमुख या निषेधमुख द्वारा जिज्ञासुओंको उपदेश किया करते थे और प्रश्नोंका उत्तर तत्काल इतना सटीक दे देते थे कि सुननेवाले चमत्कृत हो जाते थे, बाबापर कानूनगो साहबकी अटूट श्रद्धा हुई, परन्तु वे भीड़से घबड़ाते थे। एक साधु अपनी मृत्युके पश्चात् शरीरको समाधि देनेके लिए स्थान बनवा रहे थे। कानूनगो साहबने टिप्पणी कर दी, 'मरनेके बाद शरीरका चाहे कुछ भी हो इसका क्या प्रयोजन? एक महात्मा मरनेके बादके लिए भी शरीरकी व्यवस्था

करता है, यह बात कुछ युक्तिसंगत नहीं लगती।' मैंने इस प्रसंगकी चर्चा यहाँ इसलिए की है कि उनका दृष्टिकोण कितना असंग और सुलझा हुआ था, यह बात जिज्ञासुओंकी समझमें आ सके।

यह जानकर कि मैं बद्रीनाथकी यात्रा करनेवाला हूँ, वे वृन्दावन आ गये थे, बायीं बाँहमें 'अञ्जाईना'का दर्द था। मील-आधा मील चलना भी कठिन होता था। परन्तु मेरे साथ यात्रामें उन्हें कभी दर्दका अनुभव नहीं हुआ। वे स्वयं आश्चर्य करते थे और प्रतिदिन दस-दस मीलके लगभग चल लेते थे। मार्गमें अनेक सन्तोंका दर्शन, सत्सङ्ग एवं आलाप प्राप्त हुआ। भिक्षु शंकरानन्दजी, महामण्डलेश्वर श्रीभागवतानन्दजी आदिका संसर्ग और उपदेश प्राप्त हुआ। वसिष्ठ गुफाके श्रीपुरुषोत्तमानन्दजी महाराजकी विशेष कृपा रही। वे बालकवत् बातचीत करते थे और देखनेसे ऐसा लगता था जैसे इनके दिमागपर कोई भार न हो। वे हँसते हुए कह देते थे, 'न कुछ करना है, न कुछ पाना है, न आना है, न जाना है, न छोड़ना है, न पकड़ना है। न मानना है, न जानना है।' आनन्दसे यात्रा पूरी हुई। कानूनगो साहबका अभिप्राय तीर्थयात्रा या देवदर्शनमें नहीं था। वे तो केवल मेरे साथ रहकर सत्सङ्गका आनन्द लेनेमें ही रुचि रखते थे।

सत्यप्रियता एवं निर्भयता—

मैं सावधान बुद्धिसे यह बात कहता हूँ कि यद्यपि मेरे जीवनमें बड़े-बड़े सज्जन एवं ईमानदार गृहस्थ मिले हैं, परन्तु श्रीझगरूसिंहजीके समान दूसरा कोई मिला हो, ऐसा स्मरण नहीं होता। वे अपने इलाकेमें जहाँ जाँच-पड़ताल करने जाते थे, किसीके यहाँ कुछ खाना-पीना पसन्द नहीं करते थे, लेने-देनेकी बात तो दूर रही। उन्हें अपने प्रतिदिनके कार्यकी रिपोर्ट सरकारको देनी पड़ती थी। परन्तु उन्होंने कभी झूठी रिपोर्ट नहीं लिखी। कभी-कभी सच-सच अपनी गलती लिख देनेके कारण ऊपरके अधिकारियोंकी डाँट भी पड़ती थी। जब बड़े अधिकारी उनके इलाकेमें आते, तो उन्हें वे साफ-साफ बता दिया करते थे कि मेरी आमदनी बहुत सीमित है। मैं आपके स्वागतपर इतना खर्च नहीं कर सकता। आप स्वयं अपना प्रबन्ध कर लीजिये। जो अखाद्य खानेवाले और अपेयका पान करनेवाले अधिकारी आते, उन्हें तो सर्वथा निराश होना ही पड़ता था।

स्वतन्त्रता मिलनेके बादकी घटना है—प्रदेशके एक मुख्यमन्त्री, एक मुसलमान सज्जनको अपने साथ लेकर मोटरमें, कानूनगो साहबके स्थान पर आये। उन्हें आज्ञा दी कि अमुक मुसलमान जो अपने जमीन-जायदाद यहाँ छोड़कर चला गया है, वह इन सज्जनके नामसे लिख दो। ये उनके उत्तराधिकारी हैं।

झगरूसिंहजीने बड़ी विनय और शिष्टाचारके साथ मन्त्री महोदयको और मुसलमान सज्जनको भी बिदा किया। जाँच-पड़तालके बाद उन्होंने सर्वथा विरुद्ध रिपोर्ट लिखी कि जो मुसलमान सज्जन चले गये हैं, उनका यहाँ कोई सम्बन्धी नहीं है। कानूनसे कोई उत्तराधिकारी नहीं है। अत: पाकिस्तानसे आनेवाले किसी भी शरणार्थीको यह जायदाद दे दी जाये। इसपर मन्त्री महोदय इतने रुष्ट हुए कि उनकी उन्नति सर्वदाके लिए रोक दी। यद्यपि नीचेके सब अधिकारी उनकी ईमानदारीको जानते थे और उन्हें और ऊँचे पदपर स्थानापन्नके रूपमें नियुक्त किया करते थे। परन्तु, उन्हें अपने कर्तव्य-पालनसे ही मतलब था। पदके ऊँचा-नीचा होनेका कोई ध्यान नहीं था। ध्यानका अभ्यास बराबर चलता रहा। उनका ब्रह्मात्मैक्य-बोध, ज्ञान-निष्ठा, शान्ति एवं समता आजीवन बनी रही। उनके लिए जीवन-मरणमें कोई अन्तर नहीं था।

एक बार वे कहीं बाहर गये हुए थे। लौटते समय किसी स्टेशनपर ट्रेन खड़ी हुई। उन्होंने एक अनजान सज्जनसे कहा कि आप मुझे सहारा देकर नीचे उतार दीजिये और मेरी चद्दर प्लेटफार्मपर बिछा दीजिये। उन सज्जनने ऐसा ही किया। वे वहीं यात्रा बन्द करके बिछाई हुई चद्दरपर आसन लगाकर बैठ गये। शरीर निष्प्राण हो गया। वहाँ उनको पहचाननेवाला कोई नहीं था। पुलिसने तलाशी ली। उनके पॉकेटमें एक कार्ड मिला, जो कहींसे किसीने उनके नाम भेजा था। उससे घरका पता चला। सम्बन्धियोंको सूचना दी गयी और वे उनका शव ले आये। विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न हुई। जैसी असङ्गता जीवनमें रही, वैसी ही मरणमें भी रही। स्वयं तो उनके जीवनमें दु:ख, शोक थे ही नहीं; दूसरोंको भी अपनी चिकित्सा, औषधि या सेवाके लिए दु:ख नहीं दिया। ऐसे सत्पुरुष संसारमें कोई-कोई होते हैं। गृहस्थ; सरकारी पद पर थे। भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तरदायित्व थे। साधारण मनुष्य जिन घटनाओंसे चिन्तित, निराश, उदास एवं दु:खी हो जाता है, ऐसी कितनी ही घटनाएँ उनके जीवनमें घटती रहीं, परन्तु वे तो ऐसे थे—निर्लेप कि उनका जीवन एकरस चलता रहा और उनकी निष्ठामें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ा।

सचमुच, ऐसा जीवन ही सच्चा जीवन है।

ब्रह्ममयी माँ

दिमागपर बहुत जोर लगाया न पेटमें रहनेकी याद आयी और न जन्म लेनेकी। बहुत बचपन भी याद नहीं आया। हाँ, वह दृश्य अवश्य याद आता है, जब माँ दही मथनेके लिए बैठती थी और मैं मक्खन लेनेके लिए, उनके पास पहुँचकर हाथ फैलाता था। मट्ठेके दो-चार छींटे शरीरपर पड़ जाते थे। हाथ-पाँवके कड़े और कमरकी करधनी भी अभीतक नहीं भूली है। मक्खन अवश्य मिलता था। उनके आँचलके नीचे दूध पीता रहा बरसोंतक। मैं ही सबसे अन्तिम शिशु था। उनका नाम था भागीरथी। मैं 'माँ', 'मैया' और कभी-कभी नाराज होननेपर 'माई-रे' भी कहता था। पिताजीकी स्मृति बहुत है। वे पूजा-पाठ करते थे। शंकरजीकी आरतीके समय घण्टी बजाते थे और मैं भींगे चावल और गुड़का प्रसाद लेनेके लिए पहुँच जाया करता था। उन्होंने न कभी मुझसे बात की, न गोदमें उठाया। मेरी सात बरसकी उम्रमें ही गंगाजीके तटपर उनके सिरसे एक मांस-पिण्ड छलककर गंगाजीमें गिर पड़ा, उनका भौतिक जीवन समाप्त हो गया। बस मेरी माँ रामचरित-मानसका पाठ करती, आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते। मैं कागजपर काले-काले अक्षरोंको भेड़ोंकी पंक्ति-सा एक सरीखा देखता। माँ पहचान कराती यह 'क' है, यह 'ख' है, लिखना नहीं आता था। परन्तु मैं 'रामचरित-मानस' पढ़ने लगा था। माँ भी वही, गुरु भी वही। उन्होंने ही मुझे अक्षरज्ञान कराया था।

संवत् १९७५ विक्रम वर्ष एक घटनापूर्ण वर्ष रहा। उसीमें मेरे बड़े भाई, जिनकी अवस्था केवल पन्द्रह वर्षकी थी, विवाह हो चुका था। बखारमें बन्द अन्नके खुलनेपर उसकी भाप लगनेसे बेहोश हो गये और उनका प्राणान्त हो गया। माँने अपनेको सम्भाल लिया। उसी वर्ष मेरी बड़ी बहनका विवाह हुआ, विवाहके बाद मालूम पड़ा कि वहाँ सब घरवालोंकी रुचिके प्रतिकूल ही था। इसको भी माँने सह लिया। उसी वर्ष पिताजीका शरीरान्त हुआ। मेरे पितामह थे। उनकी अवस्था साठ बरसके लगभग थी। घरमें माताजी और उनकी छोटी-सी पुत्रवधू, बस दो ही स्त्रियाँ थीं। माताजी ही घरका सञ्चालन करती थीं। मेरे पितामह भी उनसे सलाह करके ही कोई काम किया करते थे। वैसे हमारे वंश परम्पराके शिष्यगण और शिष्याएँ भी माताजीका बहुत आदर करते थे और उनकी पूजा भी

करते थे। उसी वर्ष बहनके ब्याहमें नेपालके पाँच सरकारके सदस्य परमहंस श्रीजगन्नाथपुरीजी महाराज मेरे घरपर आये। उन्होंने मेरी बहनको देनेके लिए नेपाली सिक्के और एक अच्छी-सी साड़ी दी। मुझे वे बहुत प्यार करते थे और बड़ा होनेपर तो बहुत आदर करने लगे। चौकीसे उठकर सिर झुकाकर हाथ जोड़कर प्रणाम करते थे, हृदयसे लगाते थे और अपने आसनपर भी बैठाते थे। उनकी कुटी मेरे गाँवसे लगभग दो मील दूर कान्हरपुर-खड़ान—दोनों गाँवकी सीमापर पड़ती थी। आगे चलकर उन परमहंसजीसे मुझे बहुत आध्यात्मिक लाभ हुआ। गाँवके लोगोंने उनके लिए भिक्षाका ऐसा प्रबन्ध कर दिया था कि प्रतिदिन एक-एकके घरसे भोजन वहीं आ जाया करता था। परमहंसजीकी चर्चा मैं अलगसे करूँगा! उनके दिव्य शरीर, निःस्पृह वृत्ति और निर्द्वन्द्व जीवनका प्रभाव अब भी मुझपर है।

हमारे पिता-पितामहकी शिष्यपरम्परा चालीस-पचास गाँवोंमें फैली थी। जब मेरी माँने तीर्थयात्राका संकल्प किया तो उनके साथ बहुत-से स्त्री-पुरुष हो गये। उन दिनों हरिद्वारसे आगे कोई वाहनका प्रबन्ध नहीं था। उन्होंने जमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, तुङ्गनाथ और बद्रीनाथकी पैदल यात्रा की थी। यात्री सुविधा होनेपर भोजन बनाते थे, नहीं तो सत्तू खाकर यात्रा करते थे। उस समय कोई एक हजार मीलकी यात्रा पैदल पूरी की गयी थी, जिसमें महीनोंका समय लगा था। उस यात्रामें पर्वत, नदी, वन, बर्फ, तीर्थस्थान एवं सत्सङ्गसे माँके चित्तको बहुत शान्ति मिली और लौटने पर भी सन्तोषका अनुभव करती थीं कि इतनी बड़ी तीर्थयात्रा सकुशल हो गयी। उन दिनों लोग यह सोचकर ही हिमालयकी यात्रा करते थे कि अब शायद ही लौटना हो। संसारके सम्बन्ध शिथिल हो जाते थे। दूसरोंकी मृत्यु भूल जाती थी। अपनी मृत्यु सामने पग-पगपर दिखायी पड़ती थी। भगवान्का स्मरण-कीर्तन होता था और इससे सहज ही चित्त शुद्ध हो जाता था।

हिमालयकी यात्राके पश्चात् पाँच-छः महीने बाद दक्षिणकी यात्रा की। गंगोत्रीका जल साथ था। पुरी, रामेश्वर, द्वारका होकर लौटीं। इस यात्रामें उनके साथ केवल दस-पाँच व्यक्ति ही होंगे। वे बड़े प्रेमसे कहानीकी तरह तीर्थयात्राका समाचार सुनाया करती थीं। जगन्नाथपुरीमें एक चूल्हेपर सात हाँडियोंमें भात पक जाता है। वहाँ सब सबका जूठा खाते हैं। एकादशी वहाँ बाँधकर रखी गयी है। वहाँ ठाकुरजीके साथ उनकी बहन रहती हैं। इन्द्रद्युम्न सरोवरमें भगवान्ने गजेन्द्रका उद्धार किया था। वहाँ सदा भोग लगानेके लिए 'अटका' चढ़ाया जाता है। वहाँ जाकर कुछ छोड़ा जाता है। ये सब बातें उनसे सुन-सुनकर आश्चर्य और आनन्द होता था। रामेश्वरका मंदिर कितना बड़ा है, हनुमानजी लिङ्ग लानेमें पिछड़ गये, तो

पहला लिङ्ग उनके हटाये न हटा, उनकी पूँछ ही टूटने लगी। रामेश्वरकी स्थापनाके लिए रावण सीताजीको लेकर आया था। वहाँ बहुत कुण्डोंमें स्नान करना पड़ता है, बड़े-बड़े मन्दिर हैं। ये सब बातें उनसे सुननेको मिलती थीं। द्वारका दो हैं, वहाँ बाँहमें छापा लगवाना पड़ता है, रुक्मिणीजी द्वारकासे बाहर रहती हैं—ऐसी ही तीर्थोंकी बातें वे करती थीं। वहाँकी कथा, वहाँके भक्तोंके चरित्र सुनाया करती थीं। तीर्थोंसे लौटनेके बाद उनका मन पूजा-पाठमें बहुत लग गया। ग्यारह बरसकी उम्रमें मैं गाँव छोड़कर पढ़नेके लिए काशी चला गया। घरमें उनके श्वसुर थे वृद्ध, उस समय उनकी आयु तिहत्तर बरसकी होगी। विधवा पुत्रवधू थीं, उनकी उम्र अट्ठारह-उन्नीस बरसकी होगी। वे पूजा-पाठसे छुट्टी पाकर यथासम्भव घर-गृहस्थीका काम सम्भालती थीं। माताजीको संसारके काममें विशेष रुचि नहीं थी, परन्तु वे अपने वृद्ध श्वसुरकी आज्ञा एवं सेवाका सम्पूर्ण ध्यान रखती थीं, आये-गयेको सम्भालती थीं।

गाँवके पास बरसाती पानी बहनेका एक नाला है। अब तो उसपर पुल बन गया है, उस समय कोई पुल नहीं था, जब उसमें पानीकी बाढ़ होती थी, तब रास्ता बन्द हो जाया करता था। उत्तरसे आनेवाले यात्रियोंको कभी-कभी रात-रात भर वहाँ रुकना पड़ता था। यदि कहीं कोई दो-चार यात्री रातके समय आ गये तो घरमें बना भोजन उनको करा दिया जाता था। घरके लोग भूखे ही सो जाते थे। पितामहकी ऐसी शिक्षा थी कि लोग अपने भोजनमें उतना सुख नहीं मानते थे, भोजन करानेमें और भोजन कराकर स्वयं भूखा रह जानेमें। आनेवालोंको खाटें दे दी जाती थीं, घरमें लोग जमीनपर सो जाते थे।

इस प्रसंगमें हम एक पड़ोसीको नहीं भूल सकते। वह बिन्द जातिका था। यह जाति सवर्ण हिन्दुओंमें नहीं मानी जाती। उसके पास खेती-बाड़ी थी, जब वह देखता कि मेरे घरमें अतिथि बहुत आ गये हैं तब वह पत्नीको इशारा कर देता और वह एक टोकरीमें दाल, चावल, आटा, घी, दही, गुड़ लेकर—अपने सिरपर उठा लेती और जैसे कुछ बेचनेके लिए आयी हो, घरमें घुस जाती और समान देकर पूछ जाती थी—और क्या लाऊँ? इतनी छोटी जाति और इतनी उदारता! एक आश्चर्य ही था परन्तु बात सच्ची है।

माताजी बार-बार काशी आया करती थीं, मुझसे उनकी बहुत प्रीति थी। कुछ दिनों के बाद उनकी बड़ी बहन संन्यासिनी होकर काशीमें आगयीं, और 'छोटी-पियरी' में स्त्री-महात्मा प्रेमपुरीके आश्रममें रहने लगीं। उनका नाम त्रिवेणीपुरी हो गया। माताजी उन्हींके पास रहतीं, त्याग-वैराग्यमें क्या सुख है—

इसका संस्कार उनके मनपर पड़ने लगा। प्रेमपुरीजीके पास और स्त्री-महात्मा आया करती थीं। उनमें एक सिद्ध माता भी थीं। उनपर माताजीकी श्रद्धा कुछ विशेष हो गयी। उनसे सत्संगकी चर्चा अधिक होती थी। दो-चार बरस बाद उन्होंने माताजीको एक मन्त्र भी दिया था। माताजी समझती थीं कि यह मन्त्र सिवाय मेरे गुरुके और किसीको मालूम नहीं है, एक दिन भोजनके समय महानिर्वाण तन्त्रका वही सप्ताक्षर मन्त्र मैं एकाएक बोलने लग गया। माताजीको बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने पूछा—यह मन्त्र तुमको कैसे मालूम है? मैंने कहा—मुझे यह भी मालूम है कि तुम इसीका जप करती हो। तुम्हारे सिरपर जो चमक है और रेखाएँ उठ रही हैं, वे इसी मन्त्रसे आती हैं। सिद्ध माताजीकी मृत्यु हो गयी और मैं भी प्रेमपुरीजीके आश्रममें ही आकर रहने लगा। परन्तु उस समय मैं किसी संन्यासी या संन्यासिनीका स्पर्श किया हुआ भोजन नहीं करता था, मैं स्वयं अपने हाथसे ही भोजन बनाता था। इसलिए माताजी और भी, बार-बार आजाया करतीं और मेरी पसन्दका भोजन बनाकर खिलाती थीं। वैसा स्वाद फिर कभी नहीं मिला। जिस माताके हृदयमें पुत्रके लिए रक्तका दूध बन जाता है, उसके हाथोंमें पुत्रको खिलानेके लिए अमृत आजाता हो तो इसमें क्या आश्चर्य है! मेरी माताजीकी माताजी बहुत वृद्ध थीं—मेरी नानी। वे कभी-कभी काशीमें आती थीं। उनके गुरु थे स्वामी मनीषानन्दजी सरस्वती, जो काशीके उद्भट विद्वानोंमें गिने जाते थे। माताजी अपनी माताके साथ उनके पास भी जाती थीं, बादमें मैंने उन्हीं स्वामीजीसे योगभाष्य और याज्ञवल्क्यस्मृतिकी 'मिताक्षरा टीका' पढ़ी थी। वे 'टेढ़ीनीम' मुहल्लेमें शिवगढ़के राजाके मकानमें नग्न ही रहा करते थे। उन दिनों उनकी उम्र पचहत्तर वर्षके लगभग रही होगी। उपदेशोंमें प्रमाण एवं प्रमाणजन्य ब्रह्माकार-वृत्तिपर अधिक बल होता था, अत: श्रद्धालुओंको साधनाका कोई क्रम नहीं मिल पाता था।

मेरे पितामहकी मृत्यु होने के पश्चात् विद्याध्ययनके साथ-ही-साथ मुझे घरका काम और शिष्योंके संस्कार सम्बन्धी कार्योंमें भी भाग लेना पड़ता था, अत: गाँवमें रहना अधिक होने लगा। उस समय एकमात्र श्रोता होती थीं मेरी माताजी और मैं वक्ता। अध्यात्म-रामायण, विष्णु-पुराण, श्रीमद्भागवतका अर्थ मैं सुनाया करता था। अपने पुत्रको देखना भी मिले और सुनना भी, शास्त्रमें श्रद्धा थी ही, वे सुन-सुनकर गद्गद हुआ करती थीं। घरके काममें उनकी रुचि कम होने लगी। जब मैं अपने गाँवसे पाँच मील दूर गंगातटपर स्थित 'सहेपुर' स्वामी योगानन्दजी पुरीके पास जाने लगा, उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ले ली, तब माताजी भी उनके पास आने लगीं। वहीं परमहंस रामकृष्णकी पत्नी माँ श्रीशारदामणिकी शिष्या एक

वृद्ध माताजी रहा करती थीं। वे पहले श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको अपने बच्चेकी तरह प्यार करती थीं, खिलाती-पिलाती थीं, वात्सल्यकी मूर्ति थीं। मुझपर उनका बहुत स्नेह था। मुझे भाँति-भाँतिके व्यञ्जन खिलातीं। मेरी माँ-पर उनके जीवनका बहुत प्रभाव पड़ा। उस समय वे नब्बे बरसकी रही होंगी, परन्तु प्रातः से सायंतक किसी-न-किसी सत्कर्ममें लगी ही रहती थीं। मुँहमें दाँत नहीं था, हँसकर बोलती थीं। शारदामाताके जीवनकी अनेक कथाएँ सुनाया करती थीं। उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे स्वयं भगवती प्रत्यक्ष होकर लोगोंको परमानन्दका वितरण कर रही हों। स्वामी श्रीयोगानन्दजी महाराज श्रीमद्भागवतकी प्रसन्नगम्भीर, भावपूर्ण प्रभावी व्याख्या करते थे। उनका प्रवचन सुनकर प्रभावित हुए बिना कोई नहीं रह सकता था। वे मन्त्रजप, भगवत्पूजा, गुरुभक्तिपर बहुत बल देते थे। गंगास्नानके अनन्तर आठ बजे प्रातः से दो बजे दिनतक अपने गुरुकी पूजा करते थे। वे कहते थे कि जब मैं सद्गुरुदेवकी पूजा करता हूँ, तो बार-बार उनके श्रीविग्रहमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश शक्ति, राम, कृष्ण प्रकट होते हैं। और उनमें समा जाते हैं। उनकी गुरुभक्ति देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे। उनका वेदान्त शास्त्रका पाण्डित्य एवं अनुभव भी परिपूर्ण था। मेरी माँ के जीवनपर उनका भी पूरा प्रभाव पड़ा और उनके जीवनमें भक्तिरसका उदय हुआ। वे घण्टों तक भक्तिभावमें मग्न होने लगीं।

मैं गायत्री-पुरश्चरणके अनन्तर श्रीकृष्ण-मन्त्रके अनुष्ठानमें संलग्न हो गया। एक दिन मुझे कुछ ऐसा आश्चर्यजनक अनुभव हुआ कि मुझे दीन-दुनिया भूल गयी। मैं जैसे आनन्दमें भरकर नाचने लगा। रोम-रोम खिल उठा। कमरे-से बाहर निकलनेपर माँके दर्शन हुए और मैं अपनेको गुप्त नहीं रख सका, बोल पड़ा कि मुझे भगवान् मिल गये। मेरा आनन्द देखकर और मुझपर पूरा विश्वास होनेके कारण वे मेरे चरणोंपर गिर पड़ीं और वह विश्वास जीवन-पर्यन्त उनके मनमें बना रहा। उनके स्वाभाविक मातृवात्सल्यमें कुछ श्रद्धा एवं गौरवका सन्निवेश हो गया।

मेरे घरपर सत्सङ्गका रङ्ग जमने लगा। माताजीके वात्सल्य-भाजन मुख्यतः चार-पाँच व्यक्ति थे—कानूनगो साहब झगड़ू सिंह, भाई सुदर्शन सिंह चक्र, गणेशप्रसाद रस्तोगी, चन्द्रशेखर लाल पटवारी एवं नन्दकिशोर तिवारी। इन लोगोंको माताजी अपने पुत्रके समान ही मानती थीं। इन लोगोंके आनेसे अध्यात्मचर्चा विशेष रूपसे होने लगी। प्रातःकाल गीताके भाष्य एवं टीकाएँ लेकर हमलोग बैठ जाते। शाङ्कर भाष्य, मधुसूदनी, शङ्करानन्दी, ज्ञानेश्वरी एवं लोकमान्य तिलककी 'कर्मयोग-रहस्य' टीका। किसीके हाथमें कोई पुस्तक होती, किसीके

हाथमें कोई। एक-एक श्लोकपर अलग-अलग टीकाएँ पढ़कर फिर हम श्लोक-श्लोकार्थपर विचार करते। सुदर्शनजीमें भक्ति, कानूनगो साहबमें ध्यान रस्तोगीजीमें वेदान्त, नन्दकिशोरजीमें गाँधीवादके संस्कार बहुत पक्के थे। चन्द्रशेखर शिव-भक्त थे और नींदमें भी उनके श्वासके द्वारा षडक्षर शिव मन्त्रका उच्चारण होता रहता था। जितने समय गीताकी चर्चा होती, माताजी वहाँसे टस-से-मस नहीं होती थीं। उनकी भक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। पूर्वोक्त व्यक्तियोंमें-से चक्रजी बरसोंतक मेरे घरपर ही रहे। घरके सब लोग अपने परिवारके सदस्यके रूपमें ही उनको मानते थे। वे श्रीमद्भागवत सुनकर तीन-चार घण्टे तक बेसुध हो जाते थे। अरहर, ज्वार या बाजरेके खेतोंमें जाकर घण्टोंतक एकान्त भजन करते थे। कभी-कभी तो ऐसा लगता कि माताजी और घरके लोग मुझसे भी अधिक उनको स्नेह दिया करते थे। चक्रजी भी माताजीपर बहुत श्रद्धा रखते थे और उनका आदर करते थे। माताजीके इन वात्सल्य-भाजनोंमें-से कई लोगोंकी जीवन-चर्चा अलग-अलग करने योग्य है। यदि मैं ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजकी चर्चा न करूँ तो एक प्रकारसे कृतघ्नता ही होगी। मुझसे कोई परिचय न होनेपर भी उन्होंने मुझे भजनमें उत्साहित किया। देशके बड़े-बड़े महात्माओं, मण्डलेश्वरों, विद्वानों एवं भक्तोंके सामने मुझे श्रीमद्भागवतपर प्रवचन करनेके लिए प्रेरित एवं उत्साहित किया। उन्हींके पास मुझे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज, श्रीजयेन्द्रपुरीजी, श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी, विरक्तों एवं अवधूतोंका सम्पर्क, आलाप एवं उपदेश प्राप्त हुआ। श्रीकरपात्रीजी महाराजसे भी वेदान्तचर्चा करनेका सौभाग्य वहीं प्राप्त हुआ। मैं मौन रहता था, कथाके समय ही बोलता था। मुझे लोगोंका प्रेम वहीं मिला। ब्रह्मचारीजी ही वहाँसे गोरखपुर ले गये। वहाँ भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीके साथ रहनेका अवसर मिला। माताजी भाईजीके पास आने-जाने लगीं। कल्याण-परिवारके गृहस्थ-वातावरणको देखकर उन्हें यह सन्तोष हुआ कि अब मैं साधु होकर कहीं जानेवाला नहीं। भाईजीने माताजीके सन्तोषके लिए हिंगुतरगढ़के पण्डित विनायकदत्तको मेरे घरपर संस्कृत पढ़ानेके लिए रख दिया, संस्कृत पाठशाला खुल गयी। हरिहरजीको घरका काम देखनेके लिए रख दिया। इससे मेरे बिना भी माताजीका मन घरमें लगने लगा और पाँच-छह बरसतक वे घरमें रहकर प्रेमसे भगवद्भजन करती रहीं। उन्हें भगवत्सम्बन्धी स्वप्नमें एवं जाग्रतावस्थामें आभास भी हुआ करते थे। उनके जीवनमें क्षमा, सरलता, वात्सल्य, स्नेह पूरी तरह प्रकट हो गये थे। न किसीके प्रति दोषदृष्टि थी, न रोष। उनकी सद्भावनामें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती थी।

वैसे तो मैं सन् २६ से ही वृन्दावन जाने-आने लगा था। परन्तु एक बार मैं गोरखपुरसे वृन्दावन गया तो माताजी भी साथ-साथ गयीं। श्रीइन्द्रजी ब्रह्मचारीके पास ठहरे। वे उन दिनों श्रीहरदेव मन्दिरके श्रीरामानुजदासजी महाराजके शिष्य हो चुके थे। मैं भी रामानुजदासजी महाराजके पास जाया करता था। एक दिन जब मैं श्रीगिरिराजजीका दर्शन करने चला गया, तब इन्द्रजी ब्रह्मचारी मेरी माताजीको श्रीरामानुजदासजीके पास दर्शनार्थ ले गये। माताजीको देखते ही श्रीरामानुजदासजी बोल पड़े—'ओ हो तुम आगयीं, मैं बड़ी देरसे वेदी बनाकर और पञ्चसंस्कारकी तैयारी करके बैठा हुआ था और देख रहा था कि कब आती हो!'

श्रीरामानुजदासजी महाराज श्रीवैष्णव सम्प्रदायके जाने-माने सन्त थे। उन्होंने माताजीको बताया कि जब मैं रातमें शेषशायी भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी अनुस्मृतिमें संलग्न था, उस समय देखा कि तुम अत्यन्त दीन होकर भगवान्की शरणमें आयी हो, भगवान्ने नेत्र खोलकर तुम्हें देखा और श्रीलक्ष्मीजीको कुछ संकेत किया। श्रीलक्ष्मीजीने श्रीभाष्यकार श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजको आज्ञा दी कि इस चेतनका उद्धार करो। आचार्यने मुझे आदेश दिया और मैं श्रीवैष्णव-दीक्षाकी सब तैयारी करके तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। माताजीके सब श्रीवैष्णव-संस्कार हुए। शङ्ख-चक्राङ्कित हो गयीं, श्रीनारायण-मन्त्रकी दीक्षा मिल गयी और भागीरथीसे बदलकर नाम हो गया 'श्रीभागवतदासी'। श्रीगोवर्धनसे लौटनेपर मुझे कुछ प्रसन्नता हुई हो सो तो नहीं, मनमें साम्प्रदायिक आग्रहके प्रति एक प्रकारकी उदासीनताका भाव ही जाग्रत् हुआ।

इस प्रसंगमें श्रीरामानुजदासजीसे सुनी हुई एक उत्तम कथा स्मृति-पथमें आती है। उन्होंने सुनाया था—एकबार श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज भगवान् श्रीरङ्गनाथजीके श्रीविग्रहपर अपने हाथ फिराते हुए आलवन्दार स्तोत्रका पाठ करते जा रहे थे। उन्होंने देखा श्रीविग्रहके पीठमें एक घाव है। वे व्याकुल हो गये, आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे, अत्यन्त पीड़ा हुई। भगवान्ने कहा—रामानुज, यह व्रण तुम्हारे ही कारण है। तुम जो अन्य मतवादियोंका खण्डन करनेके लिए वाग्बाण चलाते हो, वे मेरी पीठमें लगते हैं, क्योंकि मेरे वक्षःस्थलपर धर्मका और पृष्ठ देशमें अधर्मका स्थान है, यही इस व्रणका रहस्य है। उसी क्षणसे श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने अन्य मतवादियोंका खण्डन बन्द कर दिया और भक्तिभावसे परिपूरित हृदयमें केवल श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्का ही निरन्तर अनुसन्धान करने लगे। मुझे उनसे यह प्रसंग सुनकर बहुत आनन्द आया था।

जब मैं कल्याण-परिवारमें रह रहा था, भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने माताजीको और मुझे भी दो बातोंसे निश्चिन्त कर दिया : एक तो अपने प्रभाव और सहयोगसे बेटी कमलाका विवाह सन्त साहित्यके प्रसिद्ध लेखक श्रीपरशुराम चतुर्वेदीके पुत्र श्रीधनञ्जय चतुर्वेदीसे करा दिया और दूसरे विश्वम्भरके पढ़नेकी व्यवस्था चूरू ऋषिकुलमें कर दी। इससे माताजी निश्चिन्त होकर भजन करने लगीं और घरपर चलनेवाली पाठशालाके विद्यार्थियोंको अपने पुत्रके समान मानकर उन्हें स्नेह देने लगीं। विद्यार्थीगण माताजीके प्रति श्रद्धा और आदरका भाव रखते थे। वे उन्हें सदाचार, शिष्टाचार, भगवद्भजनका उपदेश किया करती थीं। उनका हृदय सदय था, सबके प्रति सद्भावना थी।

सन् बयालीसके आरम्भमें ही पण्डित श्रीमदन मोहन मालवीयजीको श्रीमद्भागवत सुनानेके बाद ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीसे संन्यास-दीक्षा ले ली और दण्डी स्वामी होकर मध्यप्रदेशकी ओर चला गया। इससे माताजीके चित्तको बड़ी चोट लगी। यद्यपि उन्होंने पहले अनुमति दे दी थी, परन्तु अब उनके मनमें मेरे संन्यासकी कोई सम्भावना नहीं थी! वे दुःखी होकर भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजीके पास गयीं। उन्होंने माताजीको बहुत समझाया-बुझाया। भाईजीने कहा कि यदि कोई साधारण व्यक्ति संन्यास-ग्रहण कर लेता तो हम उसको आग्रह और प्रायश्चित्तके द्वारा गृहस्थाश्रममें लौटा भी सकते थे, परन्तु एक तो वह विद्वान् हैं, दूसरे कल्याणके द्वारा उनकी विद्या एवं लेखनकी प्रसिद्धि हो चुकी है, अब कदाचित् वे गृहस्थाश्रममें लौट भी आयें तो उनकी बड़ी बदनामी होगी। बदनामीकी बात सुनकर माताजीने तुरन्त कह दिया कि जिस कामसे उनकी बदनामी होती हो वह करनेका आग्रह मैं कदापि नहीं करूँगी, वे जहाँ रहें जैसे रहें, सुखी रहें। माताजीका आशीर्वाद प्राप्त हो गया। मेरे संन्यास लेनेके बाद माताजी अद्वैत वेदान्तका विचार करने लगीं, गङ्गा-किनारे विचरते हुए जो महात्मा वहाँ आजाते, उनका सत्सङ्ग करतीं। भगवान्की भक्ति तो थी ही, मेरे संन्यासी हो जानेपर उनके मनमें विशेष वैराग्यका उदय हुआ और घरके काममें रुचि लेना कम हो गया।

जब मैं माँ श्री-श्री आनन्दमयीके गायत्री कोटियज्ञमें भाग लेनेके लिए काशी गया, तब माताजीने आकर बतलाया कि 'अब मैंने घर-द्वार छोड़ दिया है, अब मेरी किसीसे मोह-ममता नहीं है; मेरे पास कुल नौ-सौ रुपये थे, वे घरमें ही छोड़ आयी हूँ।' मैं उनको समझानेका प्रयास करता तो वे कहतीं कि जब आप घर छोड़

सकते हैं तो मैं क्यों नहीं छोड़ सकती? मुझे कुछ नहीं चाहिए, न रोटी, न कपड़ा, मैं भार बनकर नहीं रहूँगी, भगवान् मेरे साथ हैं, वे मेरा निर्वाह करेंगे।

उसी यात्रामें माताजी मेरे साथ वृन्दावन आगयीं और श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रमके अन्तर्गत 'मातृमण्डल' में रहने लगीं। मैंने अपनी ओरसे कभी उनके भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था नहीं की और उन्हें रोटी-कपड़ेका कभी अभाव भी नहीं हुआ। माताजीके पास बम्बईसे एक सिन्धी दादी आया करती थीं, उसने सिन्धियोंके करोड़पति भाई किशनचन्द चेलारामको श्रीलक्ष्मी सेवकरामसे कहकर डेढ़ सौ रुपये महीनेकी व्यवस्था करवा दी। रुपये समयसे आते भी थे परन्तु माताजीने उन्हें कभी स्वीकार नहीं किया, अपने काममें लेनेकी तो बात ही क्या है! दोनों समय कथा प्रवचन सुनतीं, कुछ लिखा भी करती थीं। उनका लिखा हुआ लोगोंको बहुत पसन्द आता था, कई लोग प्रशंसा भी करते थे और प्रकाशित करनेके लिए भी कहते थे।

जब मैं जाने-आने लगा, माताजी भी बम्बई जाने लगीं। स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज उनका बहुत आदर करते थे और वे उनके आश्रमके पास ही श्रीरुक्मिणी मथुरादास असियामल बसियामलके घरमें रहती थीं। वे लोग बड़े प्रेमसे परिवार और सम्बन्धियोंके सहित उनकी सेवा करते थे।

माताजीकी आँखमें मोतियाविन्द हो गया। बम्बईके प्रसिद्ध नेत्र-चिकित्सक बाणाजीने आपरेशन किया। न माताजीको कोई पीड़ा हुई, न असुविधा हुई, वे शान्तचित्त रहीं। लोग उनसे पूछते थे—माताजी, कोई कष्ट है? वे कहतीं—कष्ट मेरा स्पर्श नहीं कर सकता, कष्टकी सत्ता ही कहाँ है? पाँच-सात दिनमें ही उनकी आँख ठीक हो गयी, पढ़ने लग गयीं, चश्मा लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। वे सदा प्रसन्न रहती थीं। चित्त उनका सरल था। कोई छल-कपट, दाँव-पेंच उनको छू-तक नहीं गया। प्रेमपुरीजी महाराज उन्हें अपने साथ बराबर बैठाया करते थे एवं श्रीहरि बाबाजी महाराज भी उनका बहुत आदर करते थे। एकबार श्रीहरि बाबाजी महाराजने श्रीधरी टीका सहित पूरा श्रीमद्भागवत मुझसे साढ़े ग्यारह महीने तक सुना। माताजी भी उनके साथ ही बैठा करती थीं। माता-जीसे किसीने पूछा—मृत्युके बाद आप कहाँ जाओगी? उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—आना जाना कहाँ है? आत्मा ब्रह्म है, ब्रह्मके सिवाय कुछ नहीं।

कभी-कभी माताजी हमसे कहती थीं—शरीर छूट जानेपर मेरी अन्त्येष्टि-क्रिया करनी पड़ेगी, इसलिए मुझे संन्यास दे दो। तो न कभी आपको न किसी दूसरेको कभी चिन्ता करनी पड़ेगी, कोई भी शरीर उठाकर जमुनाजीमें डाल देगा।

ब्रह्ममयी माँ के साथ महाराजश्री

मैंने उन्हें समझानेका प्रयास किया कि स्त्री-शरीरके लिए संन्यास लेना ठीक नहीं, परन्तु वे पहले ही कई संन्यासिनी महात्माओंसे मिल चुकी थीं। जूना अखाड़ेमें स्त्रियोंको भी संन्यास दिया जाता है, अतः उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। वे कहतीं—मैं न स्त्री हूँ, न पुरुष, न ब्राह्मण, न शूद्र, सारे बन्धन विधि-निषेध अज्ञानीके लिए होते हैं। अज्ञानसे कल्पित हैं। मुझे तो केवल परिवारका सम्बन्ध तोड़ना है, जिससे मेरी अन्त्येष्टिका भार किसीपर न पड़े। उनका ज्ञान इतना परिपक्व हो गया था कि मैं उनका आग्रह टाल नहीं सका और काषाय वस्त्र दे उनका नाम 'ब्रह्ममयी माँ' रख दिया। मेरी भगवत्प्राप्ति और ज्ञानपर तो उनकी श्रद्धा पहलेसे ही थी, अब वे विधिपूर्वक मुझे गुरु मानने लगी थीं।

जब वे काशीमें घर छोड़कर आयी थीं, उसके बाद घर-परिवारकी चर्चा छोड़ ही दी थीं। कभी कोई आता, प्रणाम करता आशीर्वाद दे देती थीं। कोई भी हो, बड़े प्रेमसे मिलती थीं। नेत्रोंमें सौम्यता, मीठे स्वरमें बोलती थीं, सिरपर, पीठ-पर हाथ भी फिरा दिया करती थीं। घरसे आनेके बाद उन्होंने कोई तीर्थयात्रा नहीं की! गङ्गा-यमुना आदि नदियोंमें स्नानकी श्रद्धा एवं रुचि नहीं थी; मन्दिर-मूर्तिसे भी कोई लगाव नहीं था। राजनीति अथवा जगत् सम्बन्धी कोई चर्चा करे तो मना कर देती थीं या स्वयं कुछ कहने लगती थीं। शृंगाररसकी चर्चा उन्हें सर्वथा नहीं भाती थी। गीता पढ़ती थीं, रामायण, भागवत सुनती थीं, कोई भी आकर पास बैठ जाय तो उससे वेदान्त-सम्बन्धी बात करती थीं! घरसे आनेके बाद कभी बीमार नहीं पड़ीं। आँखोंके ऑपरेशनके सिवाय डॉक्टर-वैद्योंकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। साबुन-तेलका प्रयोग नहीं करती थीं। साधारण मटमैला कपड़ा पहनती थीं। कभी कोई चमकता कपड़ा नहीं पहना। सिर पूरा-का-पूरा मुँड़वा लेती थीं। श्रीउड़ियाबाबाजी और श्रीहरिबाबाजीके सत्संगमें जाकर बैठा करती थीं। सिद्धि-चमत्कारोंमें उनकी कोई श्रद्धा नहीं थी। आत्मा ही ब्रह्म है—यह उनकी निष्ठा थी और लोगोंको समझाती भी यही थीं। एकान्त मिलनेपर लिखती भी थीं! सम्भवतः उनके हाथका लिखा हुआ विश्वम्भरके पास है। उनके लिखनेमें अष्टावक्र गीताका प्रभाव अधिक रहता था। वे प्रक्रियाकी उलझनमें कभी नहीं पड़ीं, वाद-विवाद किसीसे करती नहीं थीं, कम-से-कम बोलती थीं। हर हालतमें प्रसन्न रहती थीं। रूखा-सूखा जो मिले खा लेती थीं। अपने पहनने-ओढ़नेके लिए भी कभी किसीसे कोई कपड़ा-लत्ता नहीं माँगा। वे कहती थीं कि दाँत टूट जाय तो क्या? मुँहमें थोड़ी देर रखनेके बाद सभी वस्तुएँ, कोमल और सुस्वादु हो जाती

हैं। उनको देखनेसे ही पता चलता था कि शरीरको सम्भालनेके लिए उनकी ओरसे कोई सावधानी नहीं थी। उनका देहभाव प्राय: छूट गया था।

साधनाभ्यासमें भी उनका कोई आग्रह नहीं था। जब हम लोग मोकलपुरके बाबाके पास जाते थे, तभी बाबासे यह सुननेको मिलता था कि जब बिना कुछ किये और बिना कुछ हुए इतनी बड़ी दुनिया दिख रही है; तो कुछ करनेपर तो यह और बढ़ेगी, घटेगी नहीं। मैं भी वृन्दावनके सत्सङ्गमें प्राय: ऐसा ही कहा करता था कि अभ्यासजन्य वृत्ति आत्माको कर्ता अथवा वृत्तिमान बनाती हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज भी एकान्तमें कभी-कभी कह दिया करते थे— 'निस्संकल्पता अथवा कोई अभ्यास न करना ही सबसे बड़ा अभ्यास है।' माताजीकी बुद्धिमें यह निश्चय पूर्णरूपेण दृढ़ हो गया था। संसारकी चर्चाका प्रसङ्ग आनेपर बोल पड़ती थीं कि संसार कहाँ है?

वृन्दावनमें श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके निर्वाणदिवसके उपलक्ष्यमें उत्सव चल रहा था। स्वामी प्रज्ञानानन्दजी श्रीमद्भागवत-सप्ताह कर रहे थे। किसी कारणवश वे एकाएक बीचमें ही छोड़कर चले गये। विश्वम्भर वहाँ आये थे। उन्हें सप्ताहका वक्ता बना दिया गया। माताजीने पूरा सप्ताह श्रवण किया। भण्डारेके दिन प्रात:काल स्वामी ओंकारानन्दज़ीसे उन्होंने कहा कि 'आज स्वप्नमें बाबाका दर्शन हुआ और उन्होंने कहा कि अब तुम मेरे साथ चलो! मैंने उनसे कह दिया कि बस, अब मेरा यहाँ कोई काम नहीं है।' उसी दिन भण्डारा होनेके बाद बाहरसे आये हुए लोगोंसे मिल-जुलके एक बजे दिनमें अपने आसनपर लेट गयीं। तीन बजे किसीने देखा कि माताजीकी साँस नहीं चल रही है। मैं गया तो देखा उनका एक हाथ सिरके नीचे है और एक हाथ कमर पर, करवटसे लेटी हुई थीं। ऐसा लगता था, बिना किसी तकलीफके, बिना किसी छटपटीके, उनके प्राण शान्त हो गये हों। वायु, वायुसे एक तो रहती ही है, केवल बल्ब का फ्यूज उड़ गया था और देहका सम्बन्ध टूट गया था। चेतनात्मा तो सदा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अद्वितीय ब्रह्म है ही। शरीर यमुनामें पधरा दिया गया, कछुओंका भण्डारा हुआ। उनके पौत्र विश्वम्भरनाथ द्विवेदीने अपने गाँव जाकर विधि-पूर्वक श्राद्ध और ब्राह्मण-भोजन कराया। उनके श्रद्धालु भक्तोंकी संख्या तो वहाँ उस समय भी बहुत थी और अब भी है।

❋

महाराजश्री के साथ सिंघानिया परिवार

श्रीलक्ष्मीपति सिंहानिया : कुछ संस्मरण

श्रीलक्ष्मीपति सिंहानियाकी माताजीने मुझे अपने चतुर्थ पुत्रके रूपमें स्वीकार किया था। उन्हें मैं माँजी कहता था और वे मुझे पुत्रके समान ही अपना प्रेम देती थीं। उन्होंने ही अपने पूरे परिवारके साथ परिचय करवाया था। किसी-किसीको मन्त्र दिलवाया था, किसीको पूजा-विधि और भगवान्के आराधनकी प्रक्रियाकी शिक्षा दिलवायी थी। उन्हींके कारण कानपुरकी गंगाकुटीमें बम्बईके सिंहानिया हाउसमें एवं कल्कत्ताके जे० के० हाउसमें बार-बार जाना-आना पड़ता है।

माँजीके छोटे पुत्र श्रीलक्ष्मीपति सिंहानिया अत्यन्त सज्जन, सौम्य एवं सरल व्यक्ति थे। अभिमान तो उन्हें छूतक नहीं गया था। अधिक बोलते नहीं थे। स्वर कभी ऊँचा नहीं होता था। जितनेमें सामनेवाला सुन ले, उतना ही बोलते थे। सदाचारमें उनकी निष्ठा थी। भगवान्के प्रति उनकी आस्था थी। व्यापारकी कलामें निपुण, उत्साह एवं पौरुषके पक्षपाती तो थे ही, अपनी माता-पिता, बड़े भाईके प्रति श्रद्धा एवं आदरका भाव रखते थे। किसीके प्रति भी उनके मुखसे कभी निष्ठुर वचन सुननेको नहीं मिला। बड़ी कोमलताका व्यवहार करते थे।

एकबार मेरे यहाँसे गुरु-पूर्णिमा आदिके अवसरपर जानेवाले किसी पत्रमें, 'अयं मे हस्तो भगवान्', ऋग्वेदका यह मंत्र प्रकाशित हुआ था। इसका अर्थ है, यह मेरा हाथ ईश्वर है। उन्होंने मुझे पत्र लिखकर पूरा सूक्त लिख मँगवाया, उसमें यह प्रतिपादन है कि सम्पूर्ण कल्याणोंका कल्याण अपना हाथ है और यह शवको भी जीवित करनेमें समर्थ है।

एकबार भाई लक्ष्मीपतिसे कोई सत्संगका प्रसंग चल रहा था। मनुष्यके जीवनमें सद्गुणोंकी वृद्धि कैसे होती है, इसपर मैंने उनको श्रीमद्भागवतका यह श्लोक सुनाया—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥

श्रीमद्भागवत ११.१३.४

इस श्लोकका अर्थ उन्हें बहुत पसन्द आया जो इस प्रकार है—

मनुष्यके जीवनमें सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुणका प्रकाश-विकास अथवा वृद्धि-समृद्धिके लिए दस बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है। यदि वे सात्त्विक होंगी तो जीवनमें सद्गुणोंका विकास होगा। वे दस बातें इस प्रकार हैं—

१. आप अध्ययन क्या करते हैं? हृदय पवित्र करनेवाले उपनिषद्, गीता, भागवत, रामायण आदि ग्रन्थ! भोग-विलास, धनोपार्जन सम्बन्धी पुस्तकें अथवा भूत-प्रेत, चोर, डाकू आदिके काल्पनिक ग्रन्थ या बेईमानी, चालाकी, तिलस्माती या वासना बढ़ानेवाली फिल्मी कहानियाँ? आपके जीवनको अपनी-अपनी दिशामें आकृष्ट करनेवाली यही किताबें हैं।

२. आप कैसे जलका सेवन करते हैं, स्नानमें, पानमें, भोजनमें? भगवान्‌का चरणामृत, पवित्र नदी एवं स्रोतोंका जल, फलोंका रस, शाकोंके द्वारा निर्मित पेय अथवा सुरा आदि? आप जलके प्रभावसे मुक्त नहीं रह सकते।

३. आप कैसे लोगोंमें रहना, मिलना-जुलना पसन्द करते हैं? आप जैसे लोगोंमें रहेंगे, बड़ा मानकर सेवा करेंगे और जैसा होना चाहेंगे वैसे हो जायेंगे।

४. आपको मनसे कैसे स्थान प्रिय हैं? नदी-तट, पर्वत, हरी-भरी वनराजि, तीर्थ, मन्दिर, सन्तोंका निवास अथवा जहाँ सत्संग हो रहा हो वैसी भूमि। आप स्वयं अपनी रुचिको परखिये, निरखिये। आप वैसे ही होने जा रहे हैं।

५. आप अपना समय कैसे व्यतीत करते हैं, निद्रा, आलस्य, प्रमादके कारण निकम्मे तो नहीं हो रहे हैं? आप पौरुषसे वञ्चित हो जायेंगे। आप अर्थलिप्सा एवं भोग-वासनासे आक्रान्त होकर कर्म करते हैं? निश्चय ही आपके जीवनमें विक्षेपकी वृद्धि होगी। आप अपने जीवनके अमूल्य क्षणोंका कौन-सा अंश सत्यके चिन्तनमें, एकाग्रतामें, भगवद्भक्तिमें एवं लोकहितमें लगाते हैं? आपका एक क्षण, आपके जीवनको स्वर्ग एवं नरक बनानेमें समर्थ है।

६. आपको क्या करना पसन्द है? चोरी,जारी, हिंसा, पक्षपात? मोहसे प्रेरित कर्मोंसे बचनेका प्रयास करते हैं? स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका हित

करनेका प्रयत्न करते हैं या नहीं। कर्म बाहरसे देखनेमें कितना भी छोटा हो, उसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है। भले दूसरोंको उसका पता न लगे, परन्तु आपका अन्तःकरण उसके प्रभावसे मुक्त नहीं रह सकता। प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होती है और वह अपने अंग-अंग और अन्तरंगपर भी होती है। कर्मका फल बहिरंग वस्तुके उत्पादनमें नहीं होता, अन्तरंगके निर्माणमें होता है। सबसे अच्छा यह होगा कि आप कोई कर्म करनेके पहले इस ओर गम्भीरतासे ध्यान दे लें कि इससे मेरी आदतें सुधरेंगी या बिगड़ेंगी। जिससे किसीका अहित होता हो और अपनी आदत बिगड़ती हो, ऐसा कर्म कभी नहीं करना चाहिए।

७. किस वंशमें आपका जन्म हुआ, यह तो एक गौण बात है। अतः शरीरका जन्मदाता शिक्षक अथवा गुरु होता है। उत्तम वंश परम्परा, दोषापनयन एवं गुणाधान रूप संस्कार और सदाचारका पालन, ये तीनों ही हमारे जीवनको सँवारते हैं। जीवनमें सदाचारकी स्थिति ही सच्चा जीवन है। आप अपनी बुद्धि-तुलापर तौलकर देख लीजिये कि यह आपका जन्म अपने आचरणसे कुलीन हो रहा है न!

८. आपके चिन्तनकी दिशा क्या है? जागते समय, बैठे हुए एकान्तमें, सोनेके पूर्व आप मन-ही-मन क्या सोचते रहते हैं? आत्मचिन्तन, लोक-कल्याण या शरीर, भोग, रोग, राग, योग। सावधान! यदि चिन्तनकी दिशा अनुचित एवं अशुद्ध दिशामें चली गयी तो आप कहींके नहीं रहेंगे, न घरके न घाटके। मनुष्यका वास्तविक चिन्तन ही उसका सच्चा जीवन है।

यह निश्चित रूपसे समझिये कि कोई दूसरेके मनका ज्ञाता नहीं हो सकता। न आपके मनकी बात दूसरे समझ पाते हैं और न तो दूसरोंके मनकी आप। अतः ठोस जगत्‌में आप अपनी वाणी एवं शरीरके व्यवहारको अपने पवित्र चिन्तनका अनुयायी बनाइये। दूसरोंकी बुराई सोचना अपनेको बुरा बनाना है। ध्यान बुरा है तो आप बुरे हैं। ध्यान अच्छा है तो आप अच्छे हैं।

९. आप मन्त्रणा किस लक्ष्यसे करते हैं? आपके संकल्प एवं योजनाका उद्देश्य क्या है? आपके मनमें बार-बार क्या आता है? आप किस मन्त्रका जप करते हैं? हृदय पवित्र करनेवाले मंत्र, संयम एवं परमात्म-चिन्तनसे भरपूर होते हैं। भूत-भैरवके मन्त्र या दूसरोंके अहित करनेवाली मन्त्रणा हमारे जीवनको बुराईके गड्ढेमें डाल देती है।

१०. प्रकृतिका गुण-दोषमय प्रवाह अनादि, अनन्त है। चित्त-वृत्तियोंकी नदी, अन्तर्मुखता एवं बहिर्मुखता दोनोंकी ओर जाती है। उसमें कभी विष बहता है, कभी अमृत। कभी शान्ति, करुणा, तो कभी ईर्ष्या-द्वेष। इसीमें सावधान

रहनेकी बारी है। आप अपनेको उत्तम विचारोंकी धारामें डाल दीजिये। कभी डूबेंगे, कभी उतरायेंगे। कभी-कभी दायें-बायें भी होंगे। परन्तु, उत्तमताकी धाराको न छोड़िये। वह केवल बाह्य जीवनको ही नहीं सुधारेगी, सँवारेगी बल्कि अन्तरंग जीवनको भी अमृतमय बना देगी। थोड़े ही दिनोंमें आप स्वयं आश्चर्यचकित रह जायेंगे कि आपके जीवनको इतना मधु-मधुर, इतना सरस, इतना सौरभमय, इतना सुकुमार और इतना संगीतमय क्यों बनाया गया? आप अमृतके पुत्र हैं और अमृत होने, रहनेमें ही आपके जीवनकी सफलता है।

भाई लक्ष्मीपति सिंहानियाको यह प्रसंग इतना पसन्द आया कि उन्होंने कहा कि इसको प्रकाशित करके वितरण करवा दीजिये।

एक बार माँजी मुझे कलकत्ता ले गयीं। भाई लक्ष्मीपतिने कहा कि मैं जब आफिसमें काम करता हूँ तो थोड़े ही परिश्रमसे थक जाता हूँ। मैंने उन्हें एक प्रक्रिया बतायी जो उपनिषदों और महाभारतमें है। वह यह है कि बीच-बीचमें एक-दो मिनटके लिए मुँह बन्द कर लें। दाँत परस्पर सटे नहीं। जीभ, ऊपर-नीचे किसीका स्पर्श न करे। ज्यों-की-त्यों बनी रहे। एक मिनट भी ऐसा कर लें तो थकान दूर हो जायेगी और मनको विश्राम मिलेगा। उन्होंने ऐसा किया और बतलाया कि इससे मुझे बहुत लाभ हुआ। असलमें बात यह है कि अब जीभ अधरमें निष्क्रिय हो जाती है तो किसी शब्दका उच्चारण नहीं होता। शब्दके उच्चारणके बिना मनकी भाग-दौड़ बन्द हो जाती है। एक मिनटके लिए भी मनकी दौड़-धूप बन्द हो जानेसे बहुत विश्राम मिलता है। यदि कदाचित् ऐसा न कर सकते हों तो नेत्र जहाँ हैं, वहीं उनको स्थिर कर दीजिये; पुतली दाँयें-बायें, ऊपर-नीचे कहीं न जाय। परन्तु उनपर कोई दबाव न डाला जाय। क्षण भर के लिए आपका मन सब तरहके तनावोंसे मुक्त हो जायेगा और बहुत विश्राम मिलेगा। आँख बन्द हो या खुली, इसपर ध्यान देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

वर्षों बीत गये। समयने व्यवधान डाला। परन्तु, आज भी उनका वह सौम्य, शान्त सौजन्यपूर्ण जीवन और मधुर वाणी कभी-कभी हृदय पटलपर चमक जाते हैं। भगवान्‌करे उनके परिवारके लोगोंमें उनके सद्‌गुण, सद्‌भाव एवं सदाचारका प्रकाश एवं विकास होता रहे।

❋

दादा लोकूमल

दादा लोकूमलके जीवनमें कोई बनावट नहीं थी। उनका व्यवहार सहज सद्भावपूर्ण होता था। वचन मधुर थे। सबकी सेवा करते थे। विनयी थे। आवश्यक होनेपर ही बोलते थे। एक बार जिससे मिलते, उसके दिलपर उनकी छाप पड़ जाती थी। एक बार भी जिससे बातचीत कर लेते, वह मानो उनका सम्बन्धी हो जाता था। हृदय उदार था, आवश्यकतासे अधिक दान करते थे। स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराजके प्रति उनकी विशेष श्रद्धा एवं सेवा थी; उन्हें सब तीर्थोंकी यात्रा करवायी। उनके घरमें महात्माओंका संग बना रहता था और प्रवचनकी ऐसी व्यवस्था कर दी कि वह अबतक उनके शिवाजी पार्क (बम्बईवाले) मकानमें चलता है। मुम्बादेवीके मकानमें उन्होंने श्रीमद्भागवतका श्रवण किया। पाँच हजारके लगभग लोग तो उनके बनवाये हुए पण्डालमें बैठा करते थे।

स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराजके ब्रह्मलीन होनेपर उन्होंने उनकी स्मृतिमें लोकहित कुटीर बनवाया, जहाँ अबतक प्रतिदिन सत्सङ्ग चलता रहता है। स्वामी प्रेमपुरीजीके नामपर एक पूजा-कक्ष भी वहाँ है।

वे बताया करते थे कि वे बहुत गरीब घरमें पैदा हुए थे। उनके पास कुछ भी पूँजी नहीं थी। उन्होंने किसी दुकानदारसे तय कर रखा था, जिससे प्रातःकाल वे कुछ कपड़े उसके यहाँसे लेते। कहीं खजूरकी चटाई बिछाकर बैठ जाते। सायंतक जो कपड़ा नहीं बिकता वह ले जाकर दुकानदारके पास रख देते और जो बिक्री होती उसको चुका देते। जीवन-निर्वाह हो जाता।

धीरे-धीरे उनकी उन्नति हुई। व्यापारियोंसे परिचय बढ़ा। अरब देशोंसे उनका आना-जाना हो गया। भगवान्‌का भजन करते रहे, विश्वासके साथ अपना काम करते रहे। निश्चय दृढ़ था। मनमें सहिष्णुता थी। उनकी लगन, तत्परता और उत्साहने रंग दिखाया। वे लाखोंके धनी हो गये।

सबसे बड़ी विशेषता उनकी यह थी कि मान-अपमानका ध्यान रखे बिना वे सबके साथ विनय, मधुर व्यवहार करते थे और सबको सुख पहुँचानेका प्रयास करते थे।

श्रीउड़ियाबाबाजीके शब्दोंमें—'जिसमें बरदाश्त करनेकी ताकत है, उसमें सब सिद्धियाँ स्वाभाविक ही निवास करती हैं।'

❋

भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार

अद्भुत विनयशीलता—

श्रीश्रीआनन्दमयी माँके 'मातृशरणम्' आश्रममें, जो कि देहरादूनके पास किशनपुरमें है, एक बड़े उत्सवका आयोजन था। उसमें उस समय के बड़े-बड़े महात्मा आये हुए थे श्रीहरिबाबाजी, श्रीरामदेवजी, श्रीकृष्णानन्दजी, श्रीचक्रपाणिजी आदि। सत्सङ्गमें श्रीहरिबाबाजी महाराज माँके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर रहे थे। उन्होंने बताया कि स्वामी परमानन्दजीने माँके शील, स्वभाव, स्नेह एवं विलक्षण रहनीके बारेमें जो कुछ कहा है, उससे मेरे हृदयमें यह निश्चय हो गया है कि माँ जीवन्मुक्त महापुरुष हैं। उनके मुँहसे यह बात सुनकर श्रीअभयब्रह्मचारी उठकर खड़े हो गये और बोले—'बाबा आप क्या कह रहे हैं! साक्षात् जगज्जननी जगदम्बा माँको आप एक जीवन्मुक्त मनुष्य बता रहे हैं। यह तो माँके प्रति अनादरका भाव है।' श्रीहरिबाबाजीने भरी सभामें साष्टाङ्ग दण्डवत् करके क्षमा माँगी—'भैया, मैंने तो सहज स्वभावसे अपने हृदयका भाव प्रकट कर दिया। इससे यदि माँका अनादर हुआ हो अथवा आप लोगोंको दु:ख पहुँचा हो तो इसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ।'

बाबाके इस विनयको देखकर सारी सभा चकित रह गयी थी।

इस प्रसंगका उल्लेख मैंने इसलिए किया है कि जिस महात्माके अनेक भक्त होते हैं, अपने श्रद्धास्पदके प्रति विविध भाव रखते हैं, उनके सम्बन्धमें कुछ कहना, लिखना बहुत कठिन होता है। वह बात किसीके अनुकूल पड़ेगी, किसीके प्रतिकूल। कोई सुन-जानकर प्रसन्न होगा, कोई अप्रसन्न।

भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजीके सम्बन्धमें भी यही बात है। देश-विदेशमें उनके भक्त फैले हुए हैं। कोई उन्हें साक्षात् श्रीराधारानी मानता है, कोई गोपीभावसे भरपूर। कोई 'आप्त-पुरुष' मानता है तो कोई भगवद्भक्त। अत: उनके सम्बन्धमें कुछ कहनेमें ऐसा लगता है कि किसीको कहीं दु:ख न पहुँच जाय। मैंने सदा उनको अपने भाईके रूपमें मनुष्य ही देखा। इसलिए मैं किसी भावुकके समान उनके प्रति कुछ नहीं कह सकता। श्रीहरिबाबाजी महाराजकी विनयशीलता और क्षमा-प्रार्थना उद्धृत करनेका यही कारण है।

भाईश्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारके साथ महाराजश्री

आचार्योंके प्रति नैराश्य—

मेरे पूर्व-पुरुष पीढ़ियोंसे कट्टर सनातन-धर्मी रहे और धर्मके निर्णयमें प्रमाण माने जाते रहे। मेरे गुरुजी श्रीरामभवनोपाध्याय सनातन-धर्मके मर्मज्ञ तो थे ही, आचरणशील भी थे। मैं स्वाभाविक ही वेदशास्त्र, सनातन-धर्म और ईश्वरके प्रति आस्थावान् हो गया। उन्हीं दिनों वाराणसीमें अगस्त्य कुण्डके पास नैमिषारण्यमें ब्राह्मण महासम्मेलनका आयोजन हुआ। आयोजन कर्ताओंमें देशके बड़े-बड़े श्रद्धास्पद विद्वान् एकत्रित हुए। प्राय: वैदिक सम्प्रदायोंके सभी आचार्य भी आये। सचमुच आचार्यों और विद्वानोंकी इतनी बड़ी उपस्थिति मैंने कभी कहीं नहीं देखी। सनातन-धर्म कालेजमें प्रात:काल विद्वानोंका विचार-विनिमय, निर्णय एवं शास्त्रार्थ होता। पन्द्रह दिन तक यह कार्यक्रम चलता रहा। मैं प्रतिनिधि भी था और स्वयं सेवक भी। उस महासम्मेलनमें मुझे सनातनधर्मी आचार्योंके प्रति अत्यन्त नैराश्यका उदय हो गया। कौन दाहिने बैठे, कौन बायें; किसीका सिंहासन ऊँचा-नीचा न हो, यह सब प्रबन्ध तो करना ही पड़ा—फिर भी एक आचार्य, दूसरे आचार्यके समयमें प्राय: आते नहीं, आते भी तो एक दूसरेकी ओर देखते नहीं, बातचीत नहीं करते, अपना भाषण देकर चले जाते। मेरे मनमें यह धारणा दृढ़ हो गयी कि इन लोगोंसे सनातन-धर्मकी रक्षा और प्रचार-प्रसारके प्रति आशा रखना उचित नहीं है। प्रयागमें सम्पन्न होनेवाली कार्यकारिणी समितिमें, जिसमें पुरीके तत्कालीन शंकराचार्य श्री भारतीकृष्ण तीर्थ एवं म० म० श्री लक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ भी उपस्थित थे, इस बातपर मतभेद हो गया कि मुख्य कार्यालय काशीमें रहे अथवा कलकत्तामें। महामन्त्री श्रीदेवनायकाचार्य एवं कमलनयनाचार्य हों या श्यामसुन्दर चक्रवर्ती। शास्त्रीजी दोनों हाथ दोनों पक्षमें उठाते थे। यह उनका समत्व था परन्तु मेरे मनकी उदासीनता और बढ़ गयी। मैं 'कल्याण' पढ़ा करता था और उसमें वेदान्त, भक्ति तथा धर्म सम्बन्धी विचार पढ़कर बहुत प्रभावित भी था। खासकर भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीके लेख बहुत प्रिय लगते थे। मेरे मनमें अब यह आशा और विश्वास दृढ़ होने लगा कि इस संस्थाके द्वारा धर्मकी रक्षा एवं स्थापना होनेमें सहायता मिल सकती है। मैंने वाराणसीसे पैदल यात्रा की और बरहलगंज, भाटपार आदि होता हुआ पैदल ही गोरखपुर पहुँच गया।

गोरखपुरकी ओर—

उन दिनों 'कल्याण' का कार्यालय श्रीगोरखनाथ मन्दिरके पास एक उद्यान एवं बंगलेमें था। पास ही गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीका निवास-स्थान था। उन्होंने मुझे अपने घरमें भोजन कराया, क्योंकि उन दिनों ब्राह्मणेतरके घरमें मैं

भोजन नहीं करता था। उन्होंने श्री भाईजीकी बहुत महिमा सुनायी और मेरे एक प्रश्नके उत्तरमें कहा कि संसारके सामने दीन होनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्‌के सामने दीन होनेसे सारी दीनता मिट जाती है।

उसी दिन सायंकाल भाईजीसे मिलना हुआ। भाईजीका प्रथम भेंट विनय, सरलता, सद्भाव देखकर मन प्रसन्न हुआ, प्रभावित हुआ। बातचीतके प्रसंगमें उन्होंने पूछा—'आप क्या चाहते हैं ?' मेरे मुखसे बिना सोचे-विचारे निकला—'मुझे भजन चाहिए, बस; भगवान्‌का भजन चाहिए।' उनके नेत्रोंसे झर-झर आँसूकी बूँदें टपकने लगीं। बार-बार बोलने लगे—

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिन्हहिं भजन तजि भाव न आना॥

वे जैसे तन्मय हो गये हों। मेरे मनमें भगवान्‌का स्मरण और नामोच्चारण होने लगा। कुछ समयतक यह प्रभाव रहा। अवश्य ही उस समय चित्तकी दशा असाधारण-सी हो गयी थी। दो-तीन दिन मैं वहाँ रहा।

व्यवहारिक निपुणता—

एक दिन प्रात:काल गीता प्रेसके महारथियोंकी मीटिंग जुड़ी। एक तो मैं लोगोंकी दृष्टिमें कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं था और कपड़े-लत्ते भी स्वच्छ नहीं थे। इसलिए लोगोंने मेरी ओर ध्यान नहीं दिया। 'वेदान्त-अंक' निकालनेका निश्चय किया गया। प्रसंगवश किसीने यह चर्चा छेड़ दी कि एक सज्जनने कोई पुस्तक लिखकर रामायण और रामचरितपर बहुत-से आक्षेप किये हैं। उनका खण्डन 'कल्याण' में छपना चाहिए। विशेषकर बजरंगलाल चाँदगोठियाका ऐसा आग्रह था। भाईजीने कहा कि वह पुस्तक तो केवल एक हजार छपी है। कल्याण, बहुत अधिक संख्यामें छपता है। यदि उसका खण्डन इसमें प्रकाशित होगा तो उसका बहुत बड़ा विज्ञापन हो जायेगा। ऐसी पुस्तकोंकी उपेक्षा कर देना ही अच्छा है। मुझे भाईजीका यह विचार बहुत अच्छा लगा। भगवद्भक्तिके साथ-ही-साथ वे व्यवहारमें भी इतने निपुण हैं, इसकी एक अच्छी छाप पड़ी। परन्तु वहाँका वातावरण आफिसका ही वातावरण था। अत: मैं वहाँ अधिक दिनोंतक न रहकर काशी लौट आया।

ब्रह्मचारीजीके दर्शन—

भगवत्-कृपासे विद्यास्थानों अथवा धर्मस्थानोंके अध्ययनसे एवं महापुरुषोंके सत्संग तथा उपदेशसे मेरी निष्ठा औपनिषद अद्वैत सिद्धान्तमें बन गयी थी। एकान्तमें रहनेकी रुचिसे चित्रकूटकी यात्रा कर रहा था। मार्गमें झूसी (प्रयाग) में ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजके दर्शनका अवसर प्राप्त हुआ। उनका त्याग, वैराग्य, मौन, एकान्तवास, स्पष्टभाषिता, दृढ़ता बहुत अच्छी लगी। मैं उनके

स्नेह और आग्रहसे कई महीनोंतक वहाँ रह गया और उनके प्रोत्साहनसे सार्वजनिक रूपसे 'श्रीमद्भागवत' की कथा करने लगा। उनके यहाँ बड़े-बड़े आचार्य, महात्मा, विद्वान्, समाजसेवी एवं राष्ट्रसेवी नेतागण आया करते थे। मेरे प्रवचनकी प्रशंसा होने लगी। मौन रहता, फलाहार करता, केवल प्रवचनके समय बोलता।

दृढ़निष्ठामें विश्वास—

ब्रह्मचारीजी मुझे गोरखपुर ले आये। वहाँ भी प्रवचन आरम्भ हुआ। अद्वैतनिष्ठा होनेके कारण कभी-कभी मैं तीव्र वैराग्य, संन्यास और नेति-नेतिके द्वारा दृश्यमात्रके निषेधका प्रबल प्रतिपादन कर देता था। उसमें ऐसा लगता था जैसे मैं 'उद्धार कम्पनियों' का विरोध करता हूँ। कई लोगोंको यह बात खली। परस्पर कानाफूसी हुई। परन्तु, भाईजीके पास जब यह चर्चा गयी तो उन्होंने सबको रोक दिया। वे बोले 'इस प्रकारकी चर्चा नहीं करनी चाहिए। वे जो कहते हैं सो शास्त्रके अनुसार ही तो है। सबको अपनी-अपनी निष्ठामें दृढ़ रहना चाहिए। दूसरेकी निष्ठाकी आलोचना नहीं करनी चाहिए।' मैंने अपने मन्तव्यको स्पष्ट करनेके लिए 'सिद्धान्त एवं जीवन' नामका एक निबन्ध लिखा, जिसको भाईजीने कल्याणके 'वेदान्ताङ्क परिशिष्ट' में प्रकाशित कर दिया।

मोहनकी मोहिनी—

भाईजीके परिवारसे स्नेह-सम्बन्ध बढ़ता गया। मैंने भाईजीकी रुचि देखकर एक बड़ा लेख लिखा—'मधुर अनुभूति'। मैंने लेखको भाईजीके हाथमें देकर कहा—'यह प्रकाशित करनेके लिए नहीं है। आप इसको एकबार पढ़ लीजियेगा।' उस लेखको पढ़कर भाईजी भावमग्न हो गये। नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे और लेख हाथमें लिये-लिये वे मेरे पास आये एवं बोले कि आपने मुझे बहुत आनन्द दिया, निहाल कर दिया। भाईजीने उस लेखका नाम 'मोहनकी मोहिनी' लिखकर कल्याणमें प्रकाशित किया और लोगोंसे मेरे प्रति आदर-भाव रखनेका संकेत कर दिया। निश्चय ही उस समय भाईजीके सत्संगमें अनेक भगवद्भक्त साधक थे जिनमें श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, शुकदेव बाबू, गंगाप्रसादजी, पुजारीजी, माधवजी आदि थे।

सर्वरूपमें भगवद्-दर्शन—

वह दृश्य कभी-कभी मानस-पटलपर जीवन्त-सा दीखने लगता है—जब गीता-वाटिकामें सम्वत्सरव्यापी अखण्ड-कीर्त्तनके दिनोंमें एकबार अग्निकाण्ड हो गया था। फूसकी अठारह-बीस कुटियाँ बनी हुई थीं। उनमें अनेक प्रान्तों के साधक,

मौनी और फलाहारी रहकर अपनी-अपनी साधना कर रहे थे। केवल भगवन्नामका ही उच्चारण करते थे और किसी शब्दका नहीं। भगवान्‌की सेवा-पूजा भी सब करते थे। रातके समय किसी कारणवश आग लग गयी। हा-हाकार मच गया। नोट, कपड़े, सामग्री तो जले ही, ठाकुरजीकी सेवा, चित्रपट, पाठके ग्रन्थ भी भस्म हो गये। आग लगनेपर भाईजी अपने कमरेसे बाहर निकलकर आये और बोले—'अग्निदेवके रूपमें स्वयं भगवान् पधारे हैं। खूब-खूब घी लाओ, बूरा लाओ। भली-भाँति इस रूपमें भगवान्‌का सत्कार करो!' वैसा ही किया गया। मैं भी गुफाके समान बनी अपनी सेवाकुटीसे बाहर आगया था और भाईजीकी यह भावभक्ति देखकर गद्‌गद हो रहा था। सचमुच भाईजीने जीवनभर इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया कि सब कुछ भगवान्‌की लीला है। सब रूपमें भगवान् ही हैं। उनके प्रवचन और क्रिया-कलापमें सर्वत्र भगवत्भावकी ही अभिव्यक्ति देखी जाती थी।

दोष-दृष्टिसे बचो और बचाओ—

भाईजीके पास आकर जब कोई किसीकी निन्दा-शिकायत करता था, तब वे निन्दा करनेवालेको ही समझाते थे 'कहीं तुम्हारे देखने-समझनेमें गलती हो सकती है। दोषी व्यक्तिके जीवनमें भी कोई विवशता हो सकती है। सबके हृदयमें भगवान् बैठे हैं। तुम्हें किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।' उससे यह भी कहते कि यह बात और किसीसे मत कहना। भाईजी इसके साथ-साथ उस व्यक्तिको भी अपने पास एकान्तमें बुलाते और कहते—'भाई, मुझे भली-भाँति ज्ञात है कि तुम्हारे अन्दर ऐसा कोई दोष नहीं है। परन्तु तुम्हें सावधान रहना चाहिए कि तुम्हारे द्वारा कोई ऐसा दिखावेका काम भी न हो जिससे दूसरोंके हृदयमें दोष-दृष्टि बने। अपनेको दोषसे बचा लेना ही काफी नहीं हैं। दूसरा भी दोष दृष्टिसे बचा रहे, और हमारे कारण उसका मन कलुषित न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए। भाईजी प्राय: परस्पर विरोधी पक्षोंमें संगति बैठा देते थे और दोनोंसे सद्व्यवहार करते थे तथा दोनोंके प्रिय रहते थे। इस विषयमें सौभाग्यवती सावित्रीकी माँ पूर्णरूपसे भाईजीका अनुकरण करती थीं और किसीकी निन्दा पसन्द नहीं करती थीं। एकबार किसी सज्जनने निन्दा आरम्भ की तो वे बोलीं कि 'भाई! धोतीके नीचे सभी नंगे हैं। किसीको कुछ कहने योग्य नहीं है। दोष-गुण सबमें होते ही हैं। अपनी दृष्टि पवित्र होनी चाहिए।'

अद्‌भुत क्षमाशीलता—

एक ब्रह्मचारीजी भाईजीके पास रहा करते थे। बड़े स्वस्थ-सुन्दर, आयुर्वेदके जानकार थे। सावित्रीकी माँ की सद्भावना एवं आदरभावका उन्होंने गलत अर्थ लगाया। उनके मनमें विकारका उदय होने लगा। चेष्टाएँ बदल गयीं।

एक दिन तो रात्रिके समय वे मकानके ऊपर चढ़ गये। भाईजीने उनको अपने पास बुला लिया और बड़े प्रेमसे उनको समझाया कि अब आप निकम्मे मत रहिये। किसी सेवाके कार्यमें लग जाइये और उनके लिए राजस्थानके एक नगरमें अच्छे औषधालयकी व्यवस्था करवा दी। उनकी बदनामी हो, उसके पहले ही उन्हें गोरखपुरसे बाहर स्थापित कर दिया। वे बादमें बहुत प्रसिद्ध वैद्य हुए।

औरोंको उत्साहित करनेका स्वभाव—

गीता वाटिकामें, जिसे उन दिनों गोयन्दका-वाटिकाके नामसे जाना जाता था, आयोजित भगवत्-नाम-संकीर्तन यज्ञमें बड़े-बड़े महात्मा, विद्वान्, नेता आमन्त्रित किये जाते थे। महामना पं० श्रीमदन मोहन मालवीयजी पधारे। उनका पावन एवं उज्ज्वल व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उनके स्वागतमें पूरा 'कल्याण' परिवार संलग्न था। श्री भाईजीका विचार इतना उदार था कि वो चाहते थे कि कल्याण परिवारके सभी लोगोंके साथ श्रीमालवीयजीका निकट सम्पर्क हो जाय। उन्होंने मालवीयजीके सामने मेरे द्वारा श्रीमद्भागवत पर प्रवचन करवाया। मालवीयजी बहुत प्रसन्न हुए, मुझे अपने पास बुलाया। वे स्वयं श्रीमद्भागवतके प्रेमी एवं महान् विद्वान् थे। उन्होंने महात्मा गाँधीको सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी थी, जिसे सुनकर महात्माजीने कहा था कि भागवतके श्रवणसे मेरे हृदयमें अपूर्व-धर्मरसकी उत्पत्ति हुई है। मालवीयजीने मुझे वेद-स्तुति, ब्रह्म-स्तुति, गर्भ-स्तुति एवं अक्रूर-स्तुतिके विशेष अध्ययनकी प्रेरणा दी और काशीके हिन्दू-विश्वविद्यालयमें प्रवचन करनेके लिए आमन्त्रित किया। भाईजीका स्वभाव औरोंको उत्साहित करने और आगे बढ़ानेमें बहुत रस लेनेका था। मैंने विश्वविद्यालयमें जाकर मालवीयजीको श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। ऊखल-बन्धन लीला सुनकर मालवीयजीकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते थे। अन्तमें उन्होंने कहा कि मैं तो निहाल हो गया।

गो० श्रीदामोदरलालजीसे भेंट—

गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी महाराज काशीके धुरन्धर विद्वानोंमें-से एक थे। 'संकीर्तन-महायज्ञ'में उनका भी शुभागमन हुआ। भाईजीने उनके सामने भी भागवतपर मेरा प्रवचन करवाया। मैंने विशेष-रूपसे उन्हींके सम्प्रदायके श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी एवं श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीकाओंके आधारपर प्रवचन किया। भाईजीने मेरी अच्छी प्रशंसा की। गोस्वामीजीने मुझे अपने पास बुलाया। व्याकरण, साहित्य, न्याय, मीमांसा एवं वेदान्तके अनेक गूढ़ रहस्योंपर प्रकाश डाला। परन्तु, मेरी निष्ठा अद्वैत वेदान्तमें पक्की थी। मैंने गोस्वामीजीसे एक प्रश्न किया—'भगवान् श्रीकृष्णके

नेत्रकी चिन्मयता और पद-नखकी चिन्मयतामें कोई अन्तर है कि नहीं?' वे बहुत हँसे। वे बोले—'जो तुम मानते हो, वही मैं मानता हूँ।'

यस्येन्द्रियाणि निखिलेन्द्रियवृत्तिमन्ति सर्वत्र च स्वगतभेदनिवर्जितात्मा।

'ये 'बृहद्ब्रह्म-संहिताके वचन हैं जो श्रीचैतन्य महाप्रभुको बहुत प्रिय थे। श्रीकृष्णका श्रीविग्रह जड़ नहीं है, चिन्मय है। उनमें देह-देहीका विभाग नहीं है। सभी इन्द्रियोंमें सभी इन्द्रियोंकी शक्तियाँ हैं। उनमें स्वगत-भेद नहीं है। द्वैत दीखनेपर भी वस्तुतः अद्वैत ही है।'

भाईजीकी प्रशंसाने उनके साथ मेरे अच्छे सम्बन्ध बना दिये।

नेहरूजी भी प्रभावित—

फ. १९८६ में यह संस्मरण लिखा जा रहा था, उससे लगभग ४८-५० वर्ष पूर्वकी बात है। उन दिनों पं० श्रीजवाहरलाल नेहरूका तेज-प्रताप बढ़ रहा था। राष्ट्रकी स्वतन्त्रता के लिए उनके त्याग, बलिदान, कष्ट सहनकी प्रशंसा हो रही थी। साईमन कमीशनके विरोधके प्रसंगमें, उनको और पण्डित श्रीगोविन्द बल्लभ पन्तको ब्रिटिश सरकारकी ओरसे जो पीड़ा पहुँचायी गयी थी, मार-पीट की गयी थी, वह लोगोंके हृदयपर घाव कर गयी थी। लोगोंकी उनमें बहुत रुचि थी। नेहरूजी 'संकीर्तन-महायज्ञ'में आमन्त्रित किये गये। वे यज्ञमें आये। उन्होंने यज्ञ-मण्डपमें भगवान्‌को नमस्कार भी किया। उन्होंने पूछा—'क्या दिन-रात यह अखण्ड संकीर्तन होता रहता है? ढोलक और झाँझ बजते रहते हैं? उन्हें उस समय तक इन बातोंसे इतना परिचय नहीं था। भाईजीने उनके सामने भारतीय भक्ति-भाव एवं संकीर्तनकी महिमापर प्रवचन किया। नेहरूजीने आश्चर्यचकित होकर श्रवण किया।

गीता-वाटिकामें देशके प्रसिद्ध सत्पुरुष समय-समयपर आते रहते थे। करहैके बाबा रामदासजी अपनी मण्डलीके साथ पधारे और कुछ दिन तक रहे। उनकी वाणीमें एक विशेष मधुरता और आकर्षण है। जिस समय वे श्रीरामचरित मानसपर प्रवचन करते-करते कोई करुण-रसका प्रसंग सुनाने लगते, तो श्रोता मुग्ध हो जाते। सबको अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती, शरीरमें रोमांच हो जाता, भक्तजन भावमग्न हो जाते।

सहृदयता—

गीता प्रेसके कर्मचारियोंमें भिन्न-भिन्न विचारके लोग रहा करते ते। कोई आस्तिक, कोई नास्तिक, कोई कांग्रेसी, कोई कम्युनिस्ट। कोई-कोई कर्मचारी प्रेसके विरुद्ध प्रचार और संगठनका प्रयास भी करते। उनमें एक थे पं० गौरीशंकर

द्विवेदी। वे अनेक भाषाओंके विद्वान् थे—रसियन, चाईना, फ्रेन्च, अंग्रेजी, सभी भाषाओंके ज्ञाता थे, अनुवादक थे और लेखक थे। परन्तु, वे वहाँ कर्मचारियोंका संगठन बनानेमें अत्यन्त रुचि रखते थे। उनके कारण कभी-कभी प्रेसमें हड़ताल भी हो जाया करती थी। सेठ जयदयालजीने उन्हें प्रेसके कार्यसे मुक्त कर दिया। द्विवेदीजी बहुत गरीब थे। विद्या बहुत बड़ी, स्पष्टवादिता अधिक, गरीबोंका पक्ष—उनके जीवनमें आर्थिक कष्ट आगया। भाईजी श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार, द्विवेदीजीके विचार और कार्य-कलापपर कोई ध्यान नहीं देते थे। वे चाहे कुछ भी करें, भाईजी उनसे चुपके-चुपके काम लिया करते थे और उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करते थे। उनसे प्रेसको हानि पहुँच सकती थी। परन्तु, भाईजीकी सहृदयतामें किसी प्रकारकी कमी नहीं आयी। भाईजीने श्रीमद्भागवतकी फ्रेञ्च भूमिकाका उनसे अनुवाद करवाया था। जिसका भागवतके सम्पादनमें बहुत उपयोग हुआ।

काम न होनेपर भी भाईजी लोगोंके लिए काम निकाल लेते थे और उनकी सहायता करते थे।

उदार-दृष्टि—

एक थे केडियाजी, हिन्दी-साहित्यके अच्छे विद्वान्, पहले उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी रही होगी। परन्तु, उन दिनों वे बहुत कष्टमें थे, भाईजीने उनको सहायता करनी चाही, तो वे बोले कि मैं वैश्य होकर दानग्रहण नहीं कर सकता। हाँ, मुझसे कोई काम लिया जाय तो मैं वेतन ले सकता हूँ। भाईजीने उनको काम दे दिया—क्या काम दिया? वह यह काम था कि श्रीविष्णुसहस्रनाम, गोपाल-सहस्रनाम आदि जो भगवन्नाम हैं, उनके अतिरिक्त ब्रजभाषा या अन्य देशी भाषाओंमें जो भगवन्नाम प्रचलित हैं—उनका आप संग्रह करें और भगवान्‌के नये-नये नामोंका भी संग्रह करें। बस, उनको काम मिल गया। जीवनभर यही करते रहे। लाखों नामोंका उन्होंने संग्रह किया—भाईजीके पास भेजते। वे बहुत प्रसन्न होते—'और कीजिये! और कीजिए!!'

मुझे पता नहीं, इन नामोंके संग्रहका क्या हुआ? वह गीता-वाटिकामें है या प्रेसमें। प्रकाशित होगा या नहीं! परन्तु केडियाजीका जीवन बड़े सुखसे और भक्ति-भावनासे व्यतीत हो गया।

भाईजीके मुखसे ही सुना था कि राजस्थानके किसी गाँवमें एक अपरिग्रही और अकिंचन विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। वे कभी किसीसे कुछ याचना नहीं करते थे। जो कुछ स्वाभाविक आजाय, उसी से अपना निर्वाह कर लेते थे। घरमें कभी

आटा नहीं तो कभी दाल-नमक नहीं। उसी गाँवमें एक सेठ रहते थे। वे पण्डितजीको कुछ देनेका प्रयास करते, किन्तु वे न लेते। तब सेठजीने एक युक्तिकी। घरमें दही जमवाते। उसमें दो-चार गिन्नी डाल देते। सेठानी चुपचाप पण्डितजीके घर ले जाकर उनकी पत्नीको दे आती। किसीको पता भी नहीं चलता। पण्डितजीका जीवन-निर्वाह हो जाता। जिसका हृदय उदार होता है और किसीकी सहायता करना चाहता है, उसको नयी-नयी युक्ति सूझ जाती है। उदारता, नवीन एवं प्रशस्त पथ ढूँढ निकालती है।

उत्तर प्रदेशके एक बड़े नेता थे। स्वराज्य मिलनेके पश्चात् तो वे एक उच्च पदपर प्रतिष्ठित हुए। सत्याग्रहके समय वे तो आन्दोलनमें लगे हुए थे—परन्तु, परिवारके लोग कभी-कभी भूखे रह जाते थे। एकबार उन्होंने भाईजीको तार दिया कि घरके बाल-बच्चे तीन दिनसे भूखे हैं। मैं जेलमें हूँ, कुछ कर नहीं सकता। भाईजीने उसी दिन उनके घर आदमी भेजा और स्वराज्य-प्राप्ति-पर्यन्त उनके परिवारके भरण-पोषणकी व्यवस्था कर दी।

एक वयोवृद्ध विद्वान् थे। अनेक पत्रोंका सम्पादन किया था। कई ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु, वृद्धावस्था होनेसे उनके पास खान-पान, परिधानका कोई सामान शेष नहीं रह गया था। पाँच लड़कियाँ विधवा उन्हींके घरमें रहती थीं। दो लड़कोंमें-से एक छोटा था और एक आवारा हो गया था। भाईजीने घर बैठे ही दो सौ रुपये महीनेका प्रबन्ध करवा दिया। उन वयोवृद्ध पण्डितजीको बड़ा संकोच हुआ कि मैं यह परिग्रह कैसे लूँ! भाईजीने उनका संकोच छुड़ानेके लिए ऐसी युक्ति की कि कल्याणमें प्रकाशित होनेके लिए आये हुए लेख सम्पादनके लिए उनके घर भेज दिया करते थे। बादमें तो भाईजीसे इतने प्रभावित हुए कि जाकर गोरखपुरमें ही रहने लगे और 'कल्याण'के सम्पादन-विभागमें काम करने लगे।

पूर्वजन्मका ऋण—

एक बार तो ऐसी विलक्षण घटना घटी जैसी लोक-व्यवहारमें कम ही देखनेको मिल सकती है। एक सज्जन आये। भाईजीसे बोले—'मैं नेपालकी यात्रा करने आया था। पत्नी बीमार पड़ गयी है। सरकारी अस्पतालमें भर्ती कराया है अमुक नम्बरके कमरेमें है। खर्चके लिए पैसा नहीं है। क्या करूँ?' भाईजीने उन्हें दो-ढाई सौ रुपया दिया। तीसरे-चौथे दिन आये—'बीमारी गम्भीर हो गयी है। आपरेशन करवाना पड़ेगा। कुछ और चाहिए।'

तीन-चार दिन पश्चात् फिर आये और कहा—'वह मर गयी है। उसका क्रिया-कर्म करना पड़ेगा।'

'कल्याण'-परिवारवालोंने भाईजीको कहा—'यह कोइ ठग मालूम पड़ता है। इसे कुछ मत दीजिये।'

भाईजीने कहा—'मैंने तो पहले ही दिन अस्पतालमें फोन करके पूछ लिया था। वहाँ कहीं किसी कमरेमें इसकी पत्नी दाखिल नहीं है। पत्नी थी ही नहीं तो बीमारी, औषधि और क्रिया-कर्मकी क्या चर्चा? परन्तु, जब ये सज्जन मेरे पास आकर बैठते तो मुझे मालूम पड़ता है कि पूर्वजन्ममें मैंने इनसे कोई ऋण लिया है और उसको चुकाना मेरा अवश्य कर्त्तव्य है। उनकी आवश्यकता सच्ची है या झूठी, इस विचारसे मेरा क्या मतलब! मेरा हृदय इनको कुछ देनेके लिए विवश कर देता है। मैं अपने हृदयकी पीड़ा मिटानेके लिए देता हूँ। उनकी सच्चाई-झूठाईके आधारपर नहीं। सच्चे-झूठे तो सभी होते हैं। अपना हृदय सद्भावपूर्ण रहना चाहिए। किसी दु:खी या गरीबकी सहायता करनेमें यदि सहायक अपनेको ठगा भी देता है तो वह सहृदयताकी ही अभिव्यक्ति है।

अपकारके बदलेमें भी उपकार—

'कल्याण'के सम्पादन विभागमें एक उच्च कोटिके विद्वान् एवं यशस्वी पुरुष काम करते थे। उनकी प्रकृति कहें या स्वभाव कहें, वे चुपके-चुपके सरकारी अधिकारियोंको गीता प्रेस एवं 'कल्याण'में यत्किंचित् होनेवाली त्रुटियोंकी सूचना दिया करते थे। जिस समय गोविन्दबल्लभ पन्त उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री थे उस समय उन सज्जनने ऐसे अनेक पत्र लिखे जिनसे यह प्रकट होता था कि भाईजीकी संस्था राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय-हितके विरुद्ध काम करती है। पन्तजीसे भाईजीकी मित्रता थी और गोरखपुरका कलक्टर भाईजीके विरुद्ध था! दिनोंदिन गिरफ्तारीकी सम्भावना बढ़ती जा रही थी। पन्तजीने भाईजीसे कहा—'आप कहो तो उन सज्जन और कलक्टर दोनोंके विरुद्ध कुछ कार्यवाही की जाय।'

भाईजीने कहा—'नहीं-नहीं। उनके साथ ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए।'

उनके लिखे कई पत्र भाईजीके पास पहुँचा दिये गये। भाईजीने सब कुछ समझ लिया और प्रयास करके उन्हें एक सरकारी संस्थाके उच्च पदपर नियुक्त करवा दिया। वे सम्पादन विभागसे चले गये और कलेक्टरका वहाँसे तबादला हो गया।

मैं करोड़ोंमें एक—

कराचीके एक सज्जन बार-बार पत्र लिखा करते थे और पूछते थे कि आप सच-सच बतलाइये कि आप कौन हैं? कोई गोपी हैं, कि स्वयं राधा रानी हैं, कि और कोई महान् भक्त हैं? भाईजी अपने स्वभावानुसार बड़े विनयसे लिखते कि मैं

एक साधारण मनुष्य हूँ। जैसे सब मनुष्योंमें गुण-दोष होते हैं, वैसे मुझमें भी हैं। परन्तु, पूछनेवालेका आग्रह बढ़ता ही गया। अन्तमें भाईजीने लिखा कि मैं करोड़ोमें एक हूँ। मेरे जैसा दूसरा कोई नहीं है और न दूसरोंके जैसा मैं हूँ। अब आपको जो समझना हो समझ लीजिये।

सरलता—

भाईजीकी सरलता भी अद्‌भुत थी। रतनगढ़में रहते समय वहाँके एक नागरिकके नाम पोस्टसे पार्सल आया। कानूनके अनुसार उसपर ढाई रुपया नागरिकको देना चाहिए था। परन्तु, पोस्टमास्टर पाँच रुपया माँग रहा था। इसपर वे सज्जन भाईजीके पास आये। अपनी समस्या बतायी। बहुत दुःख प्रकट किया। भाईजी तुरन्त उठकर उनके साथ पोस्ट आफिस चले गये और पोस्टमास्टरको समझा-बुझाकर ढाई रुपयेमें ही उनका पार्सल छुड़ा लिया। हम लोगोंको बहुत आश्चर्य हुआ कि भाईजी जैसे सत्पुरुषको ढाई रुपयेके लिए पोस्टआफिस ले जाना कितना हास्यास्पद है। परन्तु भाईजीको अपने बड़प्पनका तो कोई अभिमान था नहीं—छोटे-से-छोटा काम कर देनेमें भी उन्हें कोई हिचक नहीं थी।

प्रेतयोनिसे मुक्ति—

भाईजीने स्वयं बताया था कि जब वे बम्बईमें रहते थे तब एक दिन समुद्रके किनारे रात्रिमें बैठकर भजन कर रहे थे। एक पारसी सज्जन अपनी वेशभूषामें उनके सामने आकर खड़े हो गये। वे बोले—'डरते तो नहीं हो?'

भाईजी—'डरूँगा क्यों? आप सज्जन हैं। भलेमानुष हैं!'

पारसी सज्जन—'मैं मनुष्य नहीं हूँ। प्रेत हूँ। मैं मृत्युसे पूर्व पारसी था। हिन्दू धर्मपर बड़ी श्रद्धा थी। मरनेके बाद मैं प्रेत हो गया। अब मेरी यह स्थिति है कि भूख-प्यास तो लगती है, किन्तु स्वयं मैं लेकर खा-पी नहीं सकता। कोई मेरे लिये दे, तभी मुझे मिलता है। हमारे मजहबमें श्राद्धका विधान है नहीं। इसलिए मेरे पुत्र-पौत्र श्राद्ध नहीं करते। तुम मेरे लिए श्राद्ध करवा दो।

भाईजी—'मेरे कहनेसे आपके पुत्र श्राद्ध कैसे करेंगे। उनका विश्वास कैसे होगा!

प्रेत—'मैंने अपने घरमें अमुक स्थान पर बहुतसे रुपये रखे हैं। घरवालोंको मालूम नहीं है। तुम मेरी कही हुई संख्या ठीक-ठीक बता देना और कहना कि उससे श्राद्ध करवा दें—तो वे मेरा श्राद्ध करवा देंगे।

भाईजीने वैसा ही किया। रुपये मिले, श्राद्ध हुआ और वे पारसी सज्जन प्रेत-योनिसे मुक्त हो गये।

ईमानदारीका आदर—

उत्तर प्रदेशके ब्राह्मण बम्बईमें भाईजीके एक मित्रके यहाँ 'भैया'का काम करते थे। एक दिन उनसे दस हजार रुपया खो गया। सेठने कहा कि यह रुपया हम तुम्हारे वेतनसे काट लेंगे। डेढ़ सौ रुपये काट लेता और आधा रुपया उनके निर्वाहके लिए दे देता। भाईजीको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सेठसे पूछा कि वह 'भैया' विश्वास पात्र है या नहीं? सेठने बताया कि उसने वर्षोंसे मेरी गद्दीपर काम किया है, परन्तु कभी कोई बेईमानी तो नहीं की। कभी-कभी उसके द्वारा पाँच-पाँच लाख रुपया एक गद्दीसे दूसरी गद्दीपर भेजते थे। कभी कोई गड़बड़ नहीं की। भाईजीने कहा—'यदि वह बेईमान नहीं है तो उसका आधा वेतन काटना अन्याय है। यदि वह बेईमान है तो उसको गद्दीपर काम करनेके लिए रखना सर्वथा अनुचित है, दो टूक निर्णय करो। सेठने कहा—'वह भैया ईमानदार है। उसने चोरी नहीं की होगी।'

भैयाजी बुलाये गये। सेठ—'अब आजसे तुम्हारे वेतनसे कटौती नहीं होगी और जो काट लिया है, वह तुम्हें लौटा देते हैं। तुमपर मेरा पूरा विश्वास है।' उस ब्राह्मण भैयाने वहीं भाईजीके सामने ही भगवान्‌को साष्टांग दण्डवत किया और कहा—'प्रभुकी बड़ी कृपा है। मैं तो केवल आपका ऋण चुकानेके लिए ही आपका काम करता था। अब मैं साधु हो जाऊँगा। वही भैया गंगातटपर आकर संन्यासी हुए और बम्बईवाले कृष्णानन्दजीके नामसे प्रसिद्ध हुए। हम लोगोंका वर्षोंतक परस्पर प्रेमपूर्वक सम्बन्ध रहा। नब्बे वर्षकी आयुमें अबसे दो-तीन वर्ष पूर्व उन्होंने शरीर त्याग किया। वे भाईजीके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ और श्रद्धालु थे। भाईजीको भगवान्‌के समान ही मानते थे।

विचित्र ईश्वरीय अनुग्रह!

ब्रिटिश सरकारने राजद्रोहके अपराधमें भाईजीको बहुत लम्बी कैदकी सजा दी थी। उन्हें बिहारके चक्रधरपुरके जेलमें रखा गया था। वह जेलकी सजा भाईजीके जीवनमें एक ईश्वरीय अनुग्रह सिद्ध हुई। अब वर्षोंतक यहीं रहना होगा ऐसा सोचकर वे एकाग्र चित्तसे भगवान्‌के भजनमें संलग्न हो गये। एक-डेढ़ वर्षके भीतर ही उन्हें दिव्य अनुभव होने लगे और आजीवन कैदकी जगह वे उन्नीस महीनेमें ही जेलसे मुक्त हो गये। गम्भीरचन्द दुजारीने भाईजीसे पूछ-पूछकर उन अनुभवोंका संग्रह किया था। और भाईजीने उसे पढ़कर जहाँ-जहाँ गलती थी, उसे अपने हाथसे सुधारा था। दुजारीजीने वह कागज मुझे भी दिखाया था। उसमें यह बात लिखी थी कि भाईजी क्या-क्या

साधना करते थे और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका किस रूपमें दर्शन हुआ था। भाईजीकी लिपिको मैं भली-भाँति पहचानता था। उनसे इस सम्बन्धमें बात भी की थी। भाईजीकी भगवन्नाममें पूर्णनिष्ठा थी, यह बात तो उनके जीवन, व्याख्यान और लेखनसे स्पष्ट होता ही है।

राम-राम क्या रैम-रैम भी!

एकबार वे बम्बईमें रामनारायण पोद्दारके घरमें ठहरे हुए थे। वहाँ भगवन्नामकी महिमाके सम्बन्धमें परस्पर बातचीत हो रही थी। किसीने नामके महत्त्वपर कटाक्ष किया। भाईजीको आवेश आ गया। आवेशमें उनके शरीरमें कम्पन, नेत्रोंमें लाली और वाणीका स्वर बदल गया। उन्होंने कहा कि राम-रामकी तो क्या बात, यदि कोई अन्तिम समयमें रैम-रैम (अंग्रेजीका कोई शब्द) करता हुआ भी मरे तो भी उसके कल्याणमें कोई शंका नहीं है। उस दिन वे १२-१४ घण्टेतक आवेशमें ही रहे; न खाना, न पीना। न चलना, न फिरना। जैसे शरीरकी विस्मृति हो गयी हो। भाईजी दूसरोंसे तो नाम-जप करवाते ही थे—स्वयं भी कभी-कभी नाम-संकीर्तन करते हुए नृत्य करने लगते थे। भगवान्नामपर उनका अटूट विश्वास था।

किसकी-किसकी दवा लूँ!

भाईजीको जब ज्वर या जुखाम होता था तो कई वैद्य और डाक्टर उन्हें देखने के लिए स्वयं आ जाया करते थे। भाईजी सबकी बड़े प्रेमसे सुनते। और उनकी दी हुई औषधि भी ले लिया करते थे। एक दिन मैंने देखा उनके तकियेके नीचे बहुत-सी दवाइयाँ पड़ी हैं। मैंने पूछा यह सब क्या है, भाईजी!

भाईजी—मैं किसकी-किसकी सलाह मानूँ। किस-किससे वाद-विवाद करूँ और किस दवाको मना करूँ। उनका आदर करनेके लिए दवा ले लेता हूँ किन्तु उनका सेवन नहीं करता हूँ।' मुझे स्मरण है कि भाईजी 'लक्ष्मी-विलास' और 'संजीवनी' नामकी आयुर्वेदिक औषधि समय-समयपर लेते थे और आवश्यकता पड़नेपर मुझे भी दिया करते थे। उनकी मीठी-मीठी बातें कई बार रोगको भगा देती थी।

भीतरसे एक बाहरसे दो!

सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दकाका हृदय न्यायप्रिय था। भाईजीके जीवनमें दया और सहानुभूतिकी प्रधानता थी। सेठजी भी भगवन्नामका कीर्तन करते, विशेष करके एकादशीके दिन। कीर्तन करते-करते कभी गिर पड़ते थे। बड़े जोरसे ठहाका लगाकर हँसा भी करते थे। लोक-संग्रह उनका मुख्य ध्येय था। परन्तु,

भाईजी नाम-संकीर्तन करते-करते विह्वल हो जाते और उनके अंग-प्रत्यंगमें सात्त्विक भावका उदय हो जाता। बहुत आवश्यक होनेपर सेठजी और भाईजी सलाह कर लिया करते थे। कभी-कभी तो भीतरसे दोनों एक रहते थे, बाहरसे दो हो जाते थे। जैसे—एक सरकारी पक्षका साथ दे रहा हो, दूसरे विरोधी पक्षका। इस प्रकार गीता प्रेस एवं 'कल्याण'का किसी-न-किसी पक्ष द्वारा सुचारु-रूपसे कार्य-सम्पन्न हो रहा था।

महात्मा गाँधीका पत्र—

कल्याण-सम्पादनके कार्यालयमें एक अत्यन्त सज्जन एवं विद्वान् पुरुष काम करते थे। उनको हम लोग कृष्णदास दादाके नामसे पुकारते थे। उनका पहले कुछ दूसरा नाम था। महात्मा गाँधीके सान्निध्यमें रहा करते थे। उन्होंने महात्मा गाँधीके सम्बन्धमें अंग्रेजीमें दो ग्रन्थ लिखे थे—जिनका नाम था 'सात वर्ष,' 'सात वर्ष'। महात्माजीके प्रति उनके हृदयमें बहुत श्रद्धा एवं प्रीति थी। एक बार वही स्वप्न आया कि महात्मा गाँधीकी आयु बहुत थोड़ी शेष रह गयी है। उन्हें भगवान्का नाम लेना चाहिए। भाईजीसे सलाह हुई और निश्चय हुआ कि इस विषयमें महात्माजीको एक पत्र लिखा जाय। भाईजीने पत्र लिखा। उसके उत्तरमें महात्मा गाँधीने लिखा था—जिसका आशय कुछ ऐसा था—

'राम नाम तो मेरे जीवनका सर्वस्व है। श्वास-श्वासमें मैं रामका नाम लेता हूँ—यह तो ठीक है। किन्तु मृत्यु समीप आजाने या मृत्युके भयसे राम-नाम लेना चाहिए—यह बात मुझे नहीं जँची। राम-नाम तो मेरी खुराक है, भोजन है। इसके बिना तो मैं जी ही नहीं सकता। कृष्णदासका मुझसे बहुत प्रेम है इसीलिए उसको मेरे विषयमें ऐसा स्वप्न आया होगा।'

भागवतांकके लिए महात्मा गाँधीका सन्देश—

'कल्याण'का श्रीमद्भागवतांक छप रहा था। सभी सत्पुरुषों, आचार्यों, महात्माओंसे उनके आशीर्वाद, सन्देश प्राप्त किये जा रहे थे। महात्मा गाँधीसे भी प्रार्थना की गयी। भाईजीने स्वयं पत्र लिखा। महात्मा गाँधीने अपना सन्देश कुछ इस आशयका दिया था।

'मैंने अपने बड़े भाई पण्डित मदनमोहन मालवीयके द्वारा जबसे श्रीमद्भागवत-श्रवण किया है, तबसे मेरे हृदयमें 'धर्म-रसकी' उत्पत्ति हो गयी है। वैसे धर्ममें निष्ठा तो पहलेसे ही थी। किन्तु, श्रीमद्भागवत-श्रवणसे ऐसा निश्चय हुआ है कि धर्ममें बहुत रस है।'

महात्माजीके इस सन्देशसे भाईजीको बहुत प्रसन्नता हुई।

लार्ड विष्णु!

भाईजी इतने सहृदय थे कि अयोग्य-से-अयोग्य व्यक्तिसे भी सद्व्यवहार करके कुछ-न-कुछ उससे लोककल्याणकारी कार्य करवा लेते थे।

एक थे पण्डित विष्णुदत्त। गोरखपुर, देवरिया जिलेके किसी गाँवमें उनका जन्म हुआ था और अनेक भाषाके अच्छे विद्वान् होकर वे अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरीमें रहने लगे थे। कुछ समयके बाद उनका मन वहाँसे उचट गया और भाईजीके पास आगये। उनका ऐसा विचित्र आचरण था कि लक्ष्मी-नारायणके चित्रपर लक्ष्मीजीका स्वरूप कागजसे ढक दिया था। ऐसा क्यों किया, पूछनेपर बतलाया करते थे कि स्त्रीकी ओर नहीं देखना चाहिए, ऐसा सेठ जयदयाल गोयन्दकाका मत है। इसीलिए मैं स्त्रीको नहीं देखता। वेशभूषा भी विचित्र ही थी। वे पहले तो अपने नामके साथ 'लार्ड' लगाते थे—लार्ड विष्णु! किन्तु जब हिटलरका युग आया तो उन्होंने 'हर हिटलर'के जैसे 'हर विष्णु' लिखना शुरू कर दिया। हमलोग तो उन्हें आधा पागल ही समझते थे। परन्तु, भाईजी उन्हें अपने पास बैठाकर बातचीत करते और भिन्न-भिन्न भाषाओंसे अनुवाद करवाकर 'कल्याण'के सम्पादनमें उपयोग करते थे। ऐसे व्यक्तिसे काम ले लेना भाईजीके महान् कार्य-कौशलका ही उदाहरण था।

मौनी महात्मा—

गीता-वाटिका, गोरखपुर नगरसे थोड़ी दूर रेलवे लाइनके पास बगीचे, खेत और गाँवके परिकरमें है—उन दिनों बहुत ही एकान्त एवं शान्त था। एक दिन कोई अपरिचित सज्जन आये। गौरवर्ण, युवावस्था, श्वेत वस्त्र, अत्यन्त दुर्बल गात्रयष्टि। भाईजीसे एकान्तमें कुछ बातकी होगी—मुझे कुछ स्मरण नहीं है। उन्हें एक फूसकी कुटियामें ठहरा दिया गया। उनका नाम, ग्राम, जाति, प्रान्त किसीको मालूम न था। अपने ठाकुरजीकी पूजा करते थे। परन्तु, किसीको उन्होंने अपने ठाकुरजीका दर्शन नहीं कराया। बोलते नहीं थे, लिखते भी नहीं थे। इस अद्भुत महात्माको लोग बहुत कौतूहलकी दृष्टिसे देखते थे। वे भजनमें मगन रहते, लीन रहते, न ऊधोका लेना, न माधोका देना। कथा-कीर्तनमें आते-जाते नहीं थे। सम्भवत: किसीकी ओर देखते नहीं थे।

किसी दिन इनके ठाकुरजीको भोग लगानेके लिए जो किशमिश भेजी गयी, वह स्वच्छ नहीं थी। कुछ गीली-गीली-सी थी और किशमिशके ही छोटे-छोटे तिनके उनमें थे। वे हाथमें किशमिश लिये भाईजीके पास गये। मेरे प्यारे-प्यारे

कोमल-कोमल सुकुमार ठाकुरजीके लिए ऐसी किशमिश!—टूटी फूटी हिन्दीमें लिखकर भाईजीको दे दिया।

भाईजी तुरन्त उनकी कुटियामें गये और सब व्यवस्था ठीक-ठीक कर दी।

गीध स्तुति सुनते हुए मौनी महात्माका शरीर त्याग!

वे महात्मा वर्षोंतक यहाँ रहे। किसीसे बात नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं। एक दिन उनकी कुटियाके सामनेसे कोई जा रहा था। उनको इशारेसे बुलाया। उनका आदर तो सभी करते थे। वे जाकर उनके सामने खड़े हो गये। श्रीरामचरितमानसका छोटा-सा गुटका उसके हाथमें दिया। जटायुकी मृत्युका प्रसंग निकालकर संकेत दिया कि इसे पढ़ें, बैठ गये। पढ़ने लगे।

गीधकी स्तुति सुनते-सुनते उनमें सात्त्विक भावका उदय हुआ। उनकी आँखोंसे आँसू तो हमेशा ही गिरते रहते थे। परन्तु, उस समय तो अखण्ड धारा गिरने लगी। स्तुति सुनते-सुनते जैसे उन्होंने हाथ जोड़कर श्री सीतारामको प्रणाम करनेके लिए सिर झुकाया हो। धरतीपर गिर पड़े और उनका शरीर छूट गया. पाठ करनेवालेने किसीको सूचना दी—हम सब लोग इकट्ठे हो गये। भाईजीने उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी। वह स्तुति श्रीरामचरित मानसके अरण्यकाण्डमें इस प्रकार है—

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
दससीस बाहु प्रचंड खंडन चंड सर मंडन मही॥
पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि रामुकृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनं॥ १॥
बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं।
गोबिंद गोपर द्वंद्वहर विग्यानघन धरनीधरं॥
जे राम मंत्र जपंत संत अनन्त जन मन रंजनं।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खल दल गंजनं॥ २॥
जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
सो प्रगट करुना कंद सोभा वृंद अग जग मोहई।
मम हृदय पंकज भृंग अंग अनंग बहु छवि सोहई॥ ३॥
जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।
पस्यंति जं जोगी जतन करि करन मन गो बस सदा॥
सो राम रमा निवास संतत दास बस त्रिभुवन धनी।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी॥ ४॥

विनम्रता—

मुझे न तो सन्-सम्वत्‌का स्मरण रहता है और न तो काल-क्रमका। जैसे, जो जब स्मृति-पथपर छलकता हुआ आजाता है, लिख, लिखा देता हूँ।

एक बारकी बात है, रतनगढ़ (राजस्थान)की हवेलीमें हमलोग 'कल्याण'-परिवारके कई सदस्य बैठे हुए थे। छोटा-सा कमरा, मुख्य द्वारके दाहिनी ओर पड़ता था। एकाएक भाईजी आगये। गोस्वामीजी, माधवजी, देवधरजी हम सभी उठकर खड़े हो गये। भाईजी बोले—'मनुष्य ही तो आ रहा है, कोई भूकम्प तो नहीं आरहा है। कोई कभी अपनेसे बड़ा आजाय, तो उसको देखकर खड़ा होना चाहिए; परन्तु घरके एक साथ रहनेवाले सदस्योंको इतना अधिक शिष्टाचार करनेकी आवश्यकता नहीं।' भूकम्पका नाम सुनकर हम सब लोग हँस पड़े थे और स्वयं भाईजी भी हँस पड़े थे। वे व्यवहारमें कभी भी अपना बड़प्पन नहीं दिखाते थे।

श्रीशुकदेव बाबू—

ये गीताप्रेसके कोषाध्यक्ष थे। भाईजीने इनको संकेत कर रखा था कि जब पण्डितजी (मेरे लिए) कहीं जाने लगें तो इनके मार्ग-व्यय आदिकी व्यवस्था तुम कर दिया करना। वे सर्वदा ही ऐसा करते थे। जानेके समय पर्याप्त रुपये दे देते। मैं गिनता नहीं था। लौटनेपर जो बचा होता वह उनको सौंप देता था। उन दिनों जेब कटनेका उतना डर नहीं था, जितना आजकल है। इस प्रसंगमें मुझे स्मरण है कि जब कभी भगवच्चर्चा होती, तो शुकदेव बाबू भक्तिभावके उद्रेकसे व्याकुल हो जाते थे। आँखोंमें आँसू, शरीरमें रोमाञ्च, अत्यन्त भावविह्वल! मुझे उनका यह भक्तिभाव बहुत प्रिय था और मैं उनका बहुत आदर करता था।

गीताप्रेसकी स्पेशल तीर्थयात्रा ट्रेन निकली तब उसमें शुकदेव बाबू तो खजाञ्चीके रूपमें गये ही; सेठजी मुझे भी ले गये थे। शुकदेव बाबू भाईजीके अनन्य भक्त थे और इसी कारण सम्भवतः मुझसे भी उनका बहुत स्नेह था। यात्राके आरम्भमें ही उन्होंने मुझे सौ रुपये दे दिये। परन्तु, कुछ ऐसी घटना घटी कि इलाहाबाद पहुँचनेपर मेरे एक सम्बन्धीने अपनी अनिवार्य आवश्यकता बताकर मुझसे अठानबे (९८) रुपये ले लिये! परन्तु, यह बात मैंने शुकदेव बाबूको नहीं बतायी। किसी स्टेशनपर ट्रेन रुकती, मैं बाहर नहीं जाता। ट्रेनपर ही स्नान-सन्ध्या करके भजन करता। शुकदेव बाबूने यह बात ताड़ ली। किसी स्टेशनपर गाड़ी खड़ी होती, तो वहाँकी आवश्यकताके अनुसार वे दस-पाँच रुपये मुझे दे दिया करते। तब मैं अपने पूर्व नियमानुसार जो बचता, उसे वापिस कर देता। वे बहुत

हँसते थे और बारम्बार भाईजीकी चर्चा करके प्रसन्न हुआ करते थे। भाईजीके अनुयायियोंमें उनका व्यक्तित्व एक अलौकिक भक्तिभावसे परिपूर्ण था।

श्रीजयदयाल कसेरा—

भाईजीके प्रगाढ़ मित्रोंमें एक श्रीजयदयाल कसेरा भी थे। भाईजीसे खूब हास्य-विनोद किया करते थे। 'भाईजी आपको भगवान्‌का दर्शन हो गया है, आप यह काम क्यों करते हैं, वह काम क्यों करते हैं'—ऐसा कह दिया करते थे। उनकी निष्ठा इतनी दृढ़ थी कि मोटर-दुर्घटनामें पुत्रकी मृत्यु हो जानेपर जब पुलिसने फोन किया; तब उन्होंने पूछा कि वह मर गया या जीवित है। पुलिसवाले बतलानेमें हिचकिचाते थे। उन्होंने कहा, 'देखो भाई, यदि मर गया हो, तो मैं श्मशान ले चलनेकी तैयारी करके आऊँ। सम्बन्धियोंको सूचना देकर आऊँ और यदि जीवित हो, तो हॉस्पिटल ले चलनेके लिए सब प्रबन्ध करके आऊँ! मुझे सच-सच बता दो!' जब उन्हें बतलाया गया तब वे भगवन्नामका कीर्तन करने लगे—'जय राम हरे, सुखधाम हरे, जय जय प्रभु दीनदयाल हरे!'

एक अवसरपर उन्होंने जजकी अदालतमें इन्हीं नामोंका ऊँचे स्वरसे उच्चारण करना शुरू कर दिया। लोगोंके मना करनेपर उन्होंने कह दिया कि मैं तो धर्मराजकी अदालत समझकर आया था। मुझे क्या मालूम कि यह दुर्योधनका दरबार है। वे बड़े स्पष्ट-भाषी एवं दृढ़-निश्चयी पुरुष थे।

कसेराजीने सुनाया था कि एकबार कलकत्तेमें उनकी कोठीपर दो साधु आये। भिक्षा करायी गयी। जानेसे पहले वे बैठ गये, बोले—'हमने तुम्हारा अन्न खाया है, बिना कुछ दिये नहीं जायेंगे। हमारी यह बात याद रखना। मृत्युमें दो अक्षर हैं और अमृतमें तीन अक्षर हैं। 'मम'का नाम मृत्यु है और 'निर्मम'का नाम अमृत है। जिसके मनमें जितनी ममता होगी, वह उतना ही दुःखी, बद्ध और मृत्युके भयसे ग्रस्त रहेगा। जो जितना निर्मम रहेगा, वह उतना ही सुखी, बुद्धिमान एवं निर्भय रहेगा। वे अपने शरीरको 'घोड़िया' या 'खोलिया' कहा करते थे।

जब गोरखपुर-बस्ती जिलोंमें बहुत बड़ी बाढ़ आयी थी, कोसोंतक पानी-ही-पानी दीखता था; तब बाढ़-पीड़ितोंकी सहायता करनेके लिए नावसे हम लोग गाँवमें गये थे। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, जयदयाल कसेरा, घनश्यामदास जालान, मैं और साथमें कई और भी लोग थे। एक जगह दस-पन्द्रह गज लम्बा पुल टूट गया था। पानी वेगसे बह रहा था। नाव वहाँसे पार नहीं हो सकती थी। गाँववालोंने उस पुलकी जगहपर एक 'ताड़'का वृक्ष, पुलकी तरह लगा दिया था। तीव्रधारा देखकर सब लोग डरने लगे। जयदयाल कसेराने, 'जयराम हरे सुखधाम

हरे'का उच्चारण किया और दोनों हाथ उठाकर, ताड़के वृक्षके पुलसे पार हो गये, उनके पीछे भाईजी, भाईजीके पीछे मैं पार हो गया। परन्तु, घनश्यामदास जालान बहुत लम्बा रास्ता पार करके तब उस पार पहुँचे। भाईजीके सत्संगसे कसेराजीमें इतनी निर्भयता आगयी थी। पहले तो कसेराजीके पास बहुत सम्पदा थी। उनके मनमें (यह योजना बनी कि) लच्छीरामजी चूड़ीवाले और चिरञ्जीलाल लोयलकाके साथ मोटर एवं बसोंमें सारे भारत-वर्षकी यात्रा की जाय। विद्वान् वक्ता साथ रहें। गाँव-गाँवमें सनातन-धर्मका प्रचार किया जाय। परन्तु ईश्वरको यह मंजूर नहीं था। संकल्पपूर्तिमें विलम्ब हो गया। उनकी सम्पत्ति क्षीण हो गयी परन्तु; ईश्वरपर विश्वास एवं धर्म-निष्ठा बढ़ती गयी।

जब गीताप्रेसकी पहली तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन तीन महीनेके लिए तीर्थ-परिभ्रमणके लिए निकली थी, तब उन्होंने भाईजीसे सलाह लेकर ही तीर्थयात्रा आरम्भ की थी। संगमें विधवा पुत्र-वधू एवं ठाकुर नौकर थे। राजस्थानमें ठाकुर रसोइयेको कहते हैं और वह ब्राह्मण होता है। परिस्थिति विषम होनेपर भी मेरे खान-पान-परिधानका तीन महीने तक उन्होंने ही ध्यान रखा। एक पूरी 'बर्थ' (जो सोने भरकी होती है) मेरे लिए दे दी गयी थी और प्राय: हम लोग दिन-रात साथ ही रहते थे। सत्संगकी खूब जमकर चर्चा होती। सेठ श्रीजयदयालजीके अनुसार वेदान्तको वे अच्छा समझते थे। भाईजीपर उनकी ऐसी श्रद्धा थी, कि भाईजी एक उच्च कोटिके सत्पुरुष हैं, उदार हैं, सज्जन हैं। वे भाईजीसे कई प्रकारके हँसी-विनोद भी किया करते थे और भाईजी भी उनके साथ खुलकर मिलते, व्यवहार करते। कसेराजीकी चर्चा मैं किसी अलग निबन्धमें करूँगा।

श्रीज्वालाप्रसाद कानोड़िया—

कानोड़ियाजी मारवाड़ी-समाजके प्रतिष्ठित पुरुषोंमें-से एक थे। गीताप्रेसके ट्रस्टी एवं भाईजीके पुराने मित्र। प्राय: भाईजी कलकत्तामें उनके यहाँ ठहरते। सम्भवत: एक बार अलगसे भी उनके यहाँ ठहरा। पूरा स्मरण नहीं है। इस निबन्धके लिखते समय प्राय: पचास वर्ष पूरे हो रहे हैं। कानोड़ियाजीको खिलाने-पिलानेका बहुत शौक था। तरह-तरहके व्यञ्जन बनवाते और अतिथियोंको खिलानेका खूब आनन्द लेते।

उन दिनों कलकत्तामें, हिन्दू मुसलमानोंका दंगा चल रहा था। वहाँके नेता लोग, मोहल्लेमें जा-जाकर, लोगोंको शान्ति रखनेके लिए समझाया-बुझाया करते थे। मैं भी, भाईजी एवं ज्वालाप्रसाद कानोड़ियाके साथ इसी कामके लिए शहरमें गया था। मैं समझाता तो क्या, भाईजी स्नेहकी अधिकताके कारण ही मुझे साथ ले

गये थे। मुझे मोटर-गाड़ीमें नींद आगयी। मैंने एक स्वप्न देखा। वह स्वप्न इस प्रकार था—

ज्वालाप्रसाद कानोड़ियाने मुझे अपने घरमें आग्रह करके बहुत भोजन करवाया। मेरा पेट फट गया और मैं मर गया। मेरी अर्थी सजायी गयी और हावड़ा पुलके नीचे गंगाजीके तटपर चितामें मेरा शरीर जलाया गया। धू-धू करके चिता जल रही थी और सेठ जयदयालजी गोयन्दका, भाईजी, जयदयाल कसेरा, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया एवं बद्रीदास, रामचन्द्र गोयन्दका मेरे सम्बन्धमें चर्चा कर रहे थे। मरनेपर अपनी प्रशंसा खूब सुनी। एकाएक ध्यान आया कि मैं तो मर चुका हूँ, शरीर चितापर जल रहा है। मैं देख रहा हूँ और सुन रहा हूँ; फिर यह मरा कौन? इसी बीचमें भाईजीने कन्धा हिलाकर जगा दिया और मोटर हावड़ा पुलपरसे गुजर रही थी। मैंने अपना स्वप्न बताया। भाईजीने बताया कि आपकी आयु बहुत लम्बी है, जिसको ऐसा स्वप्न आता है, उसकी आयु बहुत लम्बी होती है। सचमुच भाईजीकी भविष्यवाणी सच हुई, अबतक मैं जीवित हूँ।

लड़कीका विवाह—

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मेरा परिवार परम्परासे ही कट्टर सनातन-धर्मी रहा है। जैसे ब्राह्मण-कुमारका आठ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत संस्कार होना चाहिए और गुरुकुलमें जाकर अध्ययन करना चाहिए, वैसे ही लड़कीका विवाह भी रजोधर्म होनेके पूर्व ही हो जाना चाहिए। लड़कीके लिए वही गुरुकुल है और वहाँका पारम्परिक आचार-विचार सीखना ही अध्ययन है। गृहस्थीका निर्वाह ही अग्निहोत्र एवं गुरु-सेवा है। मेरे मनमें भी वैसा ही संस्कार था। एक पुत्री थी कमला, उसका विवाह करना आवश्यक था। मालूम हुआ कि बलियाके पण्डित श्रीपरशुराम चतुर्वेदीके पुत्र हैं, योग्य सुन्दर एवं सुशील हैं। भाईजीने एक चिट्ठी लिखी और मैं लेकर उनके पास गया। भाईजीने अपने सौजन्य एवं उदारतासे पत्रमें ऐसे शब्द लिखे थे जो मेरी और कमलाकी प्रशंसाके अत्यन्त सूचक थे। जो गुण हममें नहीं थे उनका भी उल्लेख भाईजीने किया था। फिर क्या था, चतुर्वेदीजी एवं श्यामसुन्दर उपाध्याय (सेक्रेटरी साहब)ने तुरन्त सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और भाईजीने विवाहकी व्यवस्था कर दी। यह ध्यान देने योग्य है कि भाईजीके पास बहुत धन नहीं था। केवल गृहस्थाश्रमका निर्वाह ही होता था; परन्तु उन्होंने अपने किसी मित्रसे कहकर विवाहमें होनेवाले व्ययकी व्यवस्था करवा दी। वैसे मैंने गीताप्रेस, कल्याणसे अपने लिए कभी कुछ धन नहीं लिया था। विवाहमें कल्याण-परिवारसे पण्डित भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' एवं पण्डित श्रीदेवधर शर्माको भाईजीने भेजा था।

श्रीदेवचन्द वर्मा—

जब मैं गोरखपुर, कल्याण-परिवारमें रह रहा था, तब इन्दौरसे एक सज्जन पधारे। युवावस्था, दुबले-पतले, मृदुभाषी। वे भारतवर्षकी बड़ी लम्बी यात्रा करके (दक्षिणसे उत्तरतक) वहाँ आये थे। उन्होंने अपने इतनी यात्राका एक विलक्षण उद्देश्य बताया।

उनका कहना था, वे पाँच-सात मित्र मिलकर प्रतिदिन रात्रिके समय भगवन्नाम-संकीर्तन किया करते थे। एक दिन आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। बारह बजे रात्रिके समय एक विमान आया। उसके द्वारपर एक हृष्ट-पुष्ट देव-पुरुष खड़े थे। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम हाथ-पाँव धोकर विमानमें आ जाओ। मैंने वैसा ही किया। विमानमें नब्बे (९०) आसन लगे थे, जिसमें दो मुख्य थे। बुलानेवाले पुरुषने कहा—'देखते रहो।' एक-एककर उस विमानमें विलक्षण सन्त आने लगे। सभी सम्प्रदायोंके, सभी जातियोंके। योगी अरविन्द, रमण महर्षि, उड़िया बाबा, हरि बाबा, अच्युत मुनि, जयदयाल गोयन्दका। गणनामें नब्बे सन्त आये। लोक-व्यवहारमें परस्पर विरोधी एवं एक दूसरेका खण्डन-मण्डन करनेवाले। अन्ततोगत्वा भगवान् श्रीराम-कृष्ण भी आये। पुराने ऋषि-महर्षि भी पधारे। देवचन्द वर्माने बताया—'मुझे जब परिचय कराया गया तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। सन्तोंमें कुछ बहुत प्राचीन, कुछ नवीन एवं जीवित पुरुष भी थे। वे सब बड़े प्रेमसे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे। मैंने परिचय करानेवाले पुरुषसे पूछा—'ये लोग व्यवहारमें तो परस्पर कहीं मेल-मिलाप करते हुए नहीं दीखते। यह सब एकत्र कैसे हुए हैं?'

परिचय करानेवाले पुरुषने बताया कि मतभेद तो बाहरी है। परमार्थमें किसीका किसीसे कोई मतभेद नहीं है। विविध प्रकारके अधिकारियोंको भिन्न-भिन्न युक्तियोंके द्वारा, एक ही परमात्माकी ओर ले जाना सबका उद्देश्य है। कोई पाश्चात्य संस्कारसे संस्कृत लोगोंको, कोई किसानोंको, कोई मूर्खोंको, कोई पण्डितोंको भगवान्‌की ओर ले जानेका निश्चय करके कार्य कर रहे हैं। सब एक ही तराजूके चट्टे-बट्टे हैं। भीतरसे मेल है, बाहरसे मतभेदका खेल है। इस प्रकार सभी सन्त अधिकारियोंके भेदसे विलक्षण मार्गका निर्देश करते हैं और अन्तर्देशमें प्रवेश कराते हैं।

देवचन्द वर्माने बताया कि उस दिनतक मैंने किसी भी सन्तका दर्शन नहीं किया था। आश्चर्यके साथ मैं योगी अरविन्द, रमण महर्षि, उड़िया बाबा, हरि बाबाका दर्शन करके यहाँ आया हूँ। यहाँ भी वही सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दका हैं, वही भाईजी हैं! विमानमें सब अपूर्व दर्शन हुए थे और वे ही अब बाहर देखनेको मिल रहे हैं।

देवचन्द वर्माने आगे कहा—'मुझसे एक गलती हो गयी। मुझसे कहा गया था कि यह बात किसीको बताना नहीं। परन्तु, विमानसे उतरते ही मैंने अपने मित्रोंको खुशी-खुशीके जोशमें यह बात कह दी। फलतः मुझे फिर ऐसा दर्शन नहीं हुआ।'

देवचन्द वर्मा बहुत वर्षोंतक कल्याण-परिवारमें रहे। मैं बोलता था; वे लिखा करते थे। भाईजीके प्रति उनकी अनन्य भक्ति और मेरे प्रति बहुत प्रीति थी। कुछ ही वर्ष पहले अभी उनका गोलोकवास हुआ है।

देवचन्द वर्मा मेरे साथ बहुत वर्षोंतक रहे और बार-बार इसकी चर्चा होती रही। सन् १९४०के आस-पास जो प्रयागमें कुम्भ मेला लगा था, उसमें हम दोनों साथ-साथ थे और वृन्दावनसे प्रकाशित होनेवाली 'सुदर्शन' पत्रिकामें यह घटना मैंने लिखी थी। सन्त लोग बाह्यरूपमें कितने भी भिन्न-भिन्न दीखते हों, आन्तर रूपमें एक होते हैं और सूक्ष्मरूपसे तीन महीनेमें एकबार विमानमें एकत्र होकर पारस्परिक विचार-विमर्श करते हैं, यह बात वर्माजीने मुझसे कही थी।

कहीं कब्र है, कब्र—

मैं कल्याण-परिवारसे, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका दर्शन करनेके लिए बार-बार आया करता था। एकबार कर्णवासमें उन्होंने मुझसे पूछा कि कल्याणके संस्थापक, प्रकाशक, सम्पादक आदिके विचार-व्यवहार कैसे हैं। मैंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसपर बाबाने एक कहानी सुनायी।

बाबाने कहा— एक था फकीर। वह भिक्षा माँगनेके लिए गाँवमें जाता तो पूछता—'कहीं कब्र है, कब्र?' वह भिक्षा लेकर चला जाता था; लेकिन उसकी बात कोई नहीं समझता था। एक विचारवान् सद्‌गृहस्थने उसकी बात समझ ली।

उसने फकीरसे पूछा—'कहीं मुर्दा है, मुर्दा?'

फकीरने अपने शरीरकी ओर संकेत करके कहा—'यह मुर्दा है।'

सद्‌गृहस्थने अपने घरकी ओर संकेतकर कहा—'यह कब्र है!'

फकीर सद्-गृहस्थके घरमें प्रविष्ट हो गया और वहीं रहने लगा।

फकीर अपनी कुटियामें मौन रहकर भजन करता। रोटी-पानी समयसे मिल जाता। न ऊधोका लेना, न माधोका देना। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये। ईश्वरका ऐसा अनुग्रह हुआ कि एकदिन रात्रिके समय सद्-गृहस्थके घरमें चोर आये। उन्होंने हीरा-मोती, सोना जो गृहस्थके घरमें आभूषणके रूपमें था—पेटी ही प्राप्त कर ली। गृहस्थ बेफिक्र सो रहे थे। फकीर जाग रहा था। उसने देखा कि जिसके घरमें रहकर मैंने बारह वर्ष अपना निर्वाह किया है, मेरे देखते-देखते उसके घरमें चोरी हो जाय, यह ठीक नहीं है। पर वह कर भी क्या

सकता, गृहस्थ जगें, मारपीट हो। फकीरने किसीको कुछ कहा नहीं, चुपचाप चोरोंके पीछे हो लिया। जब चोर जंगलके रास्ते जाने लगे, तब फकीरने अपनी लंगोटी फाड़-फाड़कर वृक्षोंमें स्थान-स्थानपर चिह्न लगा दिये। चोरोंने पेटी एक कुएँमें डाल दी। फकीर देखकर लौट आया। दूसरे दिन गृहस्थको सब बताया। माल मिल गया। गृहस्थने चोरोंको पकड़वानेका कोई प्रयास नहीं किया।

दोपहरके समय, भोजन विश्रामके पश्चात् गृहस्थ फकीरके पास आया और विनयके साथ बोला—'महाराज! कब्र सच्चीकी मुर्दा सच्चा?' फकीरने कहा—'भाई, कब्र सच्ची है, मुर्दा झूठा है।'

उसीदिन फकीर वहाँसे कहीं अज्ञात देशमें चला गया।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजका संकेत यह था कि कल्याण परिवारके लोग अच्छे हैं। उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे यह उद्गार प्रकट किया—'हनुमानप्रसाद सच्चे भक्त हैं। उनके हृदयमें भक्ति देवीकी प्रतिष्ठा है। परन्तु, फकीर! मुर्दा झूठा है।'—उनका अभिप्राय था कि मेरी कहीं वहाँ आसक्ति न हो जाय। इसे, मैंने बाबाका अपनेपर बहुत अनुग्रह और स्नेह अनुभव किया कि वे मुझे एक उच्चकोटिके महात्माके रूपमें देखना चाहते हैं और मैंने मनमें संन्यास लेनेका संकल्प कर लिया। तभीसे मन-ही-मन संन्यास लेनेकी तैयारी चलने लगी। भाईजी इस बातको भली-भाँति समझते थे। उन्होंने अपने संन्यासके लिए उपलक्षणके रूपमें एक कमण्डलु भी रख छोड़ा था।

उन दिनों कल्याणके विशेषांकके रूपमें 'संक्षिप्त महाभारत' प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ था। संक्षेप करते थे सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका घनश्यामदासजी जालान। वे चिह्न लगाते जाते थे और सरल भाषामें मैं उसका अनुवाद करता जाता था। 'आदिपर्व' एवं 'सभा-पर्व'का अनुवाद मैंने कर दिया था। मेरे चित्तमें एक ग्लानि थी कि वे लोग कहीं-कहीं महाभारतमें नियोग आदिका प्रसंग आनेपर पच्चीस-पचास अध्यायतक निकाल देते थे। मैंने काशीके म० म० पण्डित श्रीविद्याधर गौड़से एवं श्रीकरपात्रीजी महाराजसे भी सलाह की। हमलोग महाभारतके सभी प्रसंगोंसे सहमत थे, उनके महत्त्वको स्वीकार करते थे। यथासम्भव हम देश, काल, अधिकारी, व्यक्ति, शक्ति, वय, परिस्थिति, दैव, मनुष्य-योनिके भेद आदिके द्वारा सभी प्रसंगोंकी संगति लगा लेते थे। हमारी बुद्धि अब भी ज्यों-की-त्यों है। यहीं तक नहीं, महाभारतका प्रत्येक प्रसंग भविष्यके लिए भी उपयोगी है, ऐसा हम लोगोंका मत था। श्रीभाईजीसे इस विषयमें सलाह करनेपर वे उदासीन हो जाते थे, क्योंकि वे सेठजीके किसी विचार या क्रिया-

कलापमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। मैं ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामीश्री ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराजके पास आया और संन्यास ग्रहण कर लिया। संन्यासकी पृष्ठभूमि पहलेसे तैयार थी और संन्यास ग्रहणके दिन ही रात्रिमें मुझे अपने पिता-पितामहका स्वप्नानुमोदन प्राप्त हुआ। मैं मध्यप्रदेशके कटनीके आस-पास एक नालेके निकट जाकर रहने लग गया। श्रीभाईजीको सूचना दे दी।

जब मेरी माताजीको ज्ञात हुआ कि मैं संन्यासी हो गया हूँ—तब वे भाईजीके पास गोरखपुर गयीं। दु:खी हुई। भाईजीने उन्हें बहुत सान्त्वना दी। भाईजीने समझाया कि कोई साधारण व्यक्ति संन्यास ले लेता, तो मैं उसको पुन: लौटाकर घरमें रख सकता था; परन्तु, वे विद्वान् हैं। 'कल्याण'में उनके कितने लेख प्रकाशित हुए हैं। सारा भारत-वर्ष उन्हें जानता है। यदि मैं आग्रह करके उन्हें लौटानेका प्रयास करूँगा, तो उनके यशस्वी जीवनमें बाधा पड़ेगी। लोग निन्दा करने लगेंगे। माताजीने यह बात सुनकर तुरन्त कह दिया—'नहीं-नहीं, ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिससे उसकी बदनामी हो। मैं भी घरबार छोड़ दूँगी। संन्यासिनी हो जाऊँगी, परन्तु उसके जीवनमें ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए, जिससे अपयश हो।' माताजी सन्तुष्ट होकर घर लौट आयीं। भाईजीने पुत्रीके विवाह और पुत्रके पढ़नेकी व्यवस्था पहले ही कर दी थी।

मेरे बायें कानसे पीप निकला करती थी। श्रीबिपिनचन्द्र मिश्र, जो बादमें दिल्ली हाईकोटके जस्टिस हुए, यथाशक्ति चिकित्सा करवाते रहे। इरविन हॉस्पिटलके डॉ० हंसराजने भी बहुत प्रयास किया; परन्तु कोई सुधार नहीं हुआ। भाईजीने अपना आदमी भेजकर मुझे गोरखपुर बुलाया। जहाँ मैं उनकी जाँघपर अपना सिर रख देता और वे अपने हाथसे कानमें दवा डालते, तो हँसते-हँसाते हुए कहते कि देखो, मैं आपका कान पकड़ रहा हूँ। मैं कई महीनेतक गोरखपुरमें रहा। श्रीमद्भागवतका विशेषांकके रूपमें, जो भागवतका अनुवाद, पहले प्रकाशित हो चुका था, उसमें कुछ हेर-फेर करके, मूल श्लोकोंके साथ बैठाया। बादमें श्रीभाईजी अपनी पत्नीके साथ गाँठ जोड़कर 'सप्ताह' श्रवण करनेके लिए बैठे और जेलके पीछे परमेश्वरलालने जो भूमि-खण्ड लिया था, उसमें बड़े धूम-धामसे श्रीमद्भागवत हुआ। भाईजीके कलकत्ता, बम्बई आदिके भक्त आये थे। जब मैंने प्रथम दिन माहात्म्यका श्रवण कराया, तो भाईजी सभामें ही उठकर खड़े हो गये और बोले—'इन्होंने मूलमें-से एक अक्षर भी नहीं छोड़ा है।' किसी-किसी दिन दस-दस घण्टे बोला। शामतक आँखमें सूजन आजाती, सुबहतक ठीक हो जाती। कथाके अन्तिम दिन एक सज्जन बीचमें ही उठकर खड़े हो गये और कहने लगे

कि श्रीमद्भागवतमें आपने यह सुनाया कि धर्मके संरक्षण और सम्वर्धनके लिए ही श्रीकृष्णने अवतार लिया था; परन्तु हुआ क्या? उनके वंशके लोग ही धर्म-विरोधी हो गये, परस्पर मारे गये। जिस दिन, जिस क्षण श्रीकृष्णके चरणारविन्द धरा-धामसे उठे, उसी क्षण सारे भारतवर्षमें कलियुगका बोल-बाला हो गया, यह कौन-सी धर्मस्थापना थी?

मैंने उत्तर दिया कि उनका यह चरित्र ही धर्म-संस्थापना है, जो आजतक धर्मके संरक्षण, संवर्धन, संस्थापन, प्रतिष्ठापनमें संलग्न है। यह श्रीमद्भागवत चरित्र-रूप ही धर्मकी संस्थापना है। भाईजीने उठकर उन सज्जनसे कहा कि प्रश्नोत्तर करना हो, तो कथामें मत कीजिये, घरपर आकर कीजिये। कथा निर्विघ्न समाप्त हो गयी।

वहाँ रहते समय भाईजीने एक दिन मुझे ऊपर बुलाया और बोले कि स्वामीजी, अभी मुझे भगवान्‌का निरन्तर स्मरण नहीं रहता है, विस्मरण हो जाया करता है। मैंने कहा कि भाईजी, यह विस्मरण भी तो उन्हींका दिया हुआ है। बस क्या था! इतना सुनते ही भाईजीकी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे और वे भावमग्न हो गये। कहने लगे—'हाँ-हाँ, यह विस्मरण भी तो उन्हींका दिया हुआ है, उन्हींका दिया है!'

भाईजीकी यह स्थिति देखकर मुझे बहुत आनन्द आया। वस्तुतः यही है सच्ची बात। स्मरण-विस्मरण, ज्ञान-अज्ञान ये सब भगवान्‌का ही कृपा-प्रसाद हैं—यदि यह अनुभव हो गया, तो जीवनमें कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। भगवान्‌की लीलाका सर्वत्र दर्शन होने लगता है। सचमुच, भाईजीका यही सिद्धान्त और अनुभव था कि सब कुछ भगवान्‌की लीला ही है, इसमें न जीवका कुछ हाथ है और न जगत्‌की अपनी स्वसत्ता है, लीला ही है, लीला ही है!

❋

नर्मदाके तट पर

रग-रगमें राम-नाम-

कैलाश आश्रम, ऋषिकेशके महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीचेतन गिरिजी महाराज नर्मदा-स्नान करके जबलपुर लौटनेको तैयार थे। उनकी दृष्टि पड़ी-एक नव युवा, स्वस्थ साधु धरतीपर लेटा हुआ है। सामान्यसे वस्त्र, काया कञ्चन-सी। स्वामीजीने डाँटते हुए कहा-'विरक्त हो, जवान हो, स्वस्थ हो। प्रातःकाल भजन करनेका समय है। उत्साह, आशा और दृढ़ताके साथ जीवनके परम एवं चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लग जाना चाहिए। तुम अपनी आयु क्यों गँवा रहे हो।' लेटे हुए साधुने संकेत किया कि 'आप मेरे पास आइये!' स्वामीजी पास चले गये। साधुने कहा-'मेरा हाथ उठाकर आप अपने कानसे लगाइये।' वैसा करनेपर स्वामीजीने सुना-उसके हाथसे राम-नामकी स्पष्ट ध्वनि निकल रही है। साधुके कहनेसे स्वामीजीने सिरपर, छातीपर और अन्ततः चरणोंमें भी कान लगाकर देखा। सर्वत्र ध्वनिमें स्फुटता थी—रा......म......रा......म......रा......म। स्वामीजीने कहा-'बाबा, तुम लेटे रहो। तुम्हें अब भजन करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे स्वरूप, स्वभाव, रग-रग एवं रोम-रोममें 'राम-राम' का अनुराग-रञ्जित राग भर गया है। यही जीवनकी सफलता है। तुम्हारी काया, माया-छायासे मुक्त भगवन्मय हो गयी है।' मैं जब जबलपुर जाता तो कभी-कभी मेरे साथ वृन्दावनके वृद्ध सन्त फूलचोर बाबा, उनसे मिलनेके लिए जाया करते थे।

चोर सन्त—

फुलचोर बाबाका अभी एक-दो वर्षके भीतर ही वृन्दावन-वास हुआ। उनकी आयु सौ वर्षके लगभग हो चुकी थी। गौरवर्ण, अत्यन्त सुन्दर शरीर, बदन पर कहीं मिलावट नहीं, रूईके समान श्वेत केश, लम्बी दाढ़ी। मुझे बहुत प्यारे लगते थे और मुझसे प्यार करते थे। बम्बईका अपना बहुत बड़ा व्यापार छोड़कर आ गये थे। जीवनभर न कुटिया बनायी, न चेला। रातको अपने पास किसीको आने नहीं देते। अकेला! पैसा-कौड़ी पास नहीं। चरण छूनेपर डाँटते, भागते या पीट देते। फोटो नहीं खिंचवाते। अपनी प्रशंसा सुनते नहीं थे। कोई करना चाहे तो, 'तेरी नानी मरे'—कहकर, भगवान्‌की चर्चा करनेको बोलते। उन्हें एक-ही व्यसन था—कहींसे भी अच्छे-अच्छे भूल चुनकर वृन्दावनके श्रीबाँकेबिहारीजी आदि मन्दिरोंमें या रासलीलाके स्वरूपोंके शृंगारमें लगाना। इस फूल-चोरीके अपराधमें, सेठ लोगोंने उन्हें कई बार पिटवाया। परन्तु वे मानते नहीं थे। बगीचेमें नहरके पानी घुसनेके रास्तेमें भी प्रवेश कर जाते। ताले लगाये गये। पहरे बैठाये गये। परन्तु वे फूल चुराने का काम नहीं छोड़ते थे। एक बार उनकी पीठपर लाठी लगी थी। मेरे पास चिल्लाते आये—'देख-देख! तेरे राजमें मेरी यह हालत!' उनके मनमें किसीके प्रति राग-द्वेष, पक्षपात सर्वथा नहीं था।

वृन्दावनसे उनका बहुत प्यार था। पर सत्संग और रासलीलाके प्रलोभनपर वृन्दावनके बाहर भी जाया करते। नियम था, एक घरसे एक रोटी लेना। खड़े-खड़े खाना और पाँच घरों तक जाना। एक बार बम्बई गये। भिक्षाके समय किसीके फ्लैटपर जाकर घण्टी बजायी। स्त्रीने किवाड़ खोलकर बाबाको देखा—डर गयी। झट किवाड़ बन्द करके पुलिसको फोन किया। पुलिस आयी। 'बाबा' पकड़े गये। थानेमें ले जाकर बैठा दिया। थानेदारसे बोले—'बाबा, एक रोटी तू ही दे दे।' खाकर सो गये। जब मेरे सायंकालीन प्रवचनका समय हुआ तब थानेदारसे बोले कि यदि तेरा विश्वास हो तो मुझे प्रवचनमें जाने दे। मैं लौटकर आ जाऊँगा। विश्वास न हो तो तू भी मेरे साथ चल। प्रवचन सुनकर साथ-साथ आ जाना। थानेदारने कह दिया—'बाबा, तुम जाओ। लौटकर आनेकी कोई आवश्यकता नहीं।' हाँ, वे रात-रात भर जगते थे। सन्तोंकी वाणी पढ़ते थे। रातको भी मट्ठा पीते थे और अपने आपमें मुस्कराते रहते थे। कोई-कोई सेवाके लिए जाय तो गाली देते। मार भी देते। भगवान्‌पर इतना विश्वास, इतनी निष्ठा कि ढूँढ़े भी नहीं मिले।

वृन्दावनके इस शतायु सन्तको नर्मदा-तटका 'राम-नामी' सन्त अपनी ओर खींच लिया करता था।

नर्मदा इतनी प्रिय क्यों?

पचास वर्षसे भी अधिक हुए होंगे जब मैंने प्रोफेसर दयाशंकर दूबेका लिखा हुआ 'नर्मदा-रहस्य' पढ़ा था। अमरकण्टकसे खम्भातकी खाड़ीतक, नर्मदाजीके उभय तटवर्ती क्षेत्र कौन-कौनसे हैं? उनमें कहाँ शिवलिंग निकलते हैं? ओंकारेश्वर-मान्धाता क्षेत्र कैसा है? भेड़ाघाट, शुक्लतीर्थ धूँआधार प्रपात पढ़-पढ़कर मनमें कल्पना होती थी कि मैं भी कभी 'मेकल-नन्दिनी' नर्मदाकी पूर्ण परिक्रमा करूँगा। काँटेपर चलकर भी उनके आटे-भाँटेका स्वाद लूँगा। घरसे एक-दो बार भागा भी; परन्तु कोई-न-कोई बाधा आगयी। बहुत साहसकर, कटनीके रास्ते ट्रेनसे एक कस्बेमें गया जहाँसे 'अमरकण्टक'का रास्ता निकलता था। पैदल चलते समय ऐसा भान हुआ, जैसे नर्मदाजी घड़ियालपर बैठकर मेरा स्वागत कर रही हों, मुस्करा रही हों, आशीर्वाद दे रही हों। जब मुझे भूख-प्यास लगी—नर्मदाजीने मुझे भर पेट दूध पिलाया। परन्तु यह क्या? अमरकण्टक पहुँचनेपर स्वागत-सत्कार बन्द। रमाबाईसे दाल-चावल लेकर खिचड़ी पकायी। जब सायंकाल घूमनेके लिए निकला तो मार्कण्डेय-आश्रमके पास एक विचित्र अवधूत मिल गये। गाली-गलौज करने लगे। 'मूर्ख!' तुझे वाराणसीमें गङ्गा-तटपर कोई सन्त नहीं मिला? सत्सङ्ग नहीं मिला? क्यों परिक्रमा करने जा रहा है? लौट जा। जहाँसे तू आया है वहीं बहुत सत्संग है।' उन्होंने कहा—उनका वह श्लोक अब भी कभी-कभी मस्तिष्कमें गूँज उठता है—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्राम्यन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षः भृणु प्रिये॥

शंकरजी पार्वतीसे कह रहे हैं कि तमोगुणी लोग, उस-उसको तीर्थ मानकर भटका करते हैं। उन्हें आत्म-तीर्थका ज्ञान नहीं है। उन्हें मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो? हाँ, तो मैं उस समय वहींसे लौट आया।

धूनीवाले दादा—

श्रीमोकलपुरके बाबाकी मैं बार-बार चर्चा करता हूँ। श्रीगोपीनाथ कविराजके अभिनन्दन-ग्रन्थमें उनका नाम 'टेरीवाले बाबा' लिखा है। वे कहा करते थे कि तप करनेका स्थान तो नर्मदा-तट है। निशीथ-कालमें पाँच मिनटतक नर्मदाजीमें दूधकी धारा बहती है। साधक पुरुष उसको एक बार पी लेते हैं, फिर पूरे दिन-रात अन्नकी आवश्यकता नहीं रहती। वे चालीस वर्ष तक नर्मदा-तटपर रहे थे, एक गुफामें। श्रीधूनीवाले दादाजीका सत्संग और दीक्षा उन्हें प्राप्त थी।

संस्कृत-साहित्यके दिग्गज विद्वान् श्रीलोकनाथ शास्त्री (जबलपुर) बतलाया करते थे कि 'मेरे मन में कवि होनेकी इच्छा थी। धूनीवाले दादाके पास गया। उन्होंने दूरसे देखते ही एक डण्डा मुझपर फेंका। सिर फूट गया, रक्त बहने लगा और मेरे मुखसे कविताकी अजस्र-धारा बहने लगी। श्रीगिरिजानन्दन दूबे जो यह लेख लिखानेके समय यहीं मेरे पास ठहरे हुए हैं, तीन वर्षकी अवस्थामें मर चुके थे। इन्हें धरतीमें गाड़ दिया गया था। परन्तु धूनीवाले दादाने ऐसा चमत्कार किया कि उनके मुर्देको धरतीसे निकाला गया और आज ये एक अच्छे, प्रतिभाशाली, प्रभावी विद्वान् हैं। वेद-दर्शनका इन्होंने गम्भीर पाण्डित्य प्राप्त किया है।'

उन्हीं धूनीवाले दादाके कृपा-पात्र, 'मोकलपुरके बाबा'ने फिर मुझे नर्मदाजीकी ओर आकृष्ट कर दिया।

श्रीनर्मदाजीका उद्गम-स्थान मेकल पर्वत है। उसीको अमरकण्टक भी कहते हैं। श्रीनर्मदाजी ब्रह्मचारिणी नदी हैं। गंगाजी ज्ञान-वैराग्य, यमुनाजी प्रेम-भक्ति एवं नर्मदाजी ब्रह्मचर्य एवं तपकी दात्री हैं। मेरा अनुभव है कि श्रीनर्मदाजीके जलका स्नान-पान करनेसे ब्रह्मचर्य परिपुष्ट होता है। कई सप्ताह तक ओंकारेश्वरमें रहना हुआ। उस समय मेरे साथ मेरे ब्रह्मचारी श्रीरामजी थे, जो अब ज्योतिष्पीठके निवृत्त शंकराचार्य श्रीशान्तानन्दजी सरस्वती महाराज हैं।

वहाँ एकान्त-सेवन, भजन एवं स्वावलम्बी जीवनका अच्छा आनन्द रहा।

विरोधका समाधान—

इसके पूर्व भी इन्दौरके श्रीदेवचन्द वर्मा मुझे नर्मदा-तटके अनेक स्थानोंपर ले गये थे। श्रीदेवचन्द वर्माका एक विलक्षण अनुभव था। वे एक दिन रात्रिके समय अपने मित्रोंके साथ अपने घरमें कीर्तन कर रहे थे। संकीर्तनके रसमें सब तन्मय। उस समय एक विमान आया। विमानसे एक अज्ञात सन्तने बाहर निकलकर देवचन्दको बुलाया। वे हाथ-पाँव धोकर विमानपर चढ़ गये। उस विमानमें सन्तोंकी एक सभा हुई जिसमें वे सन्त सम्मिलित थे जिनकी लोक-व्यवहारमें परस्पर पटती नहीं थी। एक दूसरेके मत—सम्प्रदायका विरोध करते थे। वहाँ (उस विमानमें) उनमें परस्पर प्रेम, सौहार्द एवं योजना सम्बन्धी विचार-विनिमय सुनकर देवचन्दको अभूत पूर्व आश्चर्य हुआ। उन्होंने बुलानेवाले सन्तसे पूछा—'यह क्या! यहाँ इतना प्रेम! व्यावहारिक-जगत्में आचार-विचारोंका इतना संघर्ष?' उस सन्तने बताया कि लोक-व्यवहारमें सबकी मति-गति-रति, रुचि-प्रवृत्ति पृथक्-पृथक् होती है। सबको परमार्थकी ओर आकृष्ट करनेके लिए ये

ऋषि-महात्मा, सन्त-आचार्य पृथक्-पृथक् भूमिका या नाट्यका प्रदर्शन करते हैं। अधिकारी-भेदसे किसीको कोई सन्त अच्छा लगता है, किसीको कोई। यदि सन्त ऐसा न करें तो सब लोग एक सदृश सन्तपर श्रद्धा नहीं कर सकते। जो जैसा अधिकारी होता है उसके लिए सन्त वैसा ही अभिनय करते हैं। इसके बाद देवचन्द वर्मा अनदेखे, अनमिले जीवित सन्तोंका दर्शन करनेके लिए भ्रमण करते थे और वही सन्त जो विमानपर थे—धरतीपर भी थे। वर्षोंसे सम्पर्क टूट जानेके कारण मैं कह नहीं सकता कि वे अब जीवित हैं या नहीं।

तुम्हीं हो प्रेमास्पद—

देवचन्द ही मुझे 'मोड़टक्का' के पास एक सन्यासी सन्तके पास ले गये। वे सन्त वेदान्तमें अनन्य निष्ठा रखते थे। उच्चकोटिके ग्रन्थका अध्यापन करते थे। मुझे जहाँतक स्मरण है, जिस समय हमलोग उनके दर्शनार्थ गये, वे आत्माकी श्रौत-परमप्रेमास्पदता समझा रहे थे। उपनिषद्में स्पष्ट रूपसे पति, पत्नी, पुत्र, धन आदिसे अत्यधिक और निरुत्तर प्रेमास्पद 'आत्मा'को ही बताया है। श्रुतिकी यह प्रतिज्ञा है कि एक तत्त्वके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है। दृष्टान्त है, मृत्तिका, लौह आदि। यदि आत्मा, परमात्मा एक न हो तो श्रुतिकी प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होगी। कोई-कोई कहते हैं कि जब आत्मा उपासना आदिके द्वारा प्रपञ्च-निर्मुक्त स्वरूपमें स्थिर होता है, तब जाकर परमात्मामें मिल जाता है, परन्तु यह बात सच्ची नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा वस्तुत: परमात्मा नहीं होता तो मिलनेपर भी परमात्मा नहीं हो सकता।

श्रीछोटे दादा—

उसी यात्रामें श्रीदेवचन्द वर्मा मुझे खण्डवा ले गये। वहाँ श्रीधूनीवाले दादाके शिष्य श्रीछोटे दादाजी रह रहे थे। वे नग्न ही रहते थे। एक सिमेन्टकी चौकीपर लेटे हुए थे। मैं घण्टोंतक बैठा रहा, उन्होंने आँख नहीं खोली। जब मैंने अपने मनमें सोचा कि कैसे दादा हैं कि मैं इतनी दूरसे दर्शन करनेके लिए आया हूँ और इनकी नींद ही नहीं टूटती—झट मुस्कराकर वे देखने लगे और लेटे ही लेटे हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। उनकी सिद्धियाँ बहुत प्रसिद्ध थीं। परन्तु उन दिनों सिद्धिमें मेरी कोई रुचि नहीं थी। वहाँ मेरे प्यारे भक्त श्रीकन्हैया लालजीने बहुत स्वागत-सत्कार एवं आवास भोजन आदिकी व्यवस्था की थी।

अद्भुत—

नर्मदातटपर हँड़िया नामका एक छोटा-सा कस्बा है। वहाँ एक छोटी-सी पहाड़ीपर चौरासी सिद्ध पीठोंमें-से एक श्रीडोमिननाथकी गुफा है। गुफा बहुत

लम्बी-चौड़ी है। उनके बारेमें वहाँके लोगोंने बताया कि वे स्वयं भिक्षा लेनेके लिए गाँवमें नहीं आते थे। उनकी हँड़िया आती थी। आकाशमें तैरती हुई हँड़ियाको देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। जब उनका शरीर पूरा हुआ, उसके बाद भी कुछ दिनोंतक हँड़िया भिक्षा लेने आती रही। एक रजस्वला स्त्रीने उसमें भिक्षा डाल दी, तो वह हँड़िया फूटकर गिर गयी। गाँवका नाम हो गया— 'हँड़िया' हँड़िया गाँवमें ठीक नर्मदा तटपर एक बहुत शान्त-एकान्त आश्रम था। उसमें प्रायः वेदान्तकी चर्चा होती थी। वहाँ ज्ञानियोंके जीवनकी चर्चा हुआ करती थी। ज्ञानीका जीवन ऐसा होता है, वैसा होता है। वे ज्ञानी त्यागी-तपस्वी सिद्धके रूपमें रहा करते हैं—कहीं अन्तर्धान हो गये, उड़ गये, कहीं-से-कहीं सैकड़ों मील दूर दिख गये। सच पूछें तो गङ्गातटके समान वैराग्यपूर्ण एवं तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी शुद्ध सत्सङ्ग अन्यत्र दुर्लभ ही है।

सिद्ध योगी आत्मानन्द

हँड़िया गाँवसे नावपर बैठकर उस पार गये। वहाँ आत्मानन्द बाबाकी समाधि है। दो-चार सन्त रहते थे। आटा-भाँटा और काँटाकी बहुतायत थी। बाबाके बारेमें लोगोंने बताया कि वे एक सिद्ध योगी थे। एक दिन उनसे कोई योगी मिलने आया तो बाबाको बुखार चढ़ा हुआ था। उन्होंने अपना कम्बल उतारकर अलग रख दिया। प्रसन्न मुद्रामें योगीसे बातचीत करने लगे। योगीकी दृष्टि कम्बलपर पड़ी—कम्बल थर-थर काँप रहा था। आश्चर्यसे उसने पूछा— 'बाबा! यह क्या है?' बाबाने कहा कि वह हमारा बुखार है। थोड़ी देरके लिए कम्बलपर रख दिया है। आपसे बातचीत करनेके बाद फिर ले लूँगा। वहाँ उनकी बहुत-सी सिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु भक्ति और ज्ञान इन दोनोंमें सिद्धि विघ्न हैं। ये तपस्याके प्रभावसे आती हैं और नर्मदा-तटपर तप करना चाहिए और गङ्गा-तटपर मरना चाहिए।

इस पार भी, उस पार भी—

होशङ्गाबादके श्रीरामलाल शर्मा जो वहाँके प्रतिष्ठित वकील, चेयरमैन एवं रईस थे, बहुत आग्रहसे अपने घर ले गये। घरके पास ही नर्मदाजीकी विशाल धारा बड़े वेगसे बहती थी। वहाँ का पक्का घाट बहुत पुराना और लम्बा है। लोग उसे देखनेके लिए आया करते थे। वहाँ दो सन्त रहते थे—एक नर्मदाके उस पार और दूसरे नर्मदाके इसी पार धारा के दक्षिण-तटपर पश्चिमकी ओर। उस पारवाले सन्त बड़े ही तपस्वी थे और योगाभ्यासमें निपुण। बड़े प्रेमसे मिले। सम्प्रज्ञात समाधिके कई अनुभव बताये। इस समाधिमें वितर्क,

विचार एवं आनन्दकी वृत्तियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं—केवल अस्मि 'मैं हूँ' एतावन्मात्र शेष रह जाता है। वे योगिराज विवेकख्यातिके बारेमें कुछ नहीं जानते थे। सिद्धियोंपर आस्था थी और असम्प्रज्ञात समाधिकी तो कोई चर्चा ही नहीं की। दूध-आलू खाते थे और नर्मदा जल पीते थे। शरीर रूखा सूखा था। दूसरे महात्माकी कुटिया हरे-भरे लता वृक्षोंसे मण्डित थी। वे लोगोंसे कम मिलते थे, सो भी समयपर। मौन रहते थे। भजन करते थे। गाँवमें कभी नहीं जाते थे। वे योगके अष्टांग अनुष्ठान भी करते थे। उनका कहना था कि भगवान्‌की कृपा तो न जाने कब होगी; तबतक हम कैसे प्रतीक्षा करें? जबतक हमारी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ क्रियाशील हैं, तबतक साधन अवश्य करना चाहिए। भगवान् मिले या न मिले साधन करने योग्य शरीर मिला है, जहाँतक सम्भव हो—लोगोंके संस्कार न लेकर अपनी अन्तरात्माकी ओर ही मन मोड़ना चाहिए। लोगोंके प्रभावसे मुक्त रहकर, संयम एवं तप करनेमें जीवनकी सफलता है।

श्रीनारायण स्वामी

बड़ौदासे थोड़ी दूरपर नर्मदाजीके किनारे चाणोद नामका एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ श्रीनारायण स्वामीने तपस्या की थी। वे बादमें स्वर्गाश्रम ऋषिकेशमें आकर भी रहने लगे थे। वे प्रायः मौन रहते थे और 'नारायण' नामके जपका उपदेश करते थे। अपने हककी कमाई खाना, दूसरेके हककी दियासलाईकी एक तिल्ली भी न लेना उनका व्रत था। यदि उनके बताये व्रतका कोई पालन न करे तो उसपर रुष्ट भी होते थे। वे स्वयं सोते नहीं थे। पहले वेदान्तका संस्कार था परन्तु पीछे भक्त हो गये थे। उन्होंने बताया था कि मुझे नर्मदातटके इस स्थानपर भगवान्‌का दर्शन हुआ था—'चतुर्भुज नारायण'। कुछ बातचीत भी हुई थी। उन दिनों गीताप्रेससे '*एक सन्तका अनुभव*' नामसे उनकी छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उन्होंने ही श्रीहरिबाबाजी महाराजसे कहा कि मुझे नारायणने आज्ञा की है कि हरिबाबासे कहो कि अब संकीर्त्तन आदिकी प्रवृत्ति छोड़कर वेदान्त-चिन्तन करना चाहिए। श्रीहरिबाबाजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'मैंने सारा जीवन भगवान्‌के भजनमें ही लगाया है। यदि भगवान्‌को पता है कि मेरे नामका कोई है तो वे सीधे ही मुझे आज्ञा क्यों नहीं करते? आपके द्वारा क्यों कहलाते हैं। आप मेरी विनती नारायणसे कर दीजिये।' अन्तिम जीवनमें श्रीनारायण स्वामीजी प्रायः गंगा तटपर ही रहने लगे थे। उनके बारेमें यह प्रसिद्ध था कि वे प्रतिदिन जब भगवान्‌का भोग लगाते हैं तब स्वयं भगवान् प्रकट होकर आरोगते हैं और अपने चरण-चिह्न भी

छोड़ जाते हैं। इसकी परीक्षा करनेके लिए श्रीजयदयाल गोयन्दका उनके पास गये। भोग लगा। परदा हटनेके बाद थालीमें रखे हुए मोहन-भोगपर छोटे-छोटे दो चरण-चिह्न देखनेमें आये। गोयन्दकाजीने कहा कि नारायण तो बड़े हैं और ये चरणचिह्न तो दो-दो अंगुलके हैं। यह कैसे माना जाय कि नारायणके चरण-चिह्न हैं? यह तो ऐसा लगता है जैसे कोई मोहर लगा दी गयी हो। इसपर श्रीनारायण स्वामी कुछ रुष्ट हुए और गोयन्दकाजीको अविश्वासी घोषित कर दिया।

दत्तात्रेय-आश्रम—

हाँ, तो उसी स्थानसे जहाँ श्रीनारायण स्वामीको भगवान्‌के दर्शन हुए थे—हम नावपर बैठकर नर्मदाजीके प्रवाहके साथ-साथ व्यास-आश्रम, शुक-आश्रम और दत्तात्रेय-आश्रम भी गये थे। व्यास-आश्रम धाराके बीचो-बीच पड़ता था। वहाँ बिना नावके नहीं जा सकते थे। पेटलादके श्रीरमणलाल सेठका वहाँ अन्नक्षेत्र और धर्मशाला भी थी। वहाँ एक महात्मा रहते थे। बड़े तपस्वी थे। किसीसे कुछ लेना-देना नहीं। उन्होंने मुझे पुकारकर बुलाया और कहा कि देखो कितना एकान्त, पवित्र और सुरक्षित स्थान है; परन्तु अब कोई यहाँ रहता नहीं है। तुम यहीं आकर रह जाओ। मैंने हँसकर कहा कि जब भगवान् बुलावेंगे, तब आवेंगे। अब वह स्थान नर्मदाजीकी धारामें बह गया है। परन्तु शुकदेवजी एवं दत्तात्रेयजीका आश्रम अभीतक है; लोग दर्शनके लिए जाते हैं।

भगवान् दत्तात्रेय—

यह प्रसिद्ध है कि श्रीदत्तात्रेय महाराज नर्मदा तटपर विचरण करते रहते हैं। वे कभी किसी वेशमें, कभी किसी वेशमें होते हैं। अवधूत वेशमें हैं—आचार-विचारमें स्वतन्त्र, निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ किसीको वरदान देते हैं तो किसीको ज्ञानोपदेश करते हैं। श्रीदत्तात्रेयजी महाराज शास्त्र, धर्म आदिकी परतन्त्रतासे मुक्त हैं। वे कभी द्वैत अद्वैतका पक्ष विपक्ष नहीं लेते। सबमें उनकी समदृष्टि है और स्वयं अद्वैत हैं। उनका श्रीआदि शङ्कराचार्यके गुरु श्रीगोविन्दपादसे भी सम्बन्ध रहा है। वे ओंकारेश्वरकी एक गुफामें रहा करते थे। श्रीशुकदेवजी महाराज आनन्द-मग्न रहकर यहीं विचरण करते हैं।

प्रेरक सेठ रमणलाल

श्रीरमणलाल सेठका यह नियम था कि उनके पास जो कोई आवे, उसको कुछ न कुछ देना चाहिए। पेटलादमें उन्होंने संस्कृत विद्यालय, बहुत बड़ा अस्पताल, स्कूल, कालेज, आयुर्वेदिक औषधालय आदि बनवाये थे। सम्भवत:

अब उनके भाई श्रीचन्दूलालजी एवं पुत्र श्रीअमृतलालजी विद्यमान हैं। ईश्वर-कृपासे उन लोगोंमें धर्म-रुचि बनी हुई है। सेठ रमणलालजी मुझे एक दिन 'खम्भातकी खाड़ी' दिखानेके लिए ले गये थे। उन दिनों वहाँ मशीनीकरण हो रहा था। साधुओंके लिए एक बड़ा-सा मठ था—जिसमें श्रीशांकर-सम्प्रदायके संन्यासी निवास करते थे। वहाँके महात्मा सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि करके वेदान्त-श्रवण करते थे। सामान्य रूपसे पञ्चकोष विवेक, अवस्थात्रयके विवेकका सत्संग होता था। वहाँके महन्तजी अत्यन्त उदार प्रकृतिके थे और आते-जाते अतिथियोंका बड़े प्रेमसे स्वागत-सत्कार करते थे।'

सेठ रमणलालके सम्बन्धमें वहीं किसीने यह बात सुनायी थी। उनके जीवनमें एक दिन ऐसा आया जब यह निश्चित-सा हो गया कि दिवाला निकल जायेगा। वे वहीं एक महात्मा श्रीनारायण मुनिके पास गये और निवेदन किया कि अब कल मेरा दीवाला निकल जायेगा। मुनिजीने कहा कि तुमने कुछ छिपाकर रखा है या नहीं? सेठने बताया—'महाराज! अपने जीवन-निर्वाहके लिए मैंने केवल डेढ़ लाख रुपया रख लिया है। मुनिजी बोले कि तुम उसका दान कर दो। अपने लिए कुछ मत रखो। सेठने उनकी बात मान ली और वहीं 'नारायण-संस्कृत विद्यालय' खोल दिया। रुपये सब दे दिये। कहींसे एक बड़ा सेठ आ गया। उसने सेठ रमणलालको कहा कि १० लाख रुपया हम तुम्हें देते हैं—व्यापारमें हमें भागीदार बना लो। वैसा ही किया गया। ईमानदारी और दानका फल प्रत्यक्ष देखनेको मिला। नब्बे वर्षकी अवस्थातक सेठ रमणलाल बड़ी उदारताके साथ दान करते रहे और किसी आगन्तुकको खाली हाथ नहीं लौटाया।'

मार्गके साधक एवं स्थल-विशेष—

बड़ौदामें श्रीउपेन्द्राचार्य महाराजका एक आश्रम है। उनका शरीर तो अब नहीं है। मन्दिर है, मूर्ति है, विद्यालय एवं भूमि हैं। बड़े-बड़े भक्त हैं। भारतीय सुप्रीमकोर्टके चीफ जस्टिस श्रीकनिया उनके भक्तोंमें-से प्रमुख थे। उनके परिवारके आग्रहसे जिनमें लेडी कनिया प्रभा बहिन और उनकी माँ भी सम्मिलित थीं, मैं वहाँ गया। वे लोग प्रतिवर्ष कहीं-न-कहीं एकान्त वनमें अनुष्ठान एवं उत्सव करते हैं। उस वर्ष नर्मदा-तटपर झगड़िया गाँवके पास उनका उत्सव था। टाटसे छाया कर दी गयी थी। जुता हुआ खेत ले लिया गया था। सब साधक अलग-अलग पेड़के नीचे नर्मदाजीके बिलकुल पास बैठकर गायत्रीजीका जप एवं होम करते थे। सायंकाल गोष्ठी जुड़ती। पूजा-पाठ, सदाचार, सद्‌गुरु-भक्ति सम्बन्धी चर्चा चलती। वे लोग अपने गुरुदेवको साक्षात् भगवान्‌का अवतार मानते थे और

बड़ी श्रद्धासे उनकी पूजा करते थे। सच पूछो तो आत्मासे अभिन्न, परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। 'तत्त्व' नहीं बनाना है, बनानी है अपनी 'बुद्धि'। यदि वह किसी भी निमित्तको लेकर दृढ़ हो जाती है तो जीवकी निष्ठा परिपक्व हो जाती है। वह निमित्त चाहे शालग्राम, नर्मदेश्वर हो, चाहे तुलसी-पीपल हो या साकार-निराकार हो। उन लोगोंकी भक्ति-श्रद्धाके वातावरणमें सात दिनतक नर्मदा-तटका आनन्द लिया। नर्मदाजीका पानी समुद्रके प्रभावसे कभी खारा हो जाता था। ज्वार उतर जानेपर मीठा। हमारे लिए भिक्षा अलग बनायी जाती थी; क्योंकि साधकगण प्राय: व्रती थे।

जहाँ हम साधकोंके साथ रह रहे थे, वहाँसे दूसरी पार 'कबीर-वट' है—देशके बड़े-बड़े वट वृक्षोंमें-से एक है। वहाँ महात्मा कबीरने कभी साधना की होगी। वहाँ एक छोटी-सी कुटिया है। उस समय जो साधु वहाँ थे, वे कुछ साधना तो करते थे और सुषुम्ना-मार्गसे ऊपर उठनेकी बात भी करते थे, परन्तु उन्हें कुछ विशेष ज्ञान नहीं था। कुछ साखियाँ पढ़कर सुनाते थे। वहाँसे शुक्ल तीर्थका दर्शन होता था।

यह शुक्ल-तीर्थ भड़ौचसे दस कोसके लगभग पड़ता है। वहाँ भगवान्ने प्रकट होकर अपने भक्तको दर्शन दिया था। उस स्थानको लोग बहुत पवित्र मानते हैं और दर्शन-स्नानके लिए जाते हैं। भड़ौचका संस्कृत भाषामें नाम 'भृगु-कच्छ' है। वहीं शुक्राचार्यने बलिके द्वारा यज्ञ करवाया था और भगवान्ने वामनत्रिविक्रम बनकर बलिका सर्वस्व ले लिया था। वहाँ समर्पणका रहस्य स्पष्ट होता है। केवल देने-देनेसे देनेवालेका 'अहं' बना रह जाता है। परन्तु, जब भगवान् उसका सिर भी नाप लेते हैं अर्थात् 'अहं' को भी स्वीकार कर लेते हैं, तब समर्पण पूर्ण होता है। वस्तुत: समर्पण न क्रिया है, न भाव। यह तो बोध है कि 'यह', 'वह', 'मैं' अर्थात् प्रत्यक्ष, परोक्ष एवं अपरोक्ष सब भगवान्के प्रति समर्पित ही है। यह त्रिविधता तो स्वर्ण-पत्रपर उल्लिखित मूर्तियोंके समान हैं—जिनमें हाथ-पाँव अलग-अलग दीखते हैं; किन्तु होता है सब सोना ही।

श्रीहंसदेवजी

भड़ौचके ठीक सामने नर्मदा-पार परमहंस श्रीहंसदेवजी महाराजका आश्रम है। वहाँ रेलवे पुल या नावसे जाया जा सकता है। अङ्कलेश्वरकी ओरसे मोटर भी जाती है। विशाल उपवन है। फलवान् वृक्ष, पुष्पित लताएँ, भव्य भवनके साथ-साथ नर्मदास्नानके लिए घाट भी बना हुआ है। वैसे तो हंसदेवजी महाराजके कई आश्रम हैं—भड़ौंच, सूरत, जसीटी, ऊँटी आदि। वे महात्मा इतने विलक्षण थे कि

उनकी स्मृति आती है तो मनपर जैसे छा गये हों। गौर वर्ण, स्वस्थ, सुन्दर, लम्बायमान हँसमुख मूर्ति, जैसे संसारकी कोई परवाह ही न हो। मस्त रहते थे अपने स्वरूपमें।

श्रीहंसदेवजीने एक बार मुझे अपने ऊँटीके आश्रममें बुलवाया। आश्रमके पास घना बन, विशाल जलाशय, गौशाला। छोटा-सा आश्रम पर्वतपर तो है ही। दूर-दूरतक सुहावने दृश्य। मुझे उन्होंने विद्युत-प्रवाहसे युक्त कम्बल ओढ़नेको दिया। ठण्ड थी। उन्होंने अपने सम्बन्धमें बताया कि वे बाल्यावस्थासे ही त्याग-वैराग्यके दृढ़ व्रती थे। पूर्वमें वे पैदल-पैदल चीनतक गये थे। कभी कमरमें कटिवस्त्र रहता, कभी नहीं रहता। पेट और मुँहकी ओर इशारा करके रोटी माँग लेते थे। जब उधरके लोग अखाद्य वस्तु देते तो वे ग्रहण नहीं करते थे। एक स्थानपर सेना पड़ी थी। उन लोगोंने श्रीहंसदेवजीको गुप्तचर समझकर पकड़ लिया। तत्पश्चात् बुद्ध भगवान्के नाम लेनेपर उन लोगोंने उनको भारतकी सीमामें पहुँचा दिया। वहाँके लोग बुद्ध भगवान्पर बहुत श्रद्धा रखते हैं और जंगली लोग तो भारतीय मनुष्यको भी काट-कूटकर पवित्र प्रसादकी तरह खा जाते हैं।

श्रीहंसदेवजीने अपनी विरक्त रहनी कैसे छोड़ी—हँस-हँसकर इसकी मनोरञ्जक कहानी वे सुनाते थे। वे कहते थे—'एक बार कोई सेठानी मेरे पास आयी और आग्रह किया कि मुझे मन्त्र-दीक्षा देकर चेली बना लो। मैंने उसको फटकार दिया। सेठानीने जाकर एक वैरागीसे मन्त्र-दीक्षा ले ली। कुछ दिन बाद उसने मुझे भिक्षाके लिए आमन्त्रित किया। मैं केवल कमरसे नीचे ही वस्त्र धारण करता था। ऊपरका हिस्सा खुला रहता था। उसने अपनी बैठकके बाहर एक चौकी बिछा दी। मैं उसपर बैठ गया। इसी बीच उसके गुरु वैरागी बाबा आ गये। उसने घण्टा-घड़ियाल, आरती, पुष्प, माला-फल आदिके द्वारा उनका स्वागत किया। वस्त्र-दक्षिणा दी। चाँदीके थालमें भोजन करवाया। मेरे सामने पत्तलपर लाकर भिक्षा रख दी। उस समय मेरे मनमें आया कि चेला-चेली बनाना तो बहुत अच्छा है और बस, मैंने भी चेला-चेली बनाना शुरू कर दिया। संसारके रंग-ढंग देखनेसे भी उसकी ओर आकर्षण होता है।'

श्रीहंसदेवजी महाराज कितने प्रभावशाली महात्मा हुए हैं, यह साधु-जगत्में छिपा हुआ नहीं है। हरिद्वार, प्रयाग आदि कुम्भ-मेलोंमें १०-१० लाख रुपयेतक वे खर्च करते थे। इतनी उदारता थी उनमें कि जो भी आ जाय, उसको धन, अन्न, वस्त्र औषध बाँटते ही जाते थे। उनके जैसा शानदार पण्डाल, मेलेमें और किसीका नहीं

होता था। नर्मदातटपर विचरण करनेवालोंके लिए उनके विशाल उद्यानका दर्शन करने योग्य है।

शंकराचार्यकी स्मृति और जबलपुर—

जबलपुरके पास धुँआधारमें भेड़ा-घाटके धूप-छाँववाले दृश्य तो मैंने पहले भी देखे थे। परन्तु जबलपुर जानेका अवसर तो तब आया, जब ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्री ब्रह्मानन्दजी महाराज वहाँ विराजमान थे। उन्हींसे मैंने संन्यास ग्रहण किया था। उनकी सन्निधिमें एक माससे अधिक वहाँ रहनेका सुयोग मिला। श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। बीच-बीचमें नर्मदास्नानके लिए ग्वारीघाट एवं जलेरीघाट जाता रहा।

बात यह हुई—सन् १९४२ में, मैं श्रीहरिबाबाजीके बाँधपर रह रहा था। वहाँ श्रीउड़ियाबाबाजी, श्रीहरिबाबाजी, श्रीआनन्दमयी माँ आदि बड़े-बड़े सन्त पधारे हुए थे। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने आज्ञा दी कि तुम शंकरलाल, निर्मलादास और आञ्जनेयको लेकर श्रीशंकराचार्यजीके पास प्रयागराज जाओ और प्रथम दो को संन्यास एवं तृतीयको ब्रह्मचर्यकी दीक्षा दिलाकर ले आओ। अनुमान यह था कि श्रीशंकराचार्यजी प्रयागराजमें मिलेंगे। गंगातटके मार्गसे प्रयाग जानेका निश्चय हुआ और हमलोग वहाँसे चल पड़े। उन दिनों मेरी सेवामें ब्रह्मचारी श्रीपद्मनाभजी थे, जो अब श्रीसच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती होकर कभी आन्ध्रमें विचरण करते हैं तो कभी मेरे पास रहते हैं। अनूपशहर आनेपर अतरौलीके श्रीविश्वम्भरलालजी मिले। उन्होंने किसीको बाँधपर भेजकर बाबासे आज्ञा मँगायी—ये लोग रेलगाड़ीसे प्रयागकी यात्रा करें। उन्होंने टिकट देकर प्रयाग पहुँचा दिया।

प्रयागराज पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि श्रीशंकराचार्यजी जबलपुरमें हैं। प्रात:काल दारागंजमें गंगास्नान करते समय हमलोग परस्पर चर्चा करने लग गये कि यहाँसे पैदल जबलपुर जानेमें महीनों लग जायेगा। सम्भव है कि तबतक आचार्यचरण और कहीं चले जायँ। अत: अब क्या करना चाहिए? किरायेके लिए पैसा किसीके पास था नहीं। हम लोगोंकी बातचीत स्नान करते हुए एक ब्राह्मणने सुन ली। जब हमलोग वहाँसे अपना दण्ड-कमण्डलु लेकर चलने लगे तब उसने प्रार्थना की कि आज आप लोग हमारे घर भिक्षा करें। भिक्षा के बाद उसने टिकट देकर ट्रेनसे सबको जबलपुर भेज दिया। उन दिनों आचार्यजी बल्देवबागमें रह रहे थे। मेरी भागवत होने लगी। शंकरलाल दण्डीस्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती, निर्मलदास प्रकाशानन्द सरस्वती और आञ्जनेय ब्र०

शिवानन्दजी हुए। वहाँ रहते समय कई सज्जनोंसे परिचय हुआ, जिनमें एक हैं श्रीसुन्दरलालजी इन्दुरख्या। वे मुझे कई बार जबलपुर ले गये। उनकी और उनके परिवारकी प्रीति और सेवा अबतक बनी हुई है। वहीं ब्र० प्रेमानन्द 'दादा'से परिचय हुआ। लगभग बीसवर्ष तक वे मेरी सेवामें रहे। अब स्वतन्त्र भजन करते हैं। उनके सम्बन्धमें यह जानने योग्य है कि वे बाल्यावस्थामें मृतप्राय हो गये थे। धूनीवाले दादाकी आज्ञासे उनकी माताने अपने हाथोंसे प्रज्वलित धूनीमें डाल दिया था। धूनीवाले दादाने धूनीमें-से उठा लिया और वे स्वस्थ एवं जीवित हो गये। वे जबतक मेरे पास रहे—बड़े प्रेमसे सेवा करते रहे। अब वे ६२ वर्षके हो चुके हैं।

द्वारकाप्रसाद शास्त्री उन दिनों १८-१९ वर्षके थे। ५-६ वर्ष मेरे पास रहकर उन्होंने पुराणकी परीक्षा दी। मेरे पास आनेसे पहले वे संस्कृत साहित्यके उद्भट विद्वान् श्रीलोकनाथ शास्त्रीजीसे विद्याध्ययन भी करते थे और उनकी रसोई भी बनाया करते थे। किसी सेठका प्रीवी कौंसिलमें मुकदमा चल रहा था। मेरी आज्ञासे द्वारकाप्रसादने एक अनुष्ठान किया—उसमें चमत्कारपूर्ण विजय प्राप्त हुई और शास्त्रीको निर्वाह-योग्य सम्पत्ति प्राप्त हो गयी।

एक अद्भुत फकीर—

उन्हीं दिनों शास्त्री बरेलाके पास जमुनियाँ गाँवमें ठनठनपाल दादाका दर्शन करने गये। ठनठनपाल दादा फकीर थे। अघोरीकी तरह रहते थे। जूठा-काँठा सब खा लेते थे। कुत्तेको भी मुँहमें हाथ डालकर खिलाते और वही स्वयं खाते। किसीसे भी बात नहीं करते थे। 'बीड़ी पीओ—बीड़ी पीओ' ऐसा बोला करते थे। कोई कमरमें कपड़े बाँध देता था। कोई कन्धेपर उठाकर कहीं ले जाता था। स्वयं न धोती पहनते, न कहीं जाते। मेखरामजीके घरमें रहा करते थे। द्वारकाप्रसाद शास्त्रीके सामने एक कुँआरी कन्याने ठनठनपाल दादाको आकर प्रणाम किया। द्वारका शास्त्रीके मनमें आया कि इसके साथ मेरा ब्याह हो जाय तो अच्छा रहेगा। ठनठनपाल दादाने लड़कीके पिता मेखरामको तुरन्त बुलाया और आज्ञा कर दी कि इस दोनोंका विवाह कर दो। विवाह तो हुआ ही, उसके साथ द्वारका शास्त्रीको बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त हुई। ३०० एकड़ भूमि, सैकड़ों गाय, बैल, भैंस, घोड़े मिले। पक्का बन गया। अब उनके पाँच पुत्र और पौत्र भी हैं। द्वारिका शास्त्रीजी अब 'शास्त्रीजी' के नामसे विख्यात हैं और श्रीमद्भागवतकी कथा करते हैं। ठनठनपाल दादाका चमत्कार सभी लोग स्वीकार करते हैं। ठनठनपाल दादाकी चर्या अद्भुत थी। किसी-किसीसे बोल देते—'बीड़ी पीओ।' हमारे आदि ब्रह्मचारी

श्रीलीलानन्दजी (छोटेजी) जो ४२ वर्षसे मेरे साथ हैं, मेरे साथ ही दादाका दर्शन करने गये। दादा बोले—'बीड़ी पीओ।' छोटेजीने स्पष्ट कह दिया—'हम बीड़ी नहीं पीते।' लोगोंका भाव है कि वे संसार-वासनाको जलानेको या पी जानेको 'बीड़ी पीना' कहा करते थे। मेरे लिए वहाँ बाघम्बरका सिंहासन लगा। ठनठनपाल दादाको भी लाकर मेरे साथ बैठा दिया गया। मनमें सङ्कोच था कि पता नहीं यह कैसा व्यवहार करेंगे। परन्तु, मुझे उन्होंने खाने-पीनेको कहा। मैंने पूछा—'दादा! आप मरकर कहाँ जाओगे?' वे बोले—'आना-जाना कहाँ है?' अर्थात्, जन्म-मृत्यु, बन्धन-मोक्ष सब अपने स्वरूपमें मिथ्या हैं। मेरे एक मित्रने उनसे प्रश्न किया—'साधना क्या है?' वे बोले—'साधना गधा है।' उनका अभिप्राय यह ग्रहण किया गया कि जो कुछ करनेसे मिलता है वह अज्ञानमूलक ही है। मूर्खताके लिए 'गधा' एक प्रतीकात्मक शब्द है। 'न कर्मणा' श्रुति है। और भी है—'नास्ति अकृतकृतेन।' लोग कभी-कभी चुपचाप दादाको उठाकर ले जाते। इसके लिए परस्पर लड़ाई भी हो जाती। ठनठनपाल दादा अब नहीं रहे।

श्रीरामकिङ्करजी—

जबलपुरमें ही श्रीरामकिङ्कर उपाध्यायसे मिलना हुआ। बड़े ही स्वस्थ, सुन्दर बुद्धिमान् एवं होनहार बालक लगे। इनके पिता रामायणी थे। ये भी रामायणका अच्छा अभ्यास करते थे। एक दिन स्वयं भोजन बनाया; मुझे भी कुचैनीके मन्दिरमें भिक्षाके लिए ले गये। उस दिन एकादशी थी। परन्तु इनके प्रेमको देखकर मैंने अन्नका भोजन कर लिया। वहीं इन्होंने मुझसे राम-मन्त्रकी दीक्षा ली। बादमें वृन्दावन आगये। श्रीहनुमानजीकी कृपासे एवं श्रीसीतारामके वात्सल्यसे इन्हें अपूर्व प्रतिभाकी प्राप्ति हुई और 'रामचरित मानस'के प्रवचनकी एक नयी शैलीका इन्होंने प्रवर्तन किया, जो विद्वानोंमें तथा साधारण जनतामें भी विशेष लोकप्रिय हुई। अब तो सारे भारतवर्षमें इनके प्रवचनकी धूम है।

श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज—

जबलपुरमें ही जब मैं दाऊजीके मन्दिरमें रह रहा था—एक दिन २०-२१ वर्षका स्वस्थ, सुन्दर छरहरे बदनका नौजवान साधु आया और एक कोनेमें चुपचाप बैठ गया। मेरे मनमें बहुत आकर्षण हुआ। मैंने बड़े प्रेमसे देखा। उस साधुने प्रश्न किया कि शरणागतिका स्वरूप क्या है? मैंने थोड़े विस्तारसे समझाया कि ***वस्तुतः 'शरणागति' एक सिद्ध पदार्थ है। दृश्य मात्रकी शरण, 'अधिष्ठान-चेतन' ही है।*** जबतक उसका बोध नहीं होता तबतक अशरण होनेका भ्रम बना रहता है। जब यथार्थ शरणागतिका बोध होता है तब उस

भ्रमकी निवृत्ति होती है, शरणागति कोई क्रिया, भाव या स्थिति नहीं है। क्रिया विधिमूलक है। भाव, विश्वासमूलक है। स्थिति अभ्यासमूलक है। वास्तविक ***शरणागति 'अधिष्ठान-चेतन'का बोध ही है।*** चेतन केवल अपना आत्मा ही है, अन्य नहीं। युवक साधुने बड़े ध्यान-अवधानसे श्रवण किया और ऐसा लगा कि इस प्रतिभाशाली महात्माने बड़े आदरके साथ ग्रहण किया। उसके बाद हमारी और उनकी मित्रता हो गयी। वे सत्सङ्गमें आने लगे और मेरे साथ वृन्दावनमें कई वर्षतक रहे। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे जब हम लोगोंका वेदान्त-सम्बन्धी प्रश्न होता तब वे उसमें प्रमुख भाग लेते। बाबा भी बड़े प्रेमसे वेदान्तकी गम्भीर बातें समझाते। वे पहले अपने नामके साथ सरस्वती नहीं लगाते थे। मैंने लगा दिया। फिर तो उनका नाम श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती हो गया। बाबाका शरीर पूरा होनेके पश्चात् उन्होंने ज्योतिष्पीठाधीश्वरसे दण्ड ग्रहण किया और अब वे द्वारका-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज हैं एवं हमारा प्रेम ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

सेठ गोविन्ददास एवं अन्य

देशके प्रसिद्ध नेता सेठ श्रीगोविन्ददासजीके अत्यन्त प्रतिभाशाली, उदीयमान युवक पुत्र, मध्य प्रदेशके वित्त मन्त्री श्रीजगमोहनदासजीका अचानक स्वर्गवास हो गया। सेठजीको एवं उनके परिवारको इस दुर्घटनासे अत्यन्त दुःख हुआ। वे शोक, मोहसे पीड़ित होकर मेरे पास आये। मुझे जबलपुर ले गये। उनके महलमें ही रहा। प्रवचन हुए। सत्संग हुआ। दो-तीन बार पूरी भागवत सुनायी। उन्होंने 'आत्मबोध' नामकी एक पुस्तक लिखी है जिसमें मेरे सत्संगका सार है। उन्होंने कहा कि अब मुझे शान्ति मिली है। उनके परिवारसे सम्बन्ध होनेके पश्चात् बार-बार जबलपुर जाना हुआ! उनके परिवारके लोगोंसे तो घनिष्ठ सम्बन्ध है ही, वहाँ जबलपुरमें मेरे शिष्योंकी संख्या सर्वोपरि है। प्रातःकाल ६ बजेसे लेकर रातके १० बजेतक सत्संगका दौर-दौरा रहता है। वहाँ हाईकोर्टके चीफ जस्टिस श्रीशिवदयालजी और उनके साथी एवं अन्यजन प्रातःकाल सत्संगमें आया करते थे एवं प्रायः सत्संगकी बातें लिखा करते थे। स्पीकर, मिनिस्टर, विद्वान् सब श्रीगोपाललालजीके मन्दिरमें आते। श्रीगोपाललालजीका मन्दिर एक बहुत बड़े जलाशयके ऊपर बना हुआ है। सवा सौ वर्ष पुराना यह मन्दिर सेठजीके पूर्वजोंका बनाया हुआ है। नगरके लोगोंकी इसमें बड़ी श्रद्धा-भक्ति है और नियमसे सेवा-पूजा होती रहती है।

वहाँ श्रीनृसिंह-मन्दिरके महन्तजी भी पधारा करते हैं। उनके और उनके

शिष्यके साथ शास्त्र-चर्चा हुआ करती है। भगवान्‌के सगुण-साकार रूप, अवतार, मूर्ति-पूजा, भगवद्भक्ति आदिके सम्बन्धमें जब चर्चा चलती है, वे बहुत आनन्द लेते हैं। व्यवहार राजेन्द्र सिंह, उनके पुत्र राम प्रताप सिन्हा, उनके विशेष कृपापात्र हैं।

योगीसे भेंट—

हमारी जन्म-भूमिसे चार-पाँच मीलके अन्तरपर बेवना तथा नीरापुर नामके दो ग्राम हैं। वहाँ एक सिद्धजी ब्रह्मचारी आया करते थे। वे प्रात:कालसे दोपहरतक पद्मासन लगाकर पीठकी रीढ़ सीधी करके और सिरको पीछे झुकाकर सूर्यके सामने बैठा करते थे। दोपहरके बाद लोगोंसे मिलते। बेवनाके पाण्डेजी और नीरापुरके चन्द्रशेखरलाल उनकी विशेष सेवा करते थे। प्राणायाम, ध्यान और समाधिका उनको अच्छा अभ्यास था। कुछ सिद्धियाँ भी थीं। एक-दो बार चन्द्रशेखरलाल उनको लेकर मेरे घरपर आये और मैं भी उनके दर्शन करने गया। उन्होंने नर्मदा तटपर, जबलपुरके आस-पास बड़ी तपस्या की थी। उनसे जब सत्संगकी चर्चा होती तो वे नर्मदा तटके महात्माओंके बारेमें बहुत कुछ बताते। उनका कहना था कि योगाभ्यासके बिना न प्राण स्थिर हो सकते, न मनका संयम ही हो सकता। सच्ची भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञानके लिए योगकी अनिवार्य आवश्यकता है। जो योगाभ्यास नहीं करता है, वह कहीं-न-कहीं गुप्त भोगके फन्देमें फँस जाता है। मनको रोकनेका सामर्थ्य एक मात्र योगमें है। उनमें भगवान्‌की भक्ति तो छू नहीं गयी थी; परन्तु द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थानकी चर्चा बड़े प्रेमसे करते थे। उनका कहना था कि तन, मन, सुरत स्थिर करके केवल देखते रहो। विक्षेप और समाधि दोनों ही दृश्य हैं। अपना आत्मा केवल द्रष्टा है। द्रष्टाका तादात्म्य न हो तो वृत्तियाँ स्वयं निरुद्ध हो जाती हैं। निरुद्ध वृत्तियोंमें शक्ति-संचय हो जाता है और सिद्धियाँ आजाती हैं। सिद्धियोंका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, परन्तु, सिद्धियोंके आजानेसे योगके सिद्धान्त एवं निर्बीज समाधिपर पक्का विश्वास हो जाता है। उनका कहना था कि अस्मितालम्बन-रूप सम्प्रज्ञात समाधितक मेरी गति है। अभी 'विवेकख्याति' नहीं हुई है। उसके लिए प्रयास कर रहा हूँ—फिर असम्प्रज्ञात समाधि लगेगी। भेड़ा घाटके पास बन्दरकूदनीसे नीचे एक छप्परकी कुटिया थी। वे वर्षोंतक उसमें रहकर साधना करते रहे थे। संगमरमरके ऊँचे तटोंके बीचसे नर्मदाजीकी पतली-सी किन्तु बेगवती धारा वहाँ सर्वदा प्रवाहित रहती है।

❁

वे विद्वान् !

मेरे पितामह

मेरे पितामह पं० श्री श्रीचन्द्रशेखर द्विवेदी (टेंगरी पण्डित) ज्योतिष एवं कर्मकाण्डके प्रतिष्ठित विद्वान् थे। अत्यन्त बाल्यावस्थामें ही मुझे उनसे शिक्षा मिलनी आरम्भ हो गयी। सत्यनारायण-कथा, दुर्गापाठ, मुहूर्त-चिन्तामणि मुझे कण्ठस्थ हो गये थे। उनके पास पढ़नेके लिए दूर-दूरसे विद्यार्थी आते थे और कुछ मेरे घरपर ही रहते थे। हमलोगोंमें होड़ लगती थी कि कौन प्रतिदिन सबसे अधिक पाठ कण्ठस्थ करता है। मेरे पितामहने जिन्हें मैं 'बाबा' कहा करता था, बताया कि कोई भी श्लोक याद करना हो तो मालापर गिनकर उसे एक-सौ आठ बार पढ़नेसे उसका विस्मरण नहीं होगा। पहले दिन कण्ठस्थ किये हुए श्लोकोंको दूसरे दिन एक बार पढ़ लेना चाहिए। इसको 'उद्धरणी' कहते हैं। पश्चात् नये श्लोकोंको घोखना चाहिए। घोखनेका अर्थ यह है कि शब्दोंके उच्चारणके क्रमका संस्कार ऐसा दृढ़ हो जाय जिससे कि अनजानमें भी कोई श्लोक बोलना यदि आरम्भ कर दें तो बादके शब्द अपने आप ही आते जावें; वे जिह्वापर बैठ जाते हैं। बाबा ज्योतिषकी गणित कितनी सुगमतासे कर लेते हैं, कुण्डली कैसे बना देते हैं, फलादेश कैसे करते हैं। यह सब मैं देख-देखकर अनुकरण कर लेता था। यह सब मेरे लिए कोई कठिन काम नहीं था।

जब मेरे विवाहके लिए कोई आता, लड़कीका नाम बताता तो मैं चुपकेसे नाडी, मैत्री, वर्ण, गण देख लिया करता था। उस समय मेरी उम्र बहुत छोटी थी। मेरी दस वर्षकी उम्र होते-होते उन्होंने आवाजापुरमें ठाकुर साहब गणेश सिंहके यहाँ श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें वक्ताके सिंहासनपर बैठा दिया। मैंने 'कथितो वंशविस्तारो' से पाठ करना आरम्भ किया था।

पं० श्रीपह्लाद मिश्र—

मेरे गाँवसे डेढ़-दो मील दूर धानापुर नामकी एक बस्ती है। वहाँ थे, पण्डित प्रह्लाद मिश्र। वे पण्डित तो थे ही, बड़े सज्जन, सदाचारी एवं सौम्य स्वभावके थे। मैं प्रतिदिन उनके पास विद्याध्ययनके लिए जाता। वे गंगा-स्नान, सन्ध्या-वन्दन आदिसे निवृत्त होकर गंगाजली हाथमें लिये घर आते थे। चोटी बँधी हुई, ललाटपर चन्दन, अध्यापनमें बड़े निपुण थे। गायत्री-जपमें उनकी दृढ़ निष्ठा थी।

पण्डित प्रह्लाद मिश्र पढ़ाते समय धीरे-धीरे प्रेम एवं मधुरताके साथ एक-एक बातको स्पष्ट करते जाते थे। उदाहरणार्थ 'लघु कौमुदी'का 'पाणिनीय प्रवेशाय'में 'पण' एक धातु है—उसका अर्थ है व्यवहार। 'पणन' अर्थात् व्यवहार ही 'पण' है, उसमें जो निपुण हो उसे 'पणी' कहते हैं। 'पणी'के गोत्रमें पैदा हुआ 'पाणिनि'। पाणिनिके द्वारा निर्मित शास्त्र पाणिनीय, उसमें प्रवेशके लिए—'पाणिनीय-प्रवेशाय'। अब आप ही बताइये कि इस अध्ययनका कभी विस्मरण हो सकता है?

पण्डितजीने लघु कौमुदीके साथ-साथ, न्यायबोधिनी सहित तर्क-संग्रह, मल्लीनाथी टीका सहित रघुवंश एवं मूल रामायण भी पढ़ाया।

एक बारकी बात है, मैं दो-तीन दिन पढ़नेके लिए नहीं गया। उनके पिता पण्डित श्रीरघुदत्त मिश्र जो आयुर्वेदके बड़े विद्वान् एवं प्रतिष्ठित चिकित्सक थे, मेरे घर आये। वे मेरे पितामहके समकक्ष थे; मुझसे बोले—'बेटा, तुम्हें ज्वर आता है, इसीसे नहीं आये? कल ज्वर आनेसे पहले मेरे पास आ जाना, मैं ज्वरको रोक दूँगा। उन्होंने सरपर हाथ रखा, पीठ ठोंकी।'

दूसरे दिन ज्वर आनेसे पूर्व ही मैं उनके पास पहुँच गया। उन्होंने गायके गोबरसे धरती लीपकर कम्बल बिछा रखा था। मुझसे कहा—'तुम इसपर बैठ जाओ अथवा लेट जाओ। मैं चारों ओर गायके गोबरके भस्मसे एक मन्त्र लिख देता हूँ, उसके भीतर ज्वर प्रवेश नहीं करेगा। तुम बाहर नहीं निकलना।'

मैं पहले तो लेट गया। परन्तु, जब वे चले गये तो उठ बैठा और देखने लगा कि लिखा क्या है। वह हनुमान्‌जीका मन्त्र था। उसमें विभिन्न प्रकारके ज्वरोंके नाम लेकर कहा गया था कि हे हनुमान्‌जी, इन ज्वरोंको नष्ट कर दो।

सचमुच उस दिन मुझे ज्वर नहीं आया। मैं पूर्ववत् अध्ययनके कार्यमें लग गया।

उस मन्त्रपर मेरी बाल-सुलभ श्रद्धा ऐसी दृढ़ हो गयी कि मैं बिना किसीसे पूछे ग्रन्थोंमें उसे ढूँढ़ता रहा। 'कल्याण' सम्पादन-विभागमें जानेके बाद वह 'लाङ्गूलोपनिषद्' में मिल गया।

प्रसंगके बाहर जाकर यह चमत्कार आपको बताना चाहता हूँ कि तबसे अबतक मुझे ज्वरका प्रकोप बहुत कम हुआ है। कभी-कभी एक-दो दिनतक थोड़-थोड़ा ज्वर अवश्य रहा है। बीचमें एक बार सन् १९३४-३५ के आस-पास पित्तज्वर हुआ था। वमन हुआ और मैं बेसुध हो गया। भाई श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र'ने मुझे पानीके टबमें बैठा दिया था और मैंने मूर्च्छा-दशामें ही देखा कि एक भयंकर राक्षसी, जिसका नाम 'मृत्यु' था, मुझपर आक्रमण करने दौड़ रही है और श्रीहनुमान्‌जी हाथमें गदा लेकर उसकी ओर दौड़ रहे हैं। राक्षसी भाग गयी और मेरा ज्वर गायब हो गया। मन्त्रका चमत्कार हो या न हो, अबतकका मेरा अनुभव यही है। आगे क्या होगा सो ज्ञात नहीं।

पण्डित प्रह्लाद मिश्रजीसे अध्ययन चलता रहा।

पण्डित भूपनारायण मिश्र—

मेरे पितामह मुझे अपने साथ लेकर काशी गये। उन दिनों काशीमें श्रीमद्भागवतके अद्वितीय विद्वान् पं० श्रीभूपनारायण मिश्र थे। वे नीलकण्ठ महादेव मोहल्लेके श्रीराम मन्दिरमें रहते थे। पितामहके समवयस्क थे तथा मेरी जन्मभूमिके गाँवसे तीन-चार मील दूर 'महेशी'के निवासी थे। मेरे पाँवके अंगूठेमें ठोकर लगी थी। उन्होंने पीली मिट्टीका लेप करवाया। मुझे बहुत प्यार करने लगे। भागवतके श्लोक मुझसे सुनते। बादमें मैंने उन्हींसे श्रीधरी टीका-सहित भागवतका सम्पूर्ण अध्ययन किया। उन्होंने मेरे पितामहको सलाह दी कि बालकको मेधा अच्छी है, इसे काशीमें पढ़नेके लिए रखो। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि पढ़नेके लिए पण्डित श्रीरामभवनोपाध्याय ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

पं० श्रीरामभवनोपाध्याय—

पण्डितजी बलिया जिलेके सुखपुरा ग्रामके निवासी थे। काशीमें महामहोपाध्याय पं० श्रीदामोदर शास्त्रीजीसे उन्होंने व्याकरणका अध्ययन किया था। शास्त्रीजी काशीके चार दिग्गजोंमें-से थे—श्रीशिव कुमार शास्त्री, श्रीतांत्या शास्त्री, श्रीगंगाधर शास्त्री और वे। दरभंगा नरेशकी अध्यक्षतामें श्रीबच्चा झाजीसे उनका शास्त्रार्थ हुआ था और उनके विलक्षण, विचक्षण वैदुष्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई थी।

हमारे गुरु पं० श्रीरामभवनोपाध्याय, व्याकरणके उद्‌भट विद्वान थे। वे प्रायः रात्रिमें दो बजे उठ जाया करते थे। स्नान करके अपराजिता देवीकी पूजा करते, मन्त्र जपते। सूर्योदयसे पूर्व सन्धावन्दन एवं गायत्री-जप करके, उन दिनोंके क्वींस कॉलेजमें अध्यापन करनेके लिए पैदल जाते थे। उनके निवासस्थान बड़ी पियरीसे कॉलेज लगभग दो मील पड़ता होगा। वे धोती, अचकन. दुपट्टा एवं पगड़ी धारण करते। चन्दनकी छोटी-सी बिन्दी। अपनी मूँछ ऐसी सँवारकर रखते थे—बाल-पर-बाल, घनी और सफेद।

पण्डितजी अध्ययन-अध्यापन, अपने धर्मका अनुष्ठान समझकर ही करते थे। जीविका अथवा वेतनपर उनकी दृष्टि कभी नहीं गयी। इसका प्रमाण यह है कि जब वे काशीमें दरभंगा संस्कृत पाठशालामें अध्यापन करने लगे, तब उन्हें जीवन निर्वाहके लिए पन्द्रह रुपये मासिक मिला करते थे। परन्तु वे उन रुपयोंको कभी अपने काममें नहीं लेते थे। प्रतिदिन आठ आनेमें पुष्पमाला लेकर श्रीअन्नपूर्णाजीको चढ़ा आते थे।

मुझे पढ़ाते समय तो पण्डितजीकी वृद्धावस्था थी परन्तु क्वींस कॉलेजमें चूड़ान्त-व्याकरणके प्राध्यापक होनेपर भी, जब वे पैदल अन्नपूर्णाजी जाते थे (लगभग तीन मील) तो मैं उनके बराबर चल नहीं पाता था। दाहिने हाथपर माला लटकती और वे प्रायः बिना किसीका स्पर्श किये चलते रहते थे। उन दिनों काशीकी गलियोंमें इतनी भीड़-भाड़ नहीं होती थी।

उनको अध्यापनका ऐसा व्यसन था कि यदि वे हाथमें लोटा लेकर शौचालयके लिए जा रहे हों और कोई आकर व्याकरणका प्रश्न कर दे, तो सब कुछ भूलकर वहीं बैठ जाते और उसे प्रश्नका उत्तर देकर सन्तुष्ट कर देते। उन दिनों वे 'शब्देन्दु शेखर' पर टीका लिख रहे थे। श्रीसभापति उपाध्याय द्वारा 'मंजूषा' पर टीका लिखी जा रही थी एवं श्रीहाराणचन्द्र शास्त्री द्वारा 'कालतत्त्व

विमर्शनी'। तीनों ही व्याकरण-शास्त्रके मर्मज्ञ थे। जब परस्पर मिलते तो उनकी प्रतिभाका प्रकाश देख-देखकर हम लोग मुग्ध हो जाते थे।

पण्डितजीके शिष्योंमें श्रीरामयशस् त्रिपाठी (महाशयजी), श्रीदेवनायकाचार्य, श्रीउमापति द्विवेदी आदि उनके जीवनकालमें ही अपने महान् पाण्डित्यके कारण विख्यात हो गये थे। उनके अनेक महान् विद्वान् शिष्योंके नाम मुझे स्मरण नहीं हैं, बातें अब साठ वर्ष पुरानी पड़ गयी हैं।

वे पढ़ाते समय कभी-कभी विनोद भी करते थे। एक बारकी बात है, वे मसनदके सहारे लेटे-लेटे 'सिद्धान्त-कौमुदी' पढ़ा रहे थे। मैं पूछता जाता, वे बताते जाते। बीचमें मुझसे एक शब्द छूट गया। वे हँसकर बोले—'वो ल्यो!'

एक शब्द छोड़ दिया न!

मैं—'कौन-सा?'

पण्डितजी—'जो तुम हो, वही।'

मैंने उलटकर देखा, वह 'उल्लु' शब्द था। 'उत्कृष्टं लुनाति'।

किसी समय पढ़ाते समय पूछा—'यह साँस बारम्बार भीतर जाती-आती है, इसका क्या कारण है?' मैंने अपना अज्ञान प्रकट किया।

पण्डितजी—'शरीरके भीतर एक सरोवर है। उसमें एक अष्टदल-कमल खिला हुआ है। उसपर एक हंस परिभ्रमण करता है। जब वह अपने चरण कमलके दलपर रखता है, तब कमल-दलके दबनेसे हवा बाहर निकलती है। जब उसपरसे वह अपने चरण उठाता है, तब हवा भीतर जाती है। उस हंसके चरणविन्यासके कारण ही प्राणका गमनागमन होता है।' पता नहीं उसके कितने वर्षो बाद मैंने छान्दोग्य-उपनिषद्‌की 'दहर विद्या' पढ़ी होगी। वह 'ऐरं मदीय सरोवर', वह हृदय पुण्डरीक, वह ब्रह्मपुर। गुरुजीकी कृपाका स्मरण हुआ। नेत्र गीले हो गये।

कोई ऐसा काम पड़ गया था कि मैं महीने-डेढ़ महीने तक काशी नहीं गया। सम्भवतः मैं गया जिलेके इमामगंज गाँवमें चला गया था। वहाँ मेरी परम्पराके शिष्योंमें, श्रीशीतलसिंहजी बड़े प्रतापी क्षत्रिय थे। उनके पास लगभग सौ प्रकारके रामायणोंका संग्रह था। उन्होंने स्वयं भी 'श्रीसीताराम चरितायन' नामसे एक पुस्तक लिखी थी, जो चार-पाँच खण्डोंमें प्रकाशित हुई थी। वस्तु विन्यास एवं काव्यकी दृष्टिसे रचना बहुत उत्तम थी। मेरा मन लग गया। संस्कृत, हिन्दी, बंगलाके कितने ही रामायण पढ़े। लौटकर आनेमें विलम्ब हो गया। गुरुजीके सामने मैंने संस्कृतमें कुछ प्रयोग लिखकर दिये और अन्तमें यह अनुष्टुप् लिख दिया—

श्रीमतां पुरतोऽस्त्येषा प्रार्थना विनयाञ्चिता।
संशोध्य शोधनीयान् वैलेख्यालेख्या 'विहारिणः'॥

इसका अर्थ है—आपके सम्मुख सविनय निवेदन है कि मेरे लिखे प्रयोगोंमें जो संशोधन करने योग्य है, उसका संशोधन करके 'शान्तनु बिहारी' के लिखने योग्य जो है, उसका भी उल्लेख कर दें। मैंने अपने नामके एक देश 'विहारी'का प्रयोग किया था। गुरुजी, अपने हाथसे मेरा नाम शान्तनु लिखा करते थे और इसी नामसे पुकारा भी करते थे। पुराणोंमें भीष्म पितामहके पिताका नाम 'शन्तनु' मिलता है। लोग मुझे शन्तनु कहते थे। परन्तु, गुरुजी मुझे सदैव शान्तनु बोलते शम् तनोति नहीं; शान्तम् नीति अर्थात् कल्याणका विस्तार करनेवाला नहीं, शान्त पुरुषोंकी स्तुति करनेवाला। मेरे बिहारी शब्दको उन्होंने पकड़ लिया। नीचे लिख दिया—

विहारिणो बिहारेस्ति चेष्टा यस्मादतः पुरा।
कियत्पर्यन्तग्रन्थे वोऽभ्यासोस्तीति निवेद्यताम्॥

अर्थ—बिहारीकी चेष्टा बिहारमें है। बिहार प्रान्तमें विहरण करनेकी है। अतः सबसे पहले यह निवेदन करो कि तुम्हारा अभ्यास ग्रन्थमें कहाँ तक है?

मैंने गुरुजीको यह श्लोक लिखा—

माघस्य सर्गद्वयमात्मबुद्ध्या सम्पाद्य वश्यं त्वरितं कृपातः।
त्वत्पादपद्माश्रयलब्धशक्तिः पाठं समासे पुरुषे भजेऽहम्॥

अर्थ—आपकी कृपासे 'माघ'के दो सर्ग मैंने अपने वशमें कर लिये हैं, आपके चरण कमलोंके आश्रयसे शक्ति प्राप्त करके मैं तत्पुरुष समासका अध्ययन कर रहा हूँ।

गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने श्लोकोंमें ही बहुत-से प्रश्न किये।

एकबार उन्होंने कुछ श्लोकोंका अर्थ लिखनेके लिए 'श्लोकाविमौ स्फुटं धीमन् व्याख्येयौ रीतिमाश्रयन्'। इत्यादि लिखा। उस दिन अपने लिए 'धीमन्' सम्बोधन देखकर मुझे कितना आनन्द हुआ था, आप स्वयं समझ सकते हैं।

उनका लिखा एक श्लोक और सुनिये; जो मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह, वात्सल्यका सूचक है।

आलस्यमुत्सार्य समाश्रयस्व भो विदां प्रियां नीतियुतां च दक्षताम्।
श्रमो विधेयो भवता तितीर्षुणा सुदुस्तरं वारिधिमन्तरा तरिम्॥

अर्थ—आलस्य भगाकर विद्वानोंको खूब प्रिय लगनेवाली नीतियुक्त

दक्षताका आश्रय लो। नावके अत्यन्त दुस्तर वारिधिका संतरण करनेके लिए आपको परिश्रम करना चाहिए। स्नेह, वात्सल्यके मूर्तिमान् स्वरूप गुरुजी महाराजके द्वारा लिखे हुए श्लोक अब भी कभी-कभी स्मरण पथमें आ जाते हैं, जैसे हृदयपटपर अंकित हों। उनकी कृपा ही मेरी विद्या बन गयी!

जब वे क्वींस कॉलेजमें बुलाते, तब मैं वहाँ पढ़नेके लिए जाता अन्यथा मैं उनके घरमें ही पढ़ लिया करता था।

एक दिन उन्होंने आज्ञाकी कि छः बजे प्रातःकाल कॉलेजमें आजाना। मैंने उनसे निवेदन किया कि जब आप प्रातःकाल नहीं पढ़ाते हैं, तब मैं पण्डित भूपनारायण मिश्रके पास जाकर श्रीमद्भागवत पढ़ता हूँ। उन्हें श्रीधरी टीका सहित श्रीमद्भागवत कण्ठस्थ है और व्याकरणके भी धुरन्धर विद्वान् हैं। उनके यहाँ हमारे घरके अनेक सम्बन्ध हैं। बड़े प्रेमसे पढ़ाते हैं। गुरुजी बोले—'तुम भागवत भी मुझसे ही पढ़ो। अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं।' दूसरे दिन मैं उनके पास पहुँच गया। दो-तीन श्लोक पढ़ाये। उसके अगले दिन भी दो-तीन श्लोक पढ़ाये। कहाँ तो हम सौ-सौ श्लोक रोज पढ़ते थे। फिर हँसकर बोले कि तुम उन्हींके पास जाकर पढ़ लिया करो। मैं गुरुजीके पास व्याकरणके जितने भी पाठ होते सब सुनता था। वे कभी-कभी कह देते थे—'तुम जाओ! भूषण-भाष्य सुनकरके क्या करोगे?' मैं कहता—'गुरुजी, संस्कार तो पड़ेंगे।' वे प्रसन्न होते। गुरुजी मेरी एक-एक प्रवृत्तिपर ध्यान रखते थे। स्नान, सन्ध्या, गायत्री-जप, दौहरौनी स्मृति, धारणा, बुद्धि सभीकी देखभाल करते थे। यह भी पूछ लेते थे कि आज क्या खाया है? मैं अपने कपड़ोंमें साबुन नहीं लगाता था। कुछ घरके ब्राह्मण संस्कार और कुछ आलस्य। कभी-कभी अपने स्नान-घरमें ही मुझको कपड़े साफ कर देनेके लिए कह दिया करते थे। यह सब बात सन् २३-२४ की है।

काशीमें श्रीसांगवेद-विद्यालयमें प्रतिवर्ष श्रीगणेशोत्सव हुआ करता है। उन दिनों काशीके ऋषिकल्प विद्वान् आकर वहाँ शास्त्रार्थके समय विराजमान हुआ करते थे। श्रीलक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ श्रीपंचानन तर्करत्न, श्रीवामाचरण भट्टाचार्य (वृद्ध), श्रीनित्यानन्द पन्त, श्रीभाऊ शास्त्री वझे, श्रीचिन्नस्वामी, श्रीजयदेव मिश्र, श्रीप्रमथनाथ तर्क-भूषण—ये सभी महामहोपाध्याय थे। इनकी उपस्थितिमें एक-एक दिन सभी शास्त्रों, वैदिक अङ्गों-उपाङ्गोंपर शास्त्रार्थ हुआ करता था। वादी प्रतिवादी तो पुरस्कृत होते ही थे, उनके अध्यापकोंका भी सत्कार किया जाता था। चाहे किसी भी विषयका शास्त्रार्थ हो, पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्रीजी,

शास्त्रार्थियोंके पास बैठते और उन्हें मार्गदर्शन करते एवं शास्त्रार्थमें हेत्वाभास एवं वितण्डाको स्थान न मिले इसका ध्यान रखा करते थे।

मेरे गुरुजी पं० श्रीरामभवनोपाध्याय भी कभी-कभी वहाँ जाते। वहाँकी सभाके अध्यक्ष होते। शास्त्रार्थका विषय देते और विद्यार्थियोंकी जय-पराजयका निर्णय करते।

गुरुजीके विद्यार्थियोंमें श्रीदेवनायकाचार्य एवं श्रीमुनिवर मिश्रने एकाधिक बार पुरस्कार प्राप्त किया। मैं भी गुरुजीके साथ जाता, विद्वानोंके परस्पर वार्तालाप एवं संसर्गका आनन्द लेता। वादी-प्रतिवादी दोनोंका पक्ष, प्रतिपक्ष अवधान-पूर्वक सुनता, समझनेका प्रयास करता और अपनी ओरसे निर्णय भी कर लेता कि किसका पक्ष प्रबल-निर्बल था एवं किसके साथ पक्षपात अथवा अन्याय हुआ।

श्रीमांगवेद विद्यालयमें उत्सवके अवसरपर श्रीमद्भागवतकी कथा हुआ करती थी। जब विद्यालयकी ओरसे विशिष्ट विद्वानोंको आमन्त्रित किया जाता तो एक-दो दिन मेरे गुरुजी भी जाते। मैं भी उनके साथ-साथ जाता।

एकबार पं० श्रीदातार शास्त्रीजीने 'जन्माद्यस्य यत:' श्लोकका अनेक प्रकारसे अर्थ किया—वेदान्त, व्याकरण, न्याय-सम्मत। सुन-सुनकर बड़े-बड़े विद्वान् खिल उठते। मुझे आश्चर्य होता कि क्या भागवतके श्लोकोंमें इतना पाण्डित्य भरा है! मैंने चौदह अर्थ याद करके गुरुजीको सुनाये। गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए मेरे सिर पर हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया—

विद्यावतां भागवते परीक्षा।

किसी विद्यालयमें विद्वानोंकी दक्षिणा-सभा हो रही थी। काशीके बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् एकत्र थे। प्रश्न आया, 'भागवतमें ब्रह्माके मोहके प्रसंगपर।' 'इतिरेशे तर्के'—इस श्लोकमें 'सति-सप्तमी' एवं 'विषय सप्तमी' दोनोंका एक ही वाक्यमें ऐसा प्रयोग है कि यदि गुरुमुखसे पढ़ा हुआ न हो तो उसका अन्वय लगाना कठिन हो जाता है। वैयाकरण लोग भागवत आदि ग्रन्थोंको प्राय: पढ़ते नहीं हैं। अभिमान करते हैं कि हम अपने व्याकरणके बलपर चाहे किसी भी श्लोकका अर्थ लगा लेंगे। अच्छा 'शास्त्रार्थ' रहा। महामहोपाध्याय पं० श्रीजयदेव मिश्रने भी इसमें भाग लिया, जिनकी 'परिभाषेन्दु-शेखर' पर 'विजया' नामकी टीका है।

हमारे श्रीगुरुजीने 'इरा सरस्वती तस्या ईशे ब्रह्मणि मुह्यति सति,

कस्मिन् विषये? अजात: परत्र परस्मिन् ब्रह्मणि विषये'—अच्छा स्पष्टीकरण किया। शास्त्रार्थने मोड़ लिया—ब्रह्माके सरस्वती-स्वामित्वपर। ब्राह्मण ग्रन्थमें भी इस कथाका उल्लेख है। ब्रह्मा-सरस्वतीकी कथा कोई लौकिक तो है नहीं। यह आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक है। उस समय जो शास्त्रार्थ हुआ वह एक बृहद् पत्रकके रूपमें प्रकाशित हुआ था। वृत्तिज्ञानका प्रकाशक एवं अधिष्ठान एक ही होता है, यह मूल तत्त्व है। उत्पत्तिका उपादान एवं आश्रय भी एक ही होता है। अन्त:करणमें ही ज्ञानका उदय एवं स्थिति होती है। अद्भुत था वह प्रसंग! अन्तमें कहा गया—भक्तिसे भागवतका बोध होता है, अभ्यास अथवा विद्यासे नहीं।

गुरुजी व्यास एवं समास दोनों ही पद्धतिसे पढ़ाते थे। कभी-कभी कोई दृष्टान्त भी सुना देते थे। एक बार जिस विद्यार्थीको उनके अध्यापनकी शैलीका रस मिल जाता था, वह उन्हें छोड़ना पसन्द नहीं करता था।

'न मुने' सूत्रपर महाभाष्य पढ़ा रहे थे। अभाव शब्दसे अभावके अभावका भी ग्रहण होगा कि नहीं। अच्छा तो सुनिये—पतञ्जलिके द्वारा उल्लिखित दृष्टान्त—

'एक थी वृद्धा तपस्विनी। वर्षोंतक तपस्या की। देवता प्रसन्न हुए। 'माताजी, आप जो चाहें एक वर माँग लें, वह मिलेगा।'—देवताने कहा। वृद्धाने क्षण-भर रुककर कहा—'मैं अपने इसी शरीरके पौत्रको अपने हाथीपर बैठकर अपने सोनेके कटोरेमें दूध पीते हुए अपनी इन्हीं आँखोंसे देखूँ!' क्या-क्या माँग लिया! वृद्धा युवती हो जाय, उसका विवाह हो, पुत्र-पौत्र हों। धन सम्पदा हो। लम्बी उम्र हो। आँखें बनी रहें।—ओह, एक वरदानमें इतनी बड़ी योजना! देवता चकित रह गया। सब कुछ मिल गया उसको। हाँ तो, एक अभावमें सब अभावका समावेश। ओ ल्यो, पहले पढ़ानेकी यह शैली थी।'

उन दिनों पण्डित मदनमोहन मालवीय अन्त्यजोंको मन्त्र-दीक्षा एवं अस्पृश्यता-निवारणके लिए प्रयास कर रहे थे। मालवीयजी जब व्याख्यान देते, तब तर्क-युक्तियोंका राशि-राशि अम्बार लगा देते थे। वह शिष्टता, वह स्पष्टता, वह निरूपणका चातुर्य—अब कहाँ देखने-सुननेको मिलता है। मेरे गुरुजीका कहना था कि धर्मका निर्णय केवल युक्ति, प्रयुक्तिके बलपर नहीं होता। उसमें ऋषियोंका साक्षात्कार चाहिए—

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

अर्थ—जो अतीन्द्रिय और असंवेद्य भाव हैं, उनको विद्वान् पुरुष आर्ष दृष्टिसे देखते हैं। केवल अनुमानके द्वारा उनके वचनका बाध नहीं हो सकता। वे—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरै - रन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

अर्थ—कुशल-से-कुशल अनुमाता बड़े प्रयत्नसे किसी पदार्थका अनुमान करते हैं। परन्तु दूसरे योग्य विद्वान् अपने अनुमानके बलपर उलट देते हैं।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

अर्थ—जो अचिन्त्य भाव हैं, उनको तर्ककी कसौटीपर नहीं कसना चाहिए।

गुरुजी इन श्लोकोंके साथ अनेक श्रुति-स्मृतियोंके वचन भी जोड़ दिया करते थे। जैसे मनुस्मृतिका—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

अर्थ—जो वेद-शास्त्रके अविरुद्ध तर्कके द्वारा आर्षधर्मोपदेशका अनुसन्धान करता है, वही धर्मके रहस्यको ठीक समझता है, केवल कुतर्की नहीं।

पं० श्रीबलदेवजी पाठक

इस प्रसंगमें गुरुजीने मेरे जैसे अनेक विद्यार्थियोंको भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके अनुसन्धानमें लगा दिया और विविध विषयोंकी सूची बनानेका काम सौंप दिया। मुझपर, उन दिनों उपलब्ध समग्र स्मृतियों एवं कुछ पुराणोंका भार था। धर्मशास्त्रके अध्ययनमें मेरी ऐसी रुचि हुई कि गुरुजीकी आज्ञाके बिना ही मैंने धर्मशास्त्राचार्य परीक्षा देनेका संकल्प कर लिया और बड़ी पियरी मोहल्लेमें ज्योतिषाचार्य पण्डित श्रीबलदेवजी पाठकसे जो कि हिन्दू विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक थे, धर्मशास्त्रके निबन्ध ग्रन्थ पढ़ने लगा। पण्डितजी काशीके जाने-माने विद्वान् थे। उन दिनों वे धूप-घड़ीका निर्माण करते थे और लोगोंको देते भी थे। उनके पुत्र थे पं० श्रीगणेशदत्त पाठक एवं श्रीविद्याधर पाठक। पाठकजीके ही सम्पर्कसे मैंने पाराशर-माधव, धर्म-सिन्धु, निर्णय-सिन्धु, शूद्र-कमलाकर आदि ग्रन्थोंका अवलोकन किया। पाठकजी अवकाशके समय बड़े प्रेमसे मुझे पढ़ाया करते थे और अपने गुरुजीका कृपापात्र होनेके कारण मैं उनका भी विशेष स्नेहभाजन हो गया था। पण्डित गणेशदत्तजीने ही मेरी जन्मकुण्डली बनायी थी।

मालवीयजी : सनातन धर्म-सभा—

पण्डित मदनमोहन मालवीयजीने प्रयागराजमें, त्रिवेणीके तटपर, सनातन धर्म-सभाका आयोजन किया था। उसमें देशभरके जाने-माने विद्वान् आमन्त्रित थे। मालवीयजीने बड़ी श्रद्धासे गुरुजीको बुलाया था। यह तो मुझे स्मरण नहीं है कि वह महाकुम्भ था या अर्धकुम्भी; परन्तु मेला बहुत बड़ा था। विद्वानोंकी सभामें गुरुजीका अपना स्थान निराला ही था। वे मुझे ग्रन्थोंमें-से कोई प्रमाण निकालनेके लिए अपने साथ ले गये थे। किसी विद्वान्ने कहा—'वाल्मीकिजी अन्त्यज थे।' गुरुजीने मेरी ओर देखा। मैंने अध्यात्म रामायण निकालकर सामने रख दिया। उसमें वाल्मीकिजीको जन्ममात्रसे द्विज एवं आचारसे शूद्र लिखा हुआ है और ऋषियोंने उन्हें 'मरा-मरा' जप करनेका उपदेश किया। गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए। वे कभी-कभी मुझे मेला देखनेके लिए भी भेज दिया करते थे।

श्रीविष्णु दिगम्बरकी गीता-सभा ज्ञान-यज्ञ—

उस वर्ष मेलेमें श्रीविष्णु दिगम्बरजीने गीता ज्ञान-यज्ञका आयोजन किया था। मेला देखते हुए मैं वहाँ पहुँच गया। विशाल सभा थी। मैंने सम्भवतः उससे पहले इतनी बड़ी सभा नहीं देखी थी। बड़े-बड़े विद्वान् और उनके गम्भीर तथा रोचक भाषण, गीताशास्त्रकी शास्त्रीय एवं सुगम व्याख्या हो रही थी। मंचपर दिगम्बरजीके साथ श्रीजयदयालजी गोयन्दका भी बैठे हुए थे—गीताप्रेसके संस्थापक। एकाएक एक अवधूत आकर लाउडस्पीकरपर बोलने लगा। कमरमें लँगोटी, मोटा-तगड़ा, हाथमें डण्डा। शरीरपर कोई बनावट नहीं थी। उस अवधूतने कहा—'श्रीकृष्ण एवं अर्जुन दोनों मित्र थे। परस्पर स्नेह सम्बन्धके सूत्रसे बँधे हुए थे। अर्जुनके हृदय-पटलपर शोक-मोहके घने बादल छा गये। अस्त्र-शस्त्र फेंककर रोने लगा। दूसरे मित्रने उसके कन्धेपर हाथ रखा—मेरे भाई यह रोनेका समय नहीं है, लड़नेका समय है। उसने अर्जुनकी आँखोंके आँसू पोंछ दिये। ठहाका मारकर हँस दिया—बहादुरीके समयपर नपुंसकता! है न अभी नपुंसकताका संस्कार शेष! जीतकी जिम्मेवारी मुझपर। उठ भिड़ जा।'

अवधूतका उद्‌बोधन—

अवधूतने यह बताया कि गीता कोई शास्त्र नहीं है। यह तो दो मित्रोंका परस्पर संवाद है। इसको गहन दार्शनिक कक्षामें मत डालिये। सरल रीतिसे जीवनको सरल बनानेके लिए, कृत्रिमता दूर करके सहजता लाने के लिए पढ़िये।

अवधूतकी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे जैसे उसके मानसिक नेत्रके सामने, कृष्ण-अर्जुनकी झाँकी प्रकट हो गयी हो। एक मिनटमें ही वह लाउडस्पीकर छोड़कर भीड़में अदृश्य हो गया।

मेरे लिए नया अनुभव—

मेरे लिए यह नया अनुभव था। शास्त्र एवं शास्त्रियोंके वातावरणमें रहते-रहते मेरा ध्यान इस ओरसे हट गया था। आज जैसे एक नयी दिशा मिल गयी हो। उसी सभामें पहले-पहल गोयन्दकाजीको देखा सिरपर पगड़ी, कानमें मुर्की, बगलबन्दी पहने एक मारवाड़ी सेठ। मैं तो समझता था कि कोई महात्मा होंगे, पर वे तो सेठ निकले। एक सेठ गीताका इतना बड़ा चिन्तक, प्रचारक हो आश्चर्य हुआ।

ब्राह्मण सम्मेलन—

गुरुजी पं० श्रीरामभवनोपाध्याय प्रयागके कुम्भ मेलेसे कुछ खिन्न होकर लौटे। वहाँकी सभामें देश, काल, समाज, परिस्थिति आदिका जितना चिन्तन था, उतना शास्त्र एवं शास्त्रोक्त धर्मका नहीं था। अधिकांश विद्वान् परिस्थितिका ही दिग्दर्शन कराते थे, शास्त्रीय व्यवस्था अथवा मर्यादा सम्बन्धी ऊहापोह या मीमांसा नहीं करते थे।

काशीकी विद्वद्गोष्ठी—

काशीमें विद्वद् गोष्ठी हुई। देशके जाने-माने वेद-वेदांगके विद्वानोंकी सभा आयोजित करनेका निश्चय हुआ। सनातन-धर्म कॉलेजके प्रांगणमें पण्डाल बना। संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् आये। श्रीलक्ष्मण शास्त्रीजी द्राविड़, श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्री, श्रीवामाचरणजी भट्टाचार्य (वृद्ध), श्रीनित्यानन्द पन्त, श्रीहाथी भाई शास्त्री, श्रीबुलाकीरामजी शास्त्री, श्रीगिरधर शर्माजी आदि प्रमुख विद्वान् शास्त्रीय विषयोंका विचार एवं निर्णय करने लगे। पण्डितराज श्रीराजराजेश्वर शास्त्रीजी, सभी विषयोंमें प्रमुखतासे भाग लेते थे। किसी पक्षमें हेत्वाभास या असंगति होती, तो वे उसका निराकरण करते। उनकी युवावस्था थी, पाण्डित्यका प्रकाश था। गुरुजी पं० राम भवनोपाध्याय इस विचार-सभामें विशेष रुचि लेते थे। इस सभामें वर्णाश्रम मर्यादाका शास्त्रीय पक्ष अतिशय उदात्त एवं उत्कृष्ट रूपमें प्रकट किया गया। श्रीगुरुजीने मुझे प्रतिनिधिके रूपमें रख दिया था। बीच-बीचमें धर्मशास्त्रकी बात मैं बोलता जाता था, जैसा कि गुरुजी बताते थे। सभी विषयोंका निर्णय हुआ और उन दिनोंके संस्कृत पत्र 'ब्राह्मण महा सम्मेलन' एवं हिन्दी पत्रमें पर्याप्त चर्चा रही, लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ।

इसी 'शास्त्रार्थ-विचार'के उत्तरांगके रूपमें आचार्योंकी सभा हुई, अगस्त्यकुण्ड, नैमिषारण्य स्थानमें। उन दिनों यह बहुत विशाल मैदान था। पण्डाल विस्तृत, शोभा विलक्षण! सभी सम्प्रदायके आचार्य इकट्ठे हुए। सभी मठोंके शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, एक-एक सम्प्रदायके अनेक-अनेक आये। उनकी सेवा-व्यवस्था करनेवालोंमें मैं भी था। उस सभामें मुझे बहुत दुःखदायी अनुभव हुआ।

सिंहासन कितना ऊँचा कितना नीचा !

फीता लेकर सबका सिंहासन नापना होता था। कोई ऊँचा-नीचा न हो, सब बराबर हो। परन्तु, इतनेपर भी बात नहीं बनी। कौन दाहिने और कौन बायें रहे, यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ। अन्ततोगत्वा गोल-गोल सिंहासनोंकी व्यवस्था की गयी—सब सबके दायें, सब-सबके बायें। यह सब व्यवस्था करने पर भी एक आचार्यके व्याख्यानके समय दूसरे आचार्य नहीं आते थे। अपना-अपना व्याख्यान देकर चले जाते थे। एक दूसरेसे मिलें नहीं, बोलें नहीं। कोई शिष्टाचार नहीं, नमस्कार नहीं। यह सब देखकर उसी समय मेरे मनपर यह प्रभाव पड़ गया कि ये लोग कभी एकत्र-संगठित नहीं होंगे और न इनके द्वारा सनातन-धर्मकी रक्षा अथवा संवर्द्धन होगा। किसी भी एक सभामें उतने आचार्योंका उपस्थित होना एक सुखद आश्चर्य अवश्य था, परन्तु उसका जो दुःखद संस्कार मेरे हृदयपर पड़ा, वह कभी नहीं मिटा और अब भी जब कहीं आचार्योंके संघटन या ऐकमत्यकी चर्चा होती है तो विश्वास नहीं होता। एक ही सम्प्रदायके दो आचार्य भी तो परस्पर पूर्ण सौमनस्य नहीं रखते।

गुरुजीका पाण्डित्य—

आचार्यगण इतनी उत्तम कोटिकी प्रसन्न-गम्भीर पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत भाषामें व्याख्यान देते थे कि पचास वर्षसे अधिक हो जानेपर भी अबतक उनका स्मृति संस्कार हृदय-पटलपर अंकित-सा लगता है। सम्भवतः प्रतिवादि-भयंकर पीठाधीश्वर श्रीरामानुजाचार्यने ऐसा प्रवचन किया था—

प्रतिवादि-भयंकरका भाषण—

आसीत् तथाविधः समयो भारतवर्षस्य यस्मिन् नः पूर्वे पुरुषाः दैवीं वाचं उपचिन्वन्त उपभयतो लोकानां अविप्लुतवृत्तय आसन्। हन्त हन्त सोपि गतः तेपि गताः सापि गता गह्वरम्। ननु निरन्वयो विनाशः सर्वेषाम्।

अर्थ—भारतवर्षका एक वह स्वर्ग समय था जब हमारे पूर्वज दैवीवाक् संस्कृतका अध्ययन-अध्यापन, मनन-चिन्तन करते हुए लोक-परलोक दोनोंके

लिए सुख-साधन-सम्पत्तिके साथ अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। कितने दु:खकी बात है कि अब न वह समय है, न वे पूर्वज हैं। वह भी गया, वे भी गये और वह दैवी वाणी तो कहीं पर्वतोंकी कन्दरामें जाकर लुप्त हो गयी। हाय, हाय! क्या वे सब फिर कभी लौटकर नहीं आयेंगे!

मैं तो उन आचार्योंकी वाणी सुनकर ही मुग्ध हो जाता था। यदि ईश्वरकी कृपासे उनमें परस्पर सौमनस्य, सौहार्द होता तो आज धर्म एवं सच्चारित्र्यका इतना अभाव न होता। परन्तु, सब रूपोंमें भगवान्‌की लीला ही तो हो रही है।

गुरुजी पं० रामभवनोपाध्याय शांकर अद्वैत सिद्धान्तमें सम्पूर्ण आस्था रखते थे। अद्वैत-सिद्धान्त तो औपनिषद ही है। दूसरोंकी टीका-टिप्पणी, भाष्यसे विलक्षणता सूचित करनेके लिए उसको शांकर कहते हैं। गुरुजीका यह स्पष्ट अभिमत था कि व्याकरण-दर्शन अद्वैत-सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करता है। जगत्-कारणके रूपमें जिस शब्द तत्त्वको स्वीकार किया गया है, वह अनादि, अनन्त, अविनाशी, अपरिणामी है। जो कुछ भी अर्थ सत्ता है, वह उसीका विवर्त है। विवर्तका अर्थ है, जो अपने तात्त्विक स्वरूपसे अन्यथा प्रतीत होता है। यह 'शब्द-तत्त्व' व्यवहार-दशामें प्रकृति, प्रत्यय, सुबन्त, तिङन्त आदिके रूपमें होता है, परन्तु परमार्थस्वरूप परा वाक् है। वह व्यवहारका विषय नहीं है, अखण्ड संवित् ही है। काल-कल्पनाका प्रकाशक होनेसे नित्य है। देश-कल्पनाका प्रकाशक होनेसे व्यापक है। वस्तु-भेद-कल्पनाका प्रकाशक होनेसे अद्वितीय है। सबसे विलक्षण होनेके कारण सबके अत्यन्ताभावका अधिकरण भी है। वस्तुत: 'शब्दतत्त्व' आत्मतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं है। जैसे प्रत्येक दृश्यमें आत्मचैतन्यकी अनुगति है, वैसे ही प्रत्येक प्रत्ययमें शब्द-तत्त्वकी अनुगति है। शब्दानुगमके बिना कोई प्रत्यय नहीं होता है। सारा व्यवहार शब्दानुविद्ध है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे जो प्रमा होती है, वह भी शब्दसे व्याप्य ही होती है। 'अयं घट:;' 'तत्र वह्नि' यह सब शब्द व्यवहार ही है।

वैयाकरणोंके मतमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं अर्थापत्ति चार प्रमाण हैं। उपमान, अनुमानके अन्तर्गत है। अनुपलब्धि, प्रत्यक्षके अन्तर्गत है। प्रमाणोंकी संख्यामें मतभेद होनेपर भी 'प्रमेय' में कोई मतभेद नहीं है। वह तो प्राय: सभी दर्शनोंमें एक-सा है। वैयाकरणोंने यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि द्रष्टा, दर्शन, दृश्यमें भेद नहीं है। एक निर्विकल्प सत्य है। वेदान्तका यही सिद्धान्त है।

वेदान्तका सिद्धान्त वर्णन करनेसे अपने सिद्धान्तका भी वर्णन हो गया। क्योंकि व्याकरणके विद्वान् वेदान्तपर दृढ़ आस्था रखते हैं।

गुरुजी पं० रामभवनोपाध्याय व्यावहारिक कार्य कलापसे मुक्त होनेपर प्राय: प्रतिदिन प्रस्थान-त्रयीका मनन-चिन्तन करते थे।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि पण्डितजी सनातन-धर्मके दृढ़ निष्ठावान् विद्वान् थे। वे वेद शास्त्रोक्त सभी सिद्धान्तोंमें विश्वास रखते थे। भगवान्‌के निराकार-साकार रूप; अवतार; मूर्तिपूजा; वर्णाश्रम; स्पृश्यास्पृश्य; श्राद्ध; कन्यादान; भक्ष्याभक्ष्यका विचार; तीर्थयात्रा आदि इन सबमें उनकी आस्था देखते-ही बनती थी। एक-एकका उदाहरण देनेसे विस्तार बढ़ जायेगा।

उन दिनों वाराणसीमें स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी नामके एक महात्मा रहते थे। बनारस छावनीके मार्गमें उनका आश्रम था! महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज उनके बड़े भक्त थे और उनसे प्राय: योग-वेदान्तकी चर्चा किया करते थे। कविराजजीने उनके सम्बन्धमें 'विशुद्धानन्द-प्रसंग'के नामसे बंगलामें एक बड़ी पुस्तक भी लिखी है, जो अनेक खण्डोंमें प्रकाशित है। कविराजजीने उनके बहुत चमत्कार देखे थे। चम्पाके पौधेको गुलाब और गुलाबके पौधेको चम्पा बना देना उनके लिए मिनटोंका खेल था। शीशेपर सूर्यका प्रकाश ग्रहण करके अनेक चमत्कार दिखाते थे। अपनी आँखोंमें भगवान्‌का दर्शन भी करा देते थे। उनके 'त्राटक' से पाषाण भी छिन्न-भिन्न हो जाता था। जब हमलोग इन चमत्कारोंको सुनते, तो स्वाभाविक ही मनमें होता कि हम भी चलकर कुछ चमत्कार देखें। परन्तु गुरुजी पं० रामभवनोपाध्यायजीने बड़ी कठोरतासे हमलोगोंको मना कर दिया था। उनका कहना था कि यदि तुम लोग अभीसे सिद्धि-चमत्कारमें लग जाओगे तो पढ़ना-लिखना सब चौपट हो जायेगा। तबसे आजतक हम उनके आश्रममें कभी नहीं गये। कुछ वर्षों बाद कोई विदेशी सज्जन जिनका नाम डॉ० पाल ब्रण्टन था, गुप्त भारतकी खोज करते हुए स्वामी विशुद्धानन्दजीके पास आये थे। 'बनारसके जादूगर' के नामसे उनके कई चमत्कार लिखे थे, परन्तु बादमें उसने दूसरी पुस्तक लिखकर सबका खण्डन कर दिया था।

महामहोपाध्याय श्रीगंगाधर शास्त्रीके शिष्योंमें न्याय, व्याकरण, मीमांसा एवं साहित्यके एक बहुत बड़े विद्वान् थे। उनके पाण्डित्यका प्रकर्ष सभी स्वीकारते थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका लेखन, सम्पादन भी किया था, परन्तु उनकी रहनी बड़ी विलक्षण थी। स्त्रियों जैसे बाल रखते थे। इत्रसे स्नान करते थे। रेशमी कपड़े पहनते

थे। मेरे गुरुजीने उनके पास जानेको भी मना कर दिया था। सभामें उनके कईबार दर्शन हुए। गोरखपुरमें कल्याण-परिवारके साथ रहते हुए—उनसे मिलनेका भी सुअवसर मिला। सत्संग भी हुआ परन्तु, उनके स्थानपर मैं कभी नहीं गया। गुरुजीका कहना था यदि विद्यार्थी शारीरिक वेशभूषा, शृंगार-प्रसाधन, भोग-साधनकी ओर झुक जायेगा तो उसके विद्याध्ययनमें बाधा पड़ जायेगी और वह आगे नहीं बढ़ सकेगा।

काशीके संस्कृत कवियोंमें उन दिनों महामहोपाध्याय देवीप्रसादजीकी बड़ी मान्यता थी। उनके साहित्यज्ञान एवं काव्य-रचनाकी प्रतिभा विद्वानोंकी चर्चाका विषय थी। परन्तु, हमलोगोंको उनके पास जानेकी भी, गुरुजीकी आज्ञा नहीं थी। इसका कारण यह था कि शृंगार-रसके प्रसंगोंका वे इतना खुला करके वर्णन करते थे एवं रहनी-सहनीमें भी कुछ ऐसा अलगाव रखते थे कि गुरुजी हमलोगोंके लिए उनका संग भी अच्छा नहीं समझते थे। पं० देवीप्रसादजीके पिताजी श्रीतुक्कभंजन कविने रघुवंशपर 'चोरपक्षीया' टीका लिखी थी। इसे भी गुरुजी शास्त्रका विप्लव ही मानते थे। व्याकरण, कोशादिके अनुसार ठीक होनेपर भी एवं पाण्डित्यके उत्कर्षका सूचक होनेपर भी वैसा करना वाक्-देवीका अपमान ही मानते थे।

श्रीरामपरीक्षण शास्त्री—

काशीके ईश्वरगंगी नईबस्तीके पास एक विलक्षण विद्वान् रहते थे। उनका नाम था श्रीरामपरीक्षण शास्त्री। वे अपने मकानसे बाहर नहीं निकलते। उन्होंने अंगोपांग सहित वेद-शास्त्रोंका अध्ययन किया था। दर्शन-शास्त्रके कर्कश तर्क, काव्यकी ओज एवं प्रसादसे, परिपूर्ण प्रतिभा देखते ही बनती थी। सड़कके दूसरी ओर पक्का कूआँ था। वहाँसे हम उनके लिए पानी भर देते थे। घर-आँगनमें झाड़ू लगा देते थे। अड़तालीस (४८) वर्षकी वय तक उन्होंने विवाह नहीं किया था। हम अपने गुरुजीसे छिपाकर उनके पास जाया करते थे। वे सभी शास्त्रोंके चूड़ान्त, सिद्ध विद्वान् थे। हमारे पाठ्यग्रन्थोंको तो वे चुटकी बजाते कहानीकी तरह पढ़ा देते थे। इसके अतिरिक्त उनके पास एक चौकी थी। जब वे उसपर बैठ जाते थे तो जैसे उनके अन्दर कोई दैवी चमत्कारका उदय हो जाता था। उन्होंने एक-एक करके बयालीस (४२) विषयोंपर मुझसे सूत्रात्मक निबन्ध लिखवाये थे। जैसे, तेजोदर्शनम्, अब्दर्शनम् इत्यादि। एक काव्य भी लिखवाया था, उसका नाम था—'श्रीयोगेश्वर चरितम्।' जहाँतक मुझे स्मरण है श्रीयोगेश्वरजी उनके

पिताका नाम था। एक सदाचारी ब्राह्मणने उनके घरमें लाकर अपनी कन्याका दान कर दिया। पण्डित ऐसे स्थानपर बैठकर हमलोगोंको पढ़ाया करते, जहाँसे उनकी पत्नी भी दिखती। वे भी ग्रन्थ लेकर बैठतीं और पढ़ती भी थीं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सम्पर्क एवं अध्यापनसे हमारी बुद्धिकी गति सभी विषयोंमें थोड़ी-थोड़ी होने लगी थी।

वे ब्राह्मणोचित्त आचारका पालन करते थे। उन्हें कोई सिद्धि अवश्य थी। आश्चर्य तो तब होता, जब वे काशीके एवं देशी-विदेशी विद्वानोंके अपने पास आकर समाधान प्राप्त करनेकी सुनाया करते। उनके शब्दोंमें जर्मनसे उनके पास गणितके प्रश्न आया करते थे। महामना श्रीसुधाकरजी द्विवेदी, गोपीनाथ कविराज भी चुपके-चुपके अपने प्रश्नोंके उत्तर ले जाया करते थे। स्वनामधन्य म० म० श्रीशिवकुमार शास्त्रीजी महाराज भी उनकी निरुत्तर प्रतिभा देखकर मुग्ध हो जाया करते थे। हम समझते थे कि यह सब बातें सच्ची नहीं हैं, फिर भी बड़े ध्यानसे यह सब सुनना पड़ता था; क्योंकि वे कुछ दिनोंमें ही इतना पढ़ा देते थे जितना दूसरे विद्वानोंके पास जाकर पढ़नेमें वर्षों लग जाता।

स्वामी श्री मनीषानन्दजी तीर्थ—

वाराणसीके टेढ़ीनीम मोहल्लेमें शिवगढ़के राजाकी कोठी थी। तीन-चार मंजिलकी तो अवश्य रही होगी। उसमें रहते थे स्वामीश्री मनीषानन्दजी तीर्थ। वे उस कोठीमें अकेले एवं नंगे रहते थे। कोई नौकर-चाकर नहीं था। भिक्षा कहीं अलगसे होती थी। वे शास्त्रोंके पारदृश्वा विद्वान् थे। ऐसा सुना था म०म० श्रीशिवकुमार शास्त्रीसे उनका शास्त्रार्थ हुआ था। गृहस्थाश्रममें श्रीमनीषानन्दजीका नाम श्रीहरनाथ शास्त्री था। शास्त्रार्थके समय उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं श्रीशिवकुमार शास्त्रीजीसे नमस्कार कराऊँगा। परन्तु, वे ऐसा कर न सके। संन्यासी होनेके पश्चात् श्रीशास्त्रीजीने उनको नमस्कार किया और कहा कि अब आप वे नहीं हैं। दण्ड ग्रहण करनेपर नर नारायण हो जाता है। ऐसा लिखनेका प्रयोजन यह है कि स्वामीजी एक उच्चकोटिके विद्वान् थे। और धर्म एवं विद्याके चतुर्दश स्थानोंके मर्मज्ञ थे। उन्होंने एक ग्रन्थ भी लिखा था। जहाँतक मुझे स्मरण है उसका नाम था—'यतीन्द्र चरितामृतम्' वह ग्रन्थश्रीशिवकुमार शास्त्रीजीके 'यतीन्द्रचरितम्' के टक्करका ही था। मुझे अबतक उसकी दो पंक्तियाँ याद हैं—

रे रे चित्तचकोर चञ्चल-चिरात्संसारदावानलाद्
भीतो यद्यसि तर्हि भावय सखे तापोपशान्तिं मनाग्।
भावानन्दयतीश्वरस्य चरितम् इत्यादि

वे मेरी नानीके गुरु थे। अतः बाल्यावस्थासे ही उनके पास मेरा जाना-आना था। मैंने उनसे धर्म शास्त्राचार्य परीक्षा देनेके लिए याज्ञवल्क्य स्मृतिके दाय भागका अध्ययन किया था। 'मिताक्षरा' प्रायः उन्हें कण्ठस्थ थी। योग-भाष्य भी उन्हींसे अध्ययन किया था। वे वेदान्त-दर्शनके प्रौढ़ विद्वान् थे। अतः योगदर्शनसे भी वेदान्त-सिद्धान्त सिद्ध करते थे। उनका कहना था कि योगमें अभ्यास, वैराग्य वृत्तिनिरोध और द्रष्टाका स्वरूपावस्थान मुख्य नहीं है। इसमें मुख्य है, एकमात्र विवेक ख्याति। विवेक ख्याति हो जानेपर निरोध रहे या न रहे, उसका कोई महत्त्व नहीं। निरोधमें अविद्या-निवृत्तिका सामर्थ्य नहीं है।

औपाधिक हेतुओंसे द्रष्टाकी अनेकता सिद्ध नहीं हो सकती। जन-साधारणकी दृष्टिसे प्रपञ्चका अदर्शन नहीं कह सकते। परन्तु, कृतार्थकी दृष्टिसे प्रपञ्चको दृष्ट भी नहीं कह सकते। अतएव महर्षि पतञ्जलिका पक्षपात भी वेदान्त-दर्शनमें ही है।

जब मैं उनके पास अध्ययन करता था, उनकी उम्र ७५ वर्षके लगभग थी। इतने बड़े मकानमें अकेले रहना, पानी भरना, झाड़ू लगाना अर्थात् सब छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा काम वे अपने हाथोंसे ही करते थे। उनका जीवन सर्वथा स्वावलम्बी, परिश्रमी और आनन्दी था। कभी-कभी विनोद भी कर लेते थे। कमरसे थोड़ा लटकते हुए चलते थे और चलते फिरते भी पढ़ाते थे। उन्हें ग्रन्थ-के-ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। पुस्तक देखनेकी कभी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वे विद्वान् होनेके साथ-साथ एक अनुभवी, साक्षात् कृतात्मा सन्त थे।

डा० गंगानाथ झा एवं डा० भगवान्दास उनके प्रमुख शिष्योंमें-से थे।

पं० श्रीरघुनाथ शर्मा—

पण्डित श्रीरघुनाथ शर्माको तो विद्वत्-समाज भली-भाँति जानता है। वे सर्व शास्त्रोंके अन्तस्तलावगाही विद्वान् थे। वे पहले संन्यासी कालेज (काशी) में अध्यापन करते थे। बादमें श्रीसम्पूर्णानन्द विश्व विद्यालयके वेदान्त विभागाध्यक्ष हो गये। अभी वे बलिया जिलेके छाता ग्राममें रहते हैं। ८५ वर्षसे

अधिक उनकी उम्र है। उनके पाण्डित्य और प्रतिभाका दिनों-दिन प्रकाश होता जा रहा है। अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। भर्तृहरिके वाक्यपदीयपर उनकी विद्वद्-भोग्य टीका है—'अम्बाकर्तृ' उनके साथ हमारा गृहस्थाश्रमसे ही पारिवारिक एवं स्नेह सम्बन्ध है। उनका कहना था कि किसी भी शास्त्रकी ऐसी कोई भी पंक्ति नहीं है, जिसकी व्याख्या मैं नहीं कर सकता। अपनी युवावस्थामें ही उन्होंने चित्सुखीकी नैनाप्रसादिनी टीकाका सम्पादन किया था। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उनका समग्र पाण्डित्य उनके पिता पं० श्रीकाशीनाथजी महाराजके आशीर्वादका फल है।

पं० श्रीकाशीनाथजी—

पं० श्रीकाशीनाथजी विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध तथा एक अनुभवी सत्पुरुष थे। वे अद्वैत-सिद्धि, खण्डन-खण्ड-खाद्य, चित्सुखी इस प्रकार पढ़ाते थे, जैसे कोई कहानी हो। ऊँकड़ू बैठ जाते, हाथपर सुरती मलते होते, साधारण-सा वस्त्र पहने चटाईपर बैठे होते और बड़े-बड़े दर्शन-ग्रन्थोंका अध्यापन करते रहते। उनके सामने बैठनेपर ऐसा लगता, जैसे किसी पुराण-वर्णित ऋषिके सम्मुख बैठे हों। एकबार वे अद्वैत-सिद्धि पढ़ा रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते कहने लगे—'कुछ काटत बा हो।'

'कहाँ महाराज?'

'पिठियैमें। अच्छा काटै दा, पाठ चलै।'

पाठ समाप्त होनेके बाद वस्त्र हटानेपर बिच्छू मिला, जो कई डंक मार गया था। काशीके अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानोंने उनसे वेदान्तका अध्ययन किया था। 'अनुभूतिप्रकाश'पर उनकी संस्कृत-टीका यह प्रकट करती है कि वे वेदान्त-शास्त्रके कितने मर्मज्ञ विद्वान् थे। उपनिषदोंके एक-एक मन्त्रको उन्होंने अनुभूतिप्रकाशके श्लोकोंमें दिखाया है। वह ग्रन्थ अबसे लगभग ५० वर्ष पूर्व केवल एक बार प्रकाशित हुआ था, जो उनसे स्वाध्याय करनेवाले जिज्ञासुओंने प्रकाशित करवाया था। वे प्रायः सरस्वती फाटकके पास ब्रह्मविद्या-मन्दिरमें ही रहते थे।

जब पं० मदन मोहन मालवीय गोलमेज कान्फ्रेंसमें सम्मिलित होनेके लिए लन्दन जाना मान गये; गङ्गाजल, गाय, पवित्र मृत्तिका, भारतीय खान-पान, परिधानकी व्यवस्था हो चुकी, तब वे पं० श्रीकाशीनाथजी महाराजसे अनुज्ञा लेनेके लिए गये। हिन्दू विश्वविद्यालयके अधिकांश विद्वान् इस यात्राके विरुद्ध थे।

मालवीयजीने आकर पण्डितजीके चरण छूए और आशीर्वाद माँगा। पं० काशीनाथजीने उन्हें सहर्ष अनुमति एवं आशीर्वाद दिया और कहा—

'तुम एक व्यक्तिके रूपमें नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्रके रूपमें वहाँ जा रहे हो। वहाँ ऐसा ही कहना और करना; जिससे देशका सिर ऊँचा हो। जिससे अब, तब या कभी आत्मग्लानि होती हो या होनेकी सम्भावना हो वह काम नहीं करना चाहिए। तुम भारतके सूर्य हो, सनातनधर्मके अग्रणी नेता हो, वहाँ जाकर सनातनधर्मके उज्ज्वल रूपको प्रकट करो।'

मालवीयजी उनका आशीर्वाद लेकर ही लन्दन गये थे। पं० श्रीकाशीनाथजी महाराजका स्मरण करके अब भी हृदयमें एक प्रकारकी प्रसन्नताका अनुभव होता है। मैं अपनेको उनके सम्पर्क एवं आलापसे अब तक गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

पं० श्री भूपनारायण मिश्र —

काशीके नीलकण्ठ मोहल्लेके श्रीराम-मन्दिरमें पं० श्री भूपनारायण मिश्र रहते थे। मेरी उनकी जन्मभूमिके गाँवके पास ही 'महेशी' है। वे मेरे पितामहके समकक्ष थे। दोनों देशमें प्रतिष्ठित थे। आवाजापुर ग्राममें दोनोंके परम्परागत शिष्य थे। मेरे पूर्वाश्रमके अनेक सम्बन्ध उनके साथ एवं उनके पुत्र, पौत्रादिके साथ भी थे। सम्बन्धके अतिरिक्त उनकी जो विद्या थी, वह भी उच्चकोटिकी थी। टीका-टिप्पणी सहित श्रीमद्भागवत उन्हें कण्ठस्थ था। 'मनोरमाशब्दरत्न' बारम्बार उद्धृत करते। मैं नित्यप्रति प्रातः उनसे भागवत पढ़नेके लिए जाता था। इसके अतिरिक्त जब मुझे अवकाश होता, उनके घर चला जाता। उनकी धर्मपत्नी मेरी बूआकी ननद भी थीं, मेरी माताके समान थीं। वे मुझे बड़े प्रेमसे खिलातीं और पण्डितजी मुझे अलगसे भागवतकी गर्भस्तुति, ब्रह्मस्तुति, वेदस्तुति आदिके गम्भीर एवं कठिन प्रसंग पढ़ाते। उन्हें सब कण्ठस्थ तो था ही, भोजनके बाद वे लेट जाते, मैं पुस्तक लेकर बैठ जाता और वे बोलते जाते। अध्ययन समाप्त होनेके बाद मैं कभी काशी जाता तो उन्हींके पास ठहरता। उनकी स्नेहपूर्ण ममता मुझे प्राप्त थी।

वे कभी-कभी, एक-एक वाक्यके अनेक-अनेक अर्थ कहते थे। उदाहरणार्थ—'**पशुपांगजाय**' इसका अर्थ होता है—पशुप अर्थात् नन्दबाबा, उनके अङ्गज, आत्मज श्रीकृष्ण।

पशुप=नन्द, उनके अङ्ग=मित्र=वसुदेव उनसे उत्पन्न श्रीकृष्ण।

पशुप अविद्याग्रस्त पशुप्राय मनुष्योंको ज्ञानदान करके रक्षा करनेवाले ब्राह्मण जिनके अङ्गज हैं अर्थात् मुखसे उत्पन्न हुए हैं।

यह तो केवल उदाहरण ही है। वे विराट् पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे उत्पन्न समग्र सृष्टिको इस वाक्यके अर्थसे सम्बद्ध कर देते थे। इस वाक्यके ११५ अर्थ उनके मुखसे मैंने सुने थे। वे कितने निःस्पृह थे, यह आप इस बातसे जान सकते हैं कि वे कामेश्वरनाथके मन्दिरमें लगभग ५० वर्षतक प्रतिदिन सायंकाल श्रीमद्भागवतपर प्रवचन करते रहे। उन्हें दिनका एक रुपया दक्षिणाका मिलता था। वे विद्यार्थियोंको अपने घरपर ही पढ़ाते थे। उनके पढ़ाये हुए सैकड़ों विद्वान् देश में भागवतके प्रवक्ता बन गये। परन्तु, उन्होंने किसीसे कुछ माँगा नहीं। सादे वस्त्र, सो भी कभी साबुनसे नहीं धोये जाते थे। पण्डितोंकी सभामें भी वैसे ही वस्त्र धारण किये हुए जाते थे। वृद्धावस्थामें जब कामेश्वरनाथकी ओरसे प्रवचन बन्द कर दिया गया, तब श्री करपात्रीजी महाराजने उन्हें रिक्शेसे धर्मसंघ विद्यालय आने-जानेकी व्यवस्था कर दी और वे वहाँ जाकर श्रीमद्भागवत पढ़ाते थे।

जब मैं स्वामी योगानन्दजी पुरीके सम्पर्कमें आया, उनसे श्रीमद्भागवतके प्रवचन सुने। उनके प्रवचन अतिशय ललित-ललित, मधुर-मधुर, प्रसन्न-गम्भीर होते थे। एक दिन उन्होंने कहा कि तुम भागवतीजीके पास जाते हो, उनसे पूछना कि पुराण और इतिहासमें क्या अन्तर है? मेरे पूछनेपर श्रीभागवतीजीने बताया कि इतिहास घटना प्रधान होते हैं—काल-क्रमसे घटित, पुराण शिक्षा-प्रधान होते हैं। पुराणोंकी एकवाक्यता होती है विधि-निषेधके वचनोंके साथ। यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए—इसके लिए वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। युधिष्ठिरके समान बरतना चाहिए, दुर्योधनके समान नहीं। यदि युधिष्ठिर भी कुछ धर्म-विरुद्ध करेंगे, जैसे 'द्यूतक्रीड़ा' तो उन्हें भी दुःख भोगना पड़ेगा। यदि माता भी भक्त होगी तो परीक्षितके समान पुत्र होगा। महाभारतमें वर्णित परीक्षितका इतिहास मनुष्यके स्वभावका परिचायक है। वे मृत्युके भयसे नदीमें महल बनाकर अपनेको सुरक्षित करते हैं। श्रीमद्भागवतके परीक्षित अपने पूर्व विचारित वैराग्यके अनुसार गंगाके तटपर बैठकर सर्वत्यागी होकर श्रीमद्भागवतका श्रवण करते हैं। यही इतिहास, पुराणका अन्तर है। जब मैंने यह उत्तर स्वामी श्री योगानन्दजी महाराजको बताया तो वे बहुत प्रसन्न हुए।

भागवतीजी, वेद-वेदान्तके भी मर्मज्ञ थे। उन्होंने श्रीमद्भावतके उपक्रम एवं

उपसंहारमें आये हुए 'सत्यं परं धीमहि' का अभिप्राय बताया—सत्य अबाधित है और वह 'पुरुषात्परं किञ्चित्'के अनुसार 'पर' अर्थात् प्रत्यागात्मा ही है। श्रीशुकदेवजीका परीक्षितके प्रति चरम-परम उपदेश है—'अहं ब्रह्म परं धाम,' आत्मासे अभिन्न ब्रह्म, ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा, ब्रह्मात्म-एकत्व लक्षण वेदान्तसार ही श्रीमद्भागवतके रूपमें प्रकट हुआ है। इस अद्वैतानुभूतिकी प्राप्तिके लिए अन्तःकरण शुद्ध होना आवश्यक है। वह शुद्धि भक्तिसे होती है। प्रीतिपूर्वक तदाकार वृत्ति अन्तःकरणको शुद्ध तो करती ही है, भजनीय 'तत्-पदार्थरूप भगवान्‌के स्वरूपको भी स्पष्ट करती है। अतः तत्त्वज्ञानके सहस्र-सहस्र उपायोंमें भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे इसका उपदेश किया है। जहाँ तृतीयान्त विभक्ति प्रयोग है—'भक्त्या' वहाँ तो साधनता स्पष्ट ही है। जहाँ भक्तिसे संजात भक्ति 'भक्त्या संजातया भक्त्या', वहाँ भी परा शान्तिका साधन ही है। पंचमीका प्रयोग भी 'भक्तेः' हेतु अर्थमें ही है। जहाँ 'भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः'—भक्ति और विरक्ति एवं प्रबोधकी साधनता ही है। जैसे कोई कहे कि धनवान सुखी है तो वहाँ धन सुखका साधन है, यही बोध होता है। अथवा यों कहें कि डण्डेवालेने घड़ा फोड़ दिया तो घड़ा फोड़नेका साधन डण्डा ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'भक्तिमान् ज्ञानी', इस प्रयोगमें भी ज्ञानका साधन भक्ति है, ऐसा ही बोध होता है।

भागवतीजीका दृढ़ निश्चय था कि कोई व्याकरण, न्याय आदिका विद्वान् होनेपर भी अपनी विद्या या अभ्यासके बलपर 'भागवत' का मर्म नहीं समझ सकता। भक्तिसे ही भागवत समझमें आता है। भागवतका संकल्प ही भगवद्-भक्तिके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार है। सगुण-साकार भगवान्‌के साक्षात्कारमें भक्ति सर्वथा स्वतंत्र है, ठीक वैसे ही जैसे निर्गुण निराकार ब्रह्मात्माके साक्षात्कारमें ब्रह्मविद्या।

स्वामी श्रीयोगानन्द पुरीजी महाराज काशीके काशीदेवी मठमें कभी-कभी आकर निवास करते थे। मैं उनका दर्शन करनेके लिए वहाँ जाया करता था। मठके स्वामी थे श्रीरामानन्द गिरिजी महाराज, उन्हीं दिनों बड़ी उम्रमें उन्होंने व्याकरणाचार्य परीक्षा पास की थी। बड़े सहृदय एवं मिलनसार थे। सन्तोंका आदर करते थे। भगवत्कृपासे शताधिक आयु प्राप्त करनेपर भी वे स्वस्थ एवं प्रसन्न मुद्रामें अहमदाबाद निवास करते हैं। उन्हींके स्थानमें स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज, जो १०-१५ शास्त्रोंके आचार्य थे, रहा करते थे।

श्रीज्योतिर्मयानन्दपुरी, श्रीदयालपुरी, श्रीचन्द्रशेखर गिरि इन सबके साथ काशीदेवी मठमें ही मेरा परिचय हुआ।

स्वामीश्री ज्योतिर्मयानन्दजी—

स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज, ठाकुर साहब प्रसिद्धनारायण सिंहके साथ कुण्डलिनी जागरणका अभ्यास करते थे। वे सुन्दर, स्वस्थ, विद्वान् एवं सरल चित्तके थे। एक दिन वे प्रसन्न होकर मुझसे बोले—'पण्डित, तुम्हें जो भोगना हो सो भोग लो। जो करना हो सो कर लो। जब सबसे निवृत्त होकर मेरे पास आओगे तो मैं चुटकी बजाकर तुम्हें तत्त्वज्ञान करा दूँगा। जबतक कुछ पाना है, तभीतक कुछ करना है। अन्यथा ब्रह्म तो अपना स्वरूप ही है। आत्मा एवं ब्रह्मके बीचमें कोई वास्तविक आवरण नहीं है। यदि अविद्याकृत आवरण है भी, तो जो अविद्याका कार्य होता है, वह वस्तुतः नहीं होता। अज्ञानसे मानी हुई वस्तु सच्ची नहीं हुआ करती। दृश्यके निर्माण, परिवर्तन, परिवर्द्धन, संहरण, निरोधन इन सब बातोंकी जबतक इच्छा है तभीतक कर्त्तव्य है। ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति होती है, वह भी सत्य नहीं होता। अतः तुम निश्चय रखो—परमार्थका साक्षात्कार कोई कठिन नहीं है। '

स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजीका हरिद्वार, मायापुरमें सिद्धाश्रम बना, परन्तु उनका शरीर थोड़े दिनोंमें ही शान्त हो गया।

श्रीदयालपुरी एवं श्रीशंकर चैतन्य भारती—

श्रीकाशीदेवी मठमें श्रीदयालपुरीजी रहा करते थे। उनसे प्रथम परिचय भी आश्चर्यजनक रीतिसे हुआ था। वे एकबार महात्मा श्रीधर्मगिरिजी या श्रीविष्णुगिरिजी (मुझे ठीक-ठीक नाम स्मरण नहीं है) के साथ बैठकर ब्रह्मसूत्रका शांकरभाष्य लगा रहे थे। किसी पंक्तिपर विचार होरहा था। मैं अपने गाँवके वेशमें लोटा कम्बल लिये वहाँ जाकर बैठ गया। मुझे शिष्टाचारका पूरा बोध भी नहीं था। मैंने धृष्टता की—'कुछ क्षणके लिए ग्रन्थ मुझे दे दीजिये।' मेरे मुँहसे उस पंक्तिका जो अभिप्राय प्रकट हुआ, उसको सुनकर वृद्ध महात्मा बोले कि यह तो ब्रह्मविद हैं। उसी दिनसे श्रीदयालपुरीजीके साथ श्रद्धा, प्रेमका परिचय हो गया था। मैं काशी-देवी मठमें जाकर उनसे अवश्य मिलता। वे एक चटाईपर बैठे या लेटे होते। उनके चारों ओर शास्त्र ग्रन्थ रखे होते, कोई क्रम नहीं, कोई

सिलसिला नहीं। वे बताते थे कि मैं जब शास्त्रका चिन्तन करने लगता हूँ, तो मेरी शास्त्र समाधि लग जाती है। विचारधारा तत्त्वोन्मुख प्रवाहित होने लगती है। प्रपञ्चका विस्मरण हो जाता है। सिद्धगिरिके श्रीशंकर चैतन्य भारतीपर दयालपुरीजीकी बहुत श्रद्धा थी। वे उनसे पढ़ते भी थे। भारतीजी ने 'ख्यातिवाद' एवं 'खण्डन' पर 'शारदा टीका' दो ग्रन्थ लिखे थे। वे पूरी तरह मेरी समझमें नहीं आते थे। मैं भारतीजी पास एक-बार दो-बार गया। वे पूजा-पाठ, जपमें संलग्न रहते थे। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि मनका स्वरूप क्या है? उन्होंने चार्वाकसे लेकर अद्वैत वेदान्त तकके आचार्य, मनका क्या स्वरूप मानते हैं, समझाने लगे। मैं आश्चर्य-मुग्ध होकर सुनता रहा। अन्तमें उन्होंने अपने सिरपर हाथ रख लिया और बोले कि बहुत हो गया, इसका कहीं पार नहीं है। सभी आचार्योंने अपने-अपने सिद्धान्तके अनुरूप मनकी कल्पना की है। उनका शास्त्र-ज्ञान सम्बन्धी स्तर बहुत ऊँचा था। हम अब भी उनका 'अनिवर्चनीयता-सर्वस्व' पढ़ते हैं तो उनके प्रतिभा-पाण्डित्यको अलौकिक ही स्वीकार करना पड़ता है।

स्वामीश्री भागवतानन्दजी—

काशी देवी-मठके व्याकरणाचार्य स्वामीश्री रामानन्दजी महाराजने पत्र लिखकर मुझे कनखल, श्रीहरि भारती विद्यालयमें भेज दिया। वहीं स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज रहा करते थे। कुछ परिचय तो काशीका था, वहाँ जानेपर उनका स्नेह वात्सल्य प्राप्त हुआ। वे प्रतिदिन पूर्वाह्नमें श्रीशांकरभाष्य पढ़ाते थे। अपराह्नमें मैं उनके विद्यालयमें ही गीता-भाष्य, महावाक्यरत्नावली आदि पढ़ा देता था। हमसे पढ़नेवालोंमें मुख्य थे—पं० आत्मारामजी वैद्य, श्रीहरिनन्दन शास्त्री, डा० ताराचन्द, श्रीजीवानन्द आदि। प्राय: प्रतिवर्ष मैं गर्मीके दिनोंमें वहाँ जाया करता। स्वामीजी महाराज शास्त्रज्ञानके अगाध सागर थे। न्याय, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त साहित्य आदि अनेक विषयोंके तो वे आचार्य थे ही, वेद, ब्राह्मण, आरण्यकोंके भी विशिष्ट विद्वान् थे।

कनखलमें रहते समय मैं स्वामीश्री भागवतानन्दजी महाराजके सामने कभी-कभी धृष्टता भी कर बैठता था। एक दिन मैंने कहा—'कनखल शब्दकी क्या व्युत्पत्ति है?' 'को न खलो यत्र' अर्थात् जहाँ कोई खल दुष्ट नहीं है, यही न!' वे अविलम्ब बोले—'नहीं, ऐसा नहीं। 'कोपि न खलो यत्र' अर्थात् जहाँ कोई खल नहीं है।' वे सभी शास्त्रोंमें व्युत्पन्न तो थे ही, प्रत्युत्पन्न मति भी थे।

मेरे वहाँ आते जाते रहते समय ही बिहारसे कोई साहित्याचार्य आये थे। पक्के बने घाटपर बैठकर काव्य-चर्चा कर रहे थे। घाटपर लिखा हुआ था, 'गंगा कनखले पुण्या'। मैंने पण्डितजीसे पूछा—'इस वाक्यका क्या अर्थ है? कनखले एव पुण्या अथवा कनखलेऽपि पुण्या अर्थात् गंगा कनखलमें ही पुण्य है अथवा कनखलमें भी पुण्य है। दोनों अर्थ योग्य नहीं है; क्योंकि पहले अर्थसे तो यह ध्वनि निकलेगी प्रयागादिमें पुण्य नहीं है। दूसरे अर्थसे यह ध्वनि निकलेगी कि जैसे सर्वत्र पुण्य है वैसे सामान्य रूपसे कनखलमें भी पुण्य है।' पण्डितजीको मेरे प्रश्नका उत्तर नहीं सूझा। उतनेमें ही स्वामीश्री भागवतानन्दजी आ गये। उन्होंने बताया 'पुण्या' का अर्थ है 'पुण्यतरा'। गंगा सर्वत्र पुण्य है कनखलमें अत्यन्त पुण्य है।

एक बार मैंने स्वामीजीसे पूछा, 'कनखलमें कोई अच्छा सन्त रहता है तो आप बताइये! मैं उनके पास सत्संगके लिए जाया करूँगा। निश्चय ही मेरा यह प्रश्न धृष्टतापूर्ण एवं अनुचित था; क्योंकि क्या वे अच्छे सन्त नहीं थे। परन्तु स्वामीजीने हँसकर कहा कि तुम्हारा प्रश्न किसी 'विरक्त' के लिए है न! भिक्षु शंकरानन्दजी बहुत अच्छे हैं, उनके पास जाया करो। तब तक भिक्षु शंकरानन्द एवं संन्यासियोंमें बहुत ही सद्भाव था।'

कल्याण-परिवारमें रहते समय मैंने जब-जब स्वामीजीसे लेख देनेकी प्रार्थना की, उन्होंने कृपा करके बड़े परिश्रमसे पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर लेख लिखे। यद्यपि मैंने उनसे पढ़ा था, फिर भी वे मेरा बहुत आदर करते थे। संन्यासी होनेके बाद मैं कनखलमें तथा अहमदाबादमें उनके पास जाया करता था। वे विद्याके तो मूर्तिरूप थे ही, उनके विचारोंमें उदारता भी बहुत थी। सब सम्प्रदायके विद्वानोंका आदर करते थे। एक बार मेरे सामने ही काशीके पण्डित बालबोध मिश्र, जो अनेक शास्त्रोंके आचार्य थे, की पूजा की। वे उनके विद्यागुरु थे। श्रीभगवदाचार्यजी महाराजके शताब्दी-महोत्सवमें उन्होंने मुक्त कण्ठसे उनके पाण्डित्यकी प्रशंसा करते हुए कहा—'श्रीभगवदाचार्यजीने ब्रह्मसूत्रपर जो भाष्य लिखा है, मन्त्र संहिताके अनुसार अधिकरण-रचना करके यह कार्य कभी किसी विद्वान्ने नहीं किया था। इस कार्यके लिए कितने पाण्डित्य एवं अनुसन्धानकी आवश्यकाता होती है, इसको कोई विद्वान् ही समझ सकता है। इस प्रसंगमें उन्होंने अत्यन्त वात्सल्यके साथ मेरा भी

स्मरण किया था। परन्तु, इन्होंने मुझसे पढ़ा है यह बात किसीके सामने नहीं कही।

स्वामी भागवतानन्दजी महाराजपर महात्मा गाँधीके विचारोंका पूरा प्रभाव था। वे आजीवन खादी पहनते रहे। अस्पृश्यता आदिके विचारमें भी बहुत कट्टर नहीं थे। मन्दिर आदिमें अंग्रेजोंके समान ही अन्त्यजोंके प्रवेशका अधिकार मानते थे। स्त्रियोंको भी वेदान्त पढ़ाते थे। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे लोकतंत्रका पूर्णरूपसे समर्थन करते थे। उनका कहना था कि लौकिक-न्यायमें पूर्व जन्म या उत्तर जन्मका विचार नहीं करना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके अनुसार शासन-पद्धति बनायी जाय तो गृह-युद्ध होकर ही रहेगा। अतः सब लोगोंको अपने-अपने सम्प्रदायकी रीतिसे स्वधर्मका पालन तो करना ही चाहिए। परन्तु, प्रशासनपर उसका प्रभाव नहीं होना चाहिए। प्रशासन सबके लिए समान होना चाहिए। सबलोग सावधान रहकर अपने-अपने लक्ष्यके प्रति साधन एवं सुविधाका लाभ उठावें एवं उन्नित करें। परमात्मा सबका आत्मा है, सबके लिए सुलभ है। जन्मसे कोई भी परमात्माकी प्राप्तिके अयोग्य नहीं होता। उनका स्पष्ट विचार था कि साम्प्रदायिक राज्य, सार्वजनिक हितमें नहीं हो सकता और न तो स्थायी हो सकता है। उनका पक्षपात मानवताके प्रति था। वे चन्दन, तिलक, मालाकी अपेक्षा सामान्य धर्मको महत्त्व देते थे। जीवनमें सत्य, अहिंसा आदि सद्गुण रहें; धृति, क्षमा आदि वृत्तियाँ रहें। मनुष्य अपने हृदयमें सबके प्रति सद्भाव रखे, चरित्र पवित्र रखे, इसपर बहुत बल देते थे। मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, गंगास्नान, व्रत सबकी शिक्षा देते थे। मुस्कराकर बोलते थे। आये हुए अनजान व्यक्तिके साथ भी अपनी ओरसे वार्तालाप आरम्भ कर देते थे। आदरसे पास बैठाते थे। इतनी सरलतासे शास्त्रके गम्भीर रहस्य बताते थे जैसे कोई हाथमें आँवला लेकर दिखा रहा हो। उनके हृदयमें सबके प्रति आत्मीयता थी। वे संन्यासी-समाजमें एक देदीप्यमान रत्नके समान जगमगाते रहे। मेरा उनके साथ मिलना-जुलना लगभग पचास वर्षों तक होता रहा। कभी उनके स्नेह-वात्सल्यमें कोई अन्तर देखनेमें नहीं आया।

श्रुतियोंमें विद्वान् शब्द ब्रह्मवित् पुरुषोंके लिए प्रयुक्त हुआ है—'त्वमेव विद्वान् अमृत इव भवति' इत्यादि। विद्वानोंके स्मरणसे हृदय पवित्र होता है।

उनकी विद्या तथा सदाचार दोनों ही जीवनको प्रभावित करते हैं। ऐसा विचार है कि जिन दूसरे विद्वानोंके सम्पर्कमें मैं आया उनका पुनः विस्तारसे स्मरण करूँगा।

श्रीमंगलगिरिजी—

श्रीहरि भारती विद्यालयसे लगा हुआ श्रीराम निवास आश्रम था। उसमें एक श्रीमंगल गिरि नामके वयोवृद्ध एवं विद्यावृद्ध सत्पुरुष रहते थे। सुना था कि बड़े-बड़े मण्डलेश्वरोंने उनसे न्यायशास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है। समष्टि-भण्डारोंके अवसरपर मैंने देखा था, सभी मण्डलेश्वर उनका आदर करते थे और अपने समान आसनपर ही बैठाते थे। उनके यहाँ प्रतिदिन न्यायशास्त्रोंके एक-दो पाठ चला ही करते थे। मैं भी जाकर सुनता। वे इतने स्पष्टवादी थे और डाँटकर बात करते थे कि उनसे बातचीत करनेका मेरा कभी साहस नहीं हुआ। उनकी रहनी ऐसी थी खड़कन्त, कि उनके पास सेवक, सेविका भी नहीं रहा करते थे। वे अत्यन्त वृद्धावस्थामें भी अपने शारीरिक कार्य स्वयं कर लिया करते थे। अध्यापन-कलामें उनका लोहा सब मानते थे और वे बड़े-बड़े ग्रन्थोंको सरल-सरल रीतिसे हृदयंगम करा दिया करते थे। वे प्रायः कनखल (हरिद्वार)में रहते थे।

श्रीप्रभास भिक्षुजी—

श्रीमंगलगिरिजीके आश्रमके पास ही श्रीबस्तीरामजीकी पाठशाला थी। उसमें व्याकरणादि शास्त्रोंका विधिपूर्वक पठन-पाठन होता था। वहीं श्रीप्रभास भिक्षुजी रहा करते थे। वे शास्त्रोंके तो महान् पण्डित थे ही, यज्ञ-यागादि एवं कर्मकाण्डमें भी अत्यन्त निपुण थे। उनका आचार सर्वथा शास्त्रानुसार होता था और शास्त्रोक्त धर्मका पालन करनेके लिए वे तप, उपवास भी करते थे। अनेक सेठ-साहूकार उनके भक्त भी थे परन्तु, वे संग्रह-परिग्रह नहीं करते थे। मैं अनध्यायके दिनोंमें उनके पास जाता तो वे वेदान्त-सिद्धान्तकी तो नहीं, परन्तु कर्मकाण्डकी गूढ़ बातें बताया करते। अब भी उनका स्मरण आता रहता है; क्योंकि कर्मकाण्डके वे रहस्य समझानेवाले अब दुर्लभ हो गये हैं।

महामण्डलेश्वर श्रीस्वरूपानन्दजी —

हरिद्वारसे दक्ष प्रजापति जानेवाली मुख्य सड़कपर हरिहराश्रम नामक आश्रम है। उसमें एक रुद्राक्षका वृक्ष अब भी है। उन दिनों वह आश्रम जगमगाता हुआ था। उसमें वयोवृद्ध एवं विद्वान् महामण्डलेश्वर श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज रहा करते थे। सभी विद्वान् महामण्डलेश्वर उनका आदर करते थे और वे शास्त्र-सम्बन्धी गम्भीर-से-गम्भीर प्रश्नोंके उत्तर देते थे। उनके यहाँ वेदान्तके किसी-न-किसी ग्रन्थका अध्ययन-अध्यापन चलता ही रहता था। कोई भी शास्त्रीय शंका हो तो उसका समाधान करनेके लिए पण्डितगण उनके पास आया करते थे। मैं कभी-कभी उनकी सेवामें जाया करता था। उनके मुखसे मैंने गीताके तेरहवें अध्यायके शांकरभाष्यका श्रवण किया था।

❋

पावन प्रसंग

परम पूज्य महाराजश्री के जीवन के
कुछ आध्यात्मिक संस्मरण उन्हीं के शब्दों में।

पं० श्री शान्तनु बिहारी द्विवेदी

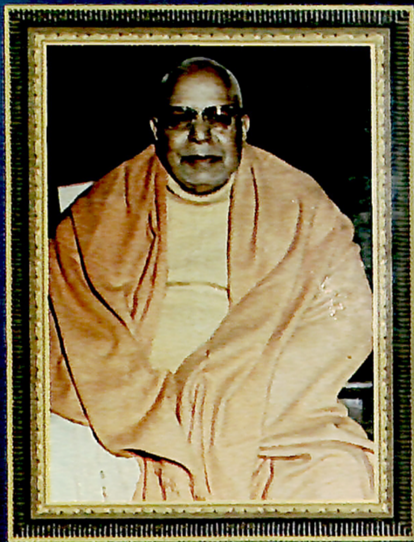

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

* मृत्युका निश्चय हो चुका है! *

क्या मृत्यु टाली जा सकी?
कब मृत्यु गयी या गया मृत्युका भय?
कैसे सम्भव हुई मृत्यु पर जय?
क्यों जीवन हुआ "अखण्ड आनन्द"मय?
क्या होता है संत पुरुषोंके संगसे?
कहीं भगवान् भी मिलते हैं सत्संग से?
भगवद् प्राप्ति के बाद जीवन चलता है किस ढंगसे?
आइये! यह सब जानें *पावन प्रसंग* से ।

आनन्द कानन प्रेस
फोन 2392337